आर्यावर्त्त-इतिवृत्त

डॉ. (श्रीमती) प्रेरणा माथुर



आर्यावर्त्त-इतिवृत्त

डॉ. प्रेरणा माथुर

निर्मल पब्लिकेशन्स्
दिल्ली-94

ISBN	:	81-86400-136-2
सर्वाधिकार	:	लेखक
प्रकाशक	:	**निर्मल पब्लिकेशन्स्** ए-139 गली नं. 3, कबीर नगर शाहदरा, दिल्ली-110094
संस्करण	:	2011
मूल्य	:	350.00
शब्दांकन	:	क्वालिटी प्रिन्टर्स
मुद्रक	:	*शिवानी आर्ट प्रेस, वेस्ट गोरख पार्क* शाहदरा, दिल्ली-110032

भूमिका

कालज्ञान-संबंधीय गाथाओंको इतिवृत्त या इतिहास कहते हैं। इतिवृत्त अथवा इतिहास लिखनेकी शैली वर्तमान काल में कुछ और है और भारतद्वीपके प्राचीन काल में कुछ और थी। इस समय इतिहास लिखनेकी शैली यह है कि, काल के छोटे-छोटे विभागों और पृथ्वीके छोटे-छोटे विभागोंतक की घटनावाली जहाँतक संभव हो और पक्षपात रहित तथा पक्षपात-सहित जितना एकत्र होना संभव हो, उतना ग्रंथोंमें प्रकाशित कर दिया जाता है। प्राचीन भारतद्वीपवासियोंकी इतिहास लिखने की शैली कुछ विचित्र ही थी।

अलौकिक और प्राचीन भारतद्वीप में अर्थात् महाभारत के महायुद्ध के पूर्वकाल के भारतद्वीप में इतिवृत्तसमूह पुराण और इतिहास के नाम से धर्मग्रंथ रूप में प्रकाशित करने की रीति थी। उस समय के इतिवृत्तों में काल के छोटे-छोटे विभागों पर ध्यान दिया जाता था, न देश के छोटे-छोटे विभागों पर ध्यान दिया जाता था। क्योंकि प्राचीन भारतद्वीप वासी आर्यगण अनादि-अनंत काल और अनादि-अनंत देश के विराट् रूप को अपने ज्ञाननेत्र के सामने सदा रखकर अपने नित्य के कर्म्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड के संकल्प में उसकी पर्यालोचना किया करते थे। इस प्रकार के संकल्प करने की शैली भारतद्वीप के सब प्रान्तों की धार्मिक सनातनधर्मी जनता में अब भी प्रचलित है। इसमें विलक्षणता यह है कि कालज्ञान तो सब प्रान्तों में समान रूप से ही होता है; किन्तु विशेष देश ज्ञान का ठीक-ठीक पता और किस देश को पहिले क्या कहते थे, उसका पता उन प्रान्तों के संकल्प से लग जाता है। इस कारण महान् काल और विराट् देश की दृष्टि को आकुंचित करना वे अप्रयोजनीय और अहितकारी समझते थे। उस समय के पुराणों और इतिहास में वे ही गाथाएँ प्रकाशित करने की शैली थी, जो देवलोक और मनुष्य लोक की मिली-जुली गाथाएँ हों और जिन गाथाओं से लोकशिक्षत होकर मनुष्य जाति की आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक त्रिविध उन्नति हो सके। यही कारण है कि, आजकल के ऐतिहासिकगण साधारण रीति से प्राचीन भारतद्वीपवासियों के ऐतिहासिक तत्त्वों के हृदयङ्गम करने में समर्थ नहीं होते।

प्राचीन वेद और शास्त्रों की गाथाओं के समझने में एक बड़ा अन्तर यह है कि, वेद और वेदसम्मत पुराणादि शास्त्रों की भाषा-शैली ओर भावशैली का रहस्य साधारण रीति से दुर्ज्ञेय होता है। वेद और वेदसम्मत शास्त्रों में भाषा के ढंग तीन होते हैं। यथा—1. समाधिभाषा, 2. लौकिक भाषा और 3. परकीय भाषा। इसी तरह वेद और वेदसम्मत शास्त्रों की वर्णनशैली भी तीन भावों से गुम्फित रहती है। यथाः—1. अध्यात्म भाव, 2. अधिदैव भाव और 3. अधिभूत भाव। समाधि भाषा उसको कहते हैं, जिसमें लौकिक विषय का वर्णन न हो, किन्तु समाधिगम्य विषयों का वर्णन हो। यथाः—ईश्वरतत्त्व, प्रकृतितत्त्व, कर्मतत्त्व, परलोकतत्त्व इत्यादि; जो केवल समाधि द्वारा जाने जाते हैं। समाधिगम्य विषय जिस भाषा के द्वारा लौकिक रीति पर वर्णित हो, उसको लौकिक भाषा कहते हैं। यथाः—विष्णुभागवत की रासलीला, देवीभागतव की रासलीला, दोनों का संयुक्त रहस्य, शिव-पार्वती के विवाह का रहस्य, शिवलिंग का रहस्य, भगवान् ब्रह्मा के कन्याहरण का रहस्य इत्यादि। परकीय भाषा उसको कहते हैं, जिसके द्वारा कल्प-कल्पान्तर की, युगयुगान्तर की और मन्वंतर-मन्वंतरांतर की देवलोक की, मनुष्यलोक की अथवा उभय संयुक्त चरित्रावली, धर्मस्थापन, धार्मिक चरित्रगठन और समाधिगम्य भावों के समर्थन तथा पुष्टि के निमित्त प्रकाशित करना उचित समझा गया हो। यथाः—सावित्रीसत्यवान्-गाथा, हरिश्चन्द्र-गाथा, मार्कण्डेय-गाथा, श्रीराम-गाथा, श्रीकृष्ण-गाथा इत्यादि।

इसी ढंग पर त्रिविध भावों की विचित्रता भी वेद और शास्त्र में अलौकिक है। त्रिविध भावों का मूल ब्रह्म में है। यथाः—ब्रह्म सत् है, चित् है और आनंदरूप है। सत् अधिभूत, आनंद अधिदैव और चित् अध्यात्म भाव का प्रकाशक है। इसी कारण परमात्मा सत्‌रूप में विराट्पुरुष, आनंदरूप में ईश्वरस्वरूप और चित्‌रूप में ब्रह्मस्वरूप हैं और अपने ज्ञानी भक्तों को विराट्पुरुष, ईश्वर और ब्रह्मरूप में दर्शन देकर कृतकृत्य करते हैं। अतः वेद और वेदसम्मत शास्त्रों का सिद्धांत यह है कि, जब ये तीनों भाव कारण ब्रह्म में है, तो ये ही तीनों भाव कार्यब्रह्म के प्रत्येक स्तर में होंगे। पूज्यपाद महर्षियों की ज्ञानदृष्टि में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसके अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत तीन रूप न हों। उदाहरणों से समझने योग्य है कि, रूप-तन्मात्रा नेत्र का अध्यात्म है। नेत्र के अधिदैव सूर्यदेव हैं और नेत्र का, अधिभूत नेत्रगोलक है, जो नष्ट भी हो जाता है। इसी सर्व-व्यापक त्रिभाव की सत्ता के अनुसार वेद शास्त्रों की भाषाओं में भी त्रिभाव गुम्फित रहते हैं। उदाहरण रूप से समझ सकते हैं कि, भगवान् ब्रह्मा चतुर्मुख होकर सब जीवों के मन, बुद्धि चित्त और अहंकार रूपी अंतःकरण-चतुष्टाय में विराजते हैं, यह उनके अध्यात्म भाव का वर्णन है। उनके कन्याहरण आदि का रहस्य इसी भाव से संबंध रखता है। वे जब ब्रह्म स्वर्ग में विराजकर ब्रह्माण्ड की सृष्टि क्रिया सम्पादित करते हैं, तब उनकी गाथा उनके

अधिदैवभाव से पूर्ण है और जब वे स्थूलमूर्ति धारण करके भक्तों को दर्शन देते और उनकी इच्छापूर्ति करते हैं, तब उनकी गाथा अधिभूत भाव से संबंधयुक्त हो जाती है। तात्पर्य यह है कि, वेद और पुराण आदि शास्त्रों का रहस्य समझने के लिए तीनों भाषाओं का रहस्य और तीनों भावों का रहस्य ऐसा हृदयंगम कर लेना उचित है, जिससे जहाँ-जहाँ ये विषय आवें, वहीं इनका स्वरूप समझ में आ जाये। वेद के सब मंत्रों का और वेदसम्मत शास्त्रों की समाधि भाषा के सब वचनों का त्रिविध अर्थ होना तो वेद से सिद्ध है। ये सब बातें लक्ष्य में रखकर वेद और शास्त्रों का अध्ययन किया जायेगा, तभी वेद और शास्त्रों के समझने में पंडितों के लिये ज्ञान का द्वार खुला रह सकता है। वेद और वेदसम्मत शास्त्रों के प्रत्येक स्थल में इन छहों वर्णन शैलियों का विचार रखकर, कहाँ क्या है, यह समझकर विषय के समझने का प्रयत्न करने से सफलता होती है, अनयथा भ्रम में पड़ना निश्चित है। यही कारण है कि, वर्तमान समय के ऐतिहासिक गण इन बातों को न समझकर वेद और वेदसम्मत शास्त्रों में लौकिक ढंग पर ऐतिहासिक तत्त्वों की खोज करते हुए भ्रम में पतित हुआ करते हैं। जिससे हित न होकर अहित ही हो जाता है।

पिछली शताब्दी के शेष भाग में आबूगिरि के वन के वशिष्ठाश्रम में वर्तमान श्रीभारतधर्ममहामण्डल रूपी महायज्ञ का बीजारोपण हुआ था। उससे वर्तमान भारतधर्म-महामण्डल का दिव्य देह प्रकट हुआ है। उस देह का मेरुदण्ड रूपी उसका शास्त्र प्रकाशन विभाग है। उस स्वजातीय शास्त्र प्रकाशन-विभाग से सबसे प्रथम वैदिक दर्शन शास्त्रों का उद्धार किया गया। वैदिक दर्शन सिद्धांत सब मिलाकर सात हैं। यथा :—न्याय और वैशेषिक ये दो पदार्थवाद के दर्शन, योग और सांख्य—ये दो सांख्यप्रवचन के दर्शन और वेद के कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के अनुसार पूर्वमीमांसा, मध्यमीमांसा और उत्तरमीमांसा—ये तीन मीमांसा दर्शन। इस प्रकार सात वैदिक दर्शनों के द्वारा सप्त ज्ञानभूमि प्रदर्शक वैदिक दर्शनों की सात पौढ़ियाँ ज्ञानियों की अंर्तदृष्टि की प्रकाशक हैं। इन सातों में से पूर्वमीमांसा और मध्यमीमांसा दर्शन असम्पूर्ण हो गये थे और उनके सब सूत्र उपलब्ध नहीं होते थे। श्रीमहामण्डल के इस कार्य-विभाग के द्वारा दोनों के सब सूत्र उपलब्ध हुए हैं और तीनों मीमांसाओं के वर्तमान देशकालपात्रोपयोगी भाष्य प्रस्तुत हुए हैं। इसके अतिरिक्त अन्य चार दर्शनों पर भी देशकालपात्रोपयोगी भाष्य बने हैं और बन रहे हैं। इसी प्रकार वेद के उपनिषदविभाग के कई एक भाष्यग्रंथ अध्यात्म-विद्या को प्रकाशित करने के निमित्त निर्मित हुए हैं। उपासनाकाण्ड के शरीररूपी योगशास्त्र का औपपत्तिक अंश महर्षि प्रतञ्जलिप्रणीत योगदर्शन में यद्यपि मिलता था, परंतु उसके क्रिया सिद्धांश की दशा बहुत शोचनीय थी। योगशास्त्र का क्रिया सिद्धांश चार भागों में विभक्त है। यथा :—मंत्र, योग, हठयोग, लययोग और राजयोग। यद्यपि

उपनिषदों, पुराणों, तंत्रों और अन्यान्य शास्त्रों में इन चारों सिद्धांतों का पता लगता है, तथापि इन चारों के अलग-अलग संहिता ग्रंथ अब तक उपलब्ध नहीं होते थे। अतः इन चारों योगों के क्रिया सिद्धांश पूर्ण रूप में अलग-अलग प्राप्त हो सकें और सब साधनों का क्रमवार पता लग सके, इसके निमित्त चार लोगों के चार संहिता ग्रंथ बहुत खोज के साथ हिंदी अनुवाद सहित प्रकाशित हुए हैं। इसके अतिरिक्त वैदिक, तांत्रिक और मिश्र इन तीनों कर्मकाण्ड के सम्प्रदायों के यज्ञ-संबंधी पद्धति ग्रंथ बहुत खोज के साथ संगृहीत हुए हैं, जो सुभीते के अनुसार प्रकाशित किये जायेंगे। सगुण पञ्चोपासना के उपासकों का पारस्परिक अंज्ञानजनक विरोध दूर करने के निमित्त श्रीमहामण्डल के इस विभाग के द्वारा शम्भुगीता, विष्णुगीता, धीरगीता, सूर्यगीता और शक्ति गीतारूपी पञ्चगीताओं का अनुसंधान होकर वे गीताग्रंथ हिंदी अनुवाद सहित प्रकाशित हुए हैं। उसी प्रकार शिष्यों के उपकार के लिये गुरु गीता और संन्यासियों के कल्याणार्थ संन्यासगीता भी खोज से निकालकर प्रकाशित की गयी है। ये सब ग्रंथ हिंदी अनुवाद सहित प्रकाशित होकर हिंदी भाषा की पुष्टि कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त संन्यासाश्रम के कल्याणार्थ कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस इन चारों अधिकारों की साधन पद्धति के ग्रंथ और उपासकों की साध न पद्धति के ग्रंथ खोजकर निकाले गये हैं। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, श्रीसप्तशतीगीता और रामगीता आदि गीताओं के तथा मार्कण्डेय पुराण, देवीभागवत आदि पुराणों के ऐसे भाष्यग्रंथ प्रकाशित हुए और हो रहे हैं कि, जैसे किसी भाषा में प्रकाशित नहीं हुए थे। भारत में धार्मिक शिक्षा विस्तार के निर्मित आबाल वृद्ध स्त्री-पुरुष, और पाठशालाओं की सब श्रेणियों के लिए पाठोपयोगी 50 से अधिक ग्रंथ बने हैं और क्रमशः प्रकाशित होते जाते हैं। इसके अतिक्ति लोकशिक्षार्थ अनेक टीकाग्रंथ और अनेक संग्रहग्रंथ, यथा :—कहावतरत्नाकर आदि प्रकाशित हुए हैं। सनातन धर्म का एक महाग्रंथ, जो हजारों पृष्ठों और वृहत् खण्डों में धर्मकल्पद्रुम नाम से प्रकाशित हुआ है, वह सनातन धर्म का 'इनसाइक्लोपीडिया' (महाकोष) बनकर प्रकाशित हुआ है और हिंदी भाषा की सर्वाहपूर्तिक निर्मित हिंदीभाषा का एक महाकोषग्रंथ (इनसाइकोपीडिया) प्रकाशित करने का आयोजन हो रहा है; जिसमें शब्दों की पूर्णता और तुलनात्मक भावों की पूर्णता रहेगी। क्योंकि बिना भाषा की पूर्णता के राष्ट्र की पूर्णता नहीं होती, न उसका यथार्थ संघटन ही हो सकता है और बिना स्वजातीय शब्दों का राष्ट्रीय महाकोष बने भाषा की पूर्णता नहीं हो सकती। ज्ञान भण्डार की पूर्ति का इतना कार्य अग्रसर होने पर श्रीभारतधर्म महामण्डल के पूज्य संचालक श्रीस्वामी जी महाराज ने इस इतिवृत्त के प्रकाशित करने की आवश्यकता समझी है।

इस समय के बहिर्दृष्टिसम्पन्न पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से प्रभावित विद्वानों तक

के विचार भी सूक्ष्म दैवीराज्य से हटकर एक बार ही स्थूल दृश्यमान जगत् की ओर आकृष्ट हो गये हैं। सूक्ष्म, विशाल तथा महान् शक्तिशाली दैवी राज्य के अस्तित्व को सभी भूल गये हैं और उस पर ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं समझते। इसका फल यह हुआ है कि सभी बातों को, चाहे वे लौकिक हों या अलौकिक, स्थूल दृष्टि से ही देखने का उन्हें अभ्यास हो गया है। इस कुसङ्ग और कुविचार के द्वारा उन्नत विद्या सम्पन्न और विचारशील पण्डितगण भी सूक्ष्म दैवी राज्य को कल्पनाप्रसूत मानने में नहीं हिचकते। जो जगत् की आदिगुरु भारतद्वीप की आर्य जाति सब शास्त्रों, सब विद्याओं और मनुष्य की सभ्यता के सब अङ्गों की आविष्कर्ता थी, उसको ऐतिहासिक तत्त्वविहीन और मूर्ख कहते हुए भी वे लज्जित नहीं होते और ऐसी आदि गुरु मनुष्यजाति के वेद समूहों को लौकिक ग्रंथ समझकर उनकी रचना का कालनिर्णय करने में उद्यत होकर बालक के चंद्रमा को पकड़ने की चेष्टा के समान चेष्टा किया करते हैं। अन्तर्जगत् प्रकाशक चाहे दर्शनशास्त्र समूह हो अथवा अंतर्जगत् से संबंध स्थापन कराने वाले मंत्र, तंत्र, योग आदि हों, इस समय के ज्ञात साइंस को आधार मानकर और अपने को सर्वज्ञ मानकर उनकी हंसी उड़ाया करते हैं। प्राचीन आर्यों का लक्ष्य आत्मा की ओर था और नवीन सभ्यता के समय मनुष्यों का सम्पूर्ण लक्ष्य इन्द्रियों की ओर ही लक्ष्य देने वालों के गुरु मानकर प्राचीन सभ्यता, अध्यात्म लक्ष्य और पूर्वजनों की ज्ञानगरिमा पर पक्षाघात करके वे स्वंय दिन पर दिन पतित होकर जगत् को भी अध पतित करते जाते हैं। सभ्य और शिक्षित समाज की यह दुःख जनक दशा देखकर उनके सम्मार्ग प्रदर्शन के लिये इस ग्रंथ के लिखने की आवश्यकता समझी गयी है। प्रचीन आर्यगणा जगद्गुरुत्व लाभ करके ऐतिहासिक तत्त्व से अनभिज्ञ नहीं थे तथा वे सृष्टिप्रवाह को किस प्रकार मानकर किस श्रेणी के ऐतिहासिक तत्त्व को प्रकाशित करते थे और लोकशिक्षा में उसका कैसा उपयोग हुआ करता था और प्राचीन समय का ऐतिहासिक तत्त्व किन-किन भावों से गुम्फित था, उसका दिग्दर्शन इस ग्रंथ के इस प्रथम खण्ड में किया गया है।

यदि यह निश्चित है कि, कालज्ञान संबंधीय शास्त्र ही इतिहास है और यदि यह निश्चित है कि, काल और देश का अन्योन्याश्रय संबंध है, तो हम देश में रहते हैं, उसका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना सबसे प्रथम आवश्यक है। अपने ब्राह्माण्ड और अपने ब्रह्माण्ड के साथ अपने भारत वर्ष का परस्पर क्या संबंध है, उसका अनुशीलन करना सबसे प्रथम आवश्यक होने के कारण ब्रह्माण्ड और भारतवर्ष नामक पहिले ही अध्याय में उसकी चर्चा की गयी है।

यदि शास्त्रानुसंधान द्वारा यह निश्चित होता है कि, भारतवर्ष नाम से हमारा सब मृत्युलोक ही समझा जाता है, जिसको दुनिया कहते हैं और उस मृत्युलोक

का प्रधान अङ्ग भारतद्वीप है, जिसको हिंदुस्थान कहते हैं, तो समग्र ब्रह्माण्ड के मानचित्र में उसका स्थान कहाँ हैं, और समग्र ब्रह्माण्ड की आधिभौतिक स्थिति कैसी है, इन सब अति आवश्यकीय विषयों पर वर्तमान समय के विपथगामी विद्वानों और अनुसंधानकर्ता की दृष्टि आकृष्ट करने के अभिप्राय से ब्रह्माण्ड का मानचित्र नामक दूसरे अध्याय की रचना करने की आवश्यकता हुई और उसके निमित्त से ब्रह्माण्ड का मानचित्र नामक चित्र भी इस पुस्तक के संबंध में अनेक खोज के बनाया गया है, जिसका तिरङ्गा चित्र इस ग्रंथ के परिशिष्ट रूप में स्वतंत्र रूप में प्रकाशित होगा। उसके द्वारा चतुर्दश भुवनों का परस्पर संबंध, उसमें बिलस्वर्ग, भौमस्वर्ग, महेन्द्रस्वर्ग, प्राजापत्यस्वर्ग और ब्रह्मस्वर्ग की अलग-अलग स्थिति, इन सप्त लोकों में से भूलोक का विस्तार का स्परूप, उसमें सप्तद्वीप और सप्तसमुद्र कैसे हैं, इसका स्वरूप, इन सातों द्वीपों में से जम्बुद्वीप का स्थान और उसमें नौ वर्ष, पितृलोक, नरकलोक और प्रेतलोक का स्थान उसमें मृत्युलोक, जिसको भारतवर्ष कहते हैं, उसकी स्थिति और उसमें भारतद्वीप स्थिति का दिग्दर्शन कराया गया है और साथ-ही-साथ इस मानचित्र में यह भी दिखाया गया है कि, भूः और भुवर्लोकरूपी भौमस्वर्ग, जिसके अन्तर्गत सारे ग्रह, नक्षत्र और राशिचक्र आदि हैं, उसमें दिव्यपर्वत सुमेरु कैसे सबको धारण किये हुए है और सुमेरु को आश्रय करके ध्रुवलोक, सप्तर्षिमण्डल, सूर्य शशिचक्र और सब ग्रहगण कैसे स्थित हैं, उसका यथा संभव दिग्दर्शन कराया गया है। इसी चित्र में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्ररूपी त्रिमूर्ति, जो ब्रह्माण्ड के ईश्वर हैं और यमराज, देवराज, कालराज और असुरराज इन चारों बड़े-बड़े देवपदधारियों की ओर भी उनके चित्र देकर लक्ष्य आकृष्ट कराया गया है।

प्राचीन भारतद्वीप वासियों को आर्यसभयता और वर्तमान समय के प्राश्चात्य जातियों की सभ्यता में कई बड़े अंतर हैं। प्राचीन सभ्यता आत्मा की ओर लक्ष्य कराती है और नवीन सभ्यता का एकमात्र लक्ष्य इन्द्रियसेवा है। प्राचीन सभ्यता में दैवी सूक्ष्मराज्य के परलोक को ही मुख्य माना गया था और नयी सभ्यता में इसी लोक को सब कुछ मान लिया है। इस तुलनात्मक दिग्दर्शन का तात्पर्य यह है, प्राचीन सभ्यता और प्राचीन शिक्षाप्रणाली से सत्त्वगुण की अभिवृद्धि होकर क्रमशः अहंकार की हानि हुआ करती थी और नवीन सभ्यता का प्रभाव और शिक्षाप्रणाली मनुष्य को साधारणतया अहंकार की मूर्ति बना दिया करती है। इस कारण वर्तमान सभ्यता के पाश्चात्य गुरुगणों के मूल्यवान् वचनावली के संग्रह के द्वारा ऐसा प्रयत्न करने की आवश्यकता समझी गयी कि, उनके वर्तमान पाश्चात्य गुरु मंडल के सिद्धांत द्वारा भारतीय द्वीपवासियों का जगद्‌गुरुत्व सिद्ध हो सके। इससे सद्विचार द्वारा उनके अहंकार की समता हो और प्राचीन आर्यों पर श्रद्धा होकर प्राचीन ऐतिहासिक तत्त्व

के द्वारा कालज्ञान का रहस्य प्राप्त करने में उन्हें सुभीता हो, इसी लक्ष्य की सिद्धि के हेतु जगद्गुरु भारत द्वीप नामक तृतीय अध्याय की रचना की गयी है।

इतिहास के साथ काल का अन्योन्याश्रय संबंध है। विशेषतः वर्तमान समय के लौकिक इतिहास लिखने की शैली के साथ अपनी छोटी दृष्टि के अनुसार कालज्ञान कराना परमावश्यकीय माना गया है। इस कारण प्राचीन भारत द्वीप के जगद्गुरु आर्यगण कालगणना में कैसे सर्वज्ञ थे और कैसी दूरदर्शिता रखते थे और वे अपनी इतिहास रचना में कैसे काल के स्वरूप को अपने नेत्रों के सामने रखते थे, इसकी पर्यालोचना करने के लिये चतुर्थ अध्याय की सृष्टि की गयी है। काल की पर्यालोचना करते समय स्वतः जगत की सृष्टि की ओर दृष्टि जाती है। इस कारण ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड की रचना के अंगों का काल निर्णय करते समय सृष्टि प्रकरण का रहस्य भी यथासंभव प्रकाशित करने की आवश्यकता समझी गयी। वस्तुतः यदि काल का महान् स्वरूप लक्ष्य में आवे, तो उस काल के साथ संबंधयुक्त सृष्टि का यथा संभव ज्ञान होना भी आवश्यक है। अतः भारत द्वीप के प्राचीन आर्यगण अपनी योगयुक्त बुद्धि से अनुसंधान करके दोनों को कैसा समझा गये हैं, इसका स्वरूप यथासंभव प्रदर्शित करने के लिये सृष्टिप्रकरण और कालचक्र नामक यह चतुर्थ अध्याय लिखा गया है।

ब्रह्माण्ड संबंधी इतिवृत्त की पर्यालोचना करते ही अपने मृत्युलोक का प्रारंभिक इतिवृत्त जान लेने की स्वतः इच्छा होना स्वाभाविक है। इस कारण ब्रह्माण्ड की सृष्टि होते समय प्रजासृष्टि कहाँ-कहाँ कैसी-कैसी हुई और हमारे मृत्युलोकरूपी भारतवर्ष में सृष्टि कैसे हुई, मनुष्य सृष्टि का प्रथम स्थान कौन सा है, सृष्टि के प्रारंभ में मनुष्य समाज के चिरस्थायी बनाने के लिये देवताओं की ओर से क्या-क्या उपाय किये गये और इन सब गुरुत्तर विषयों की पर्यालोचना भारतद्वीपके प्राचीन आर्यगण अपने इतिहासग्रंथों में किस प्रकार कर गये हैं, इसके विदितार्थ मनुष्य सृष्टि का आदि स्थान और वर्णाश्रमबंध नामक पांचवें अध्याय की रचना की गयी है। इस अध्याय के संबंध में वर्णाश्रमबंध नामक एक औपनिषदिक रहस्यपूर्ण चित्र इस ग्रंथ में सन्निविष्ट कर दिया गया है, जो परिशिष्ट अंश में प्रकाशित होगा। इसके देखने से और उसे देखकर अध्याय का मूल अंश और टिप्पणी का अंश अध्ययन करने से, वर्णाश्रम शृङ्खलाका दैवी राज्य से गुम्फित संबंध, उसका स्वाभाविकत्व और अलौकिक रहस्य पाठकों और दर्शकों को भली-भाँति परिज्ञात होगा।

इतिहास के साथ राजानुशासन का संबंध रहने पर भी सबसे प्रथम और अतिघनिष्ट संबंध समाजानुशासन का ही है। व्यष्टि व्यक्ति परस्पर में मिलकर समष्टि समाज का गठन करते हैं। अतः चाहे देश हो, चाहे राष्ट्र हो, सबके मूल में मनुष्य की सामाजिक व्यवस्था ही अतिबलवती होती है। मनुष्य की सामाजिक शृंङ्खला ही

व्यष्टिरूपी नर-नारी तथा मनुष्य समाज और राष्ट्र आदि को अल्पायु बना सकती है और चिरायु भी बना सकती है। सुश्रृंङ्खला करके सुखी बना सकती है और अव्यवस्थिति करके दुःखी भी बना सकती है। मनुष्य को नीचे गिराकर पशुवत् बनाती अथवा उसे उन्नत कराती हुई आध्यात्मिक उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँचा सकती है। अतः मनुष्य समाज की सोशियोलॉजी अर्थात् सामाजिक संघटन पर विचार करना ऐतिहासिक गवेषण में परम आवश्यक ही है। यही जानकर जगद्गुरु प्राचीन भारतद्वीप-वासियों की सामाजिक शृंखला का विचार करने के निमित्त भारतवर्ष का सामाजिक संघटन नामक सप्तम अध्याय निर्मित हुआ है।

मुनष्य समाज की उन्नति की कसौटी उसका धर्मज्ञान और ज्ञानगरिमा है। जिस मनुष्यजाति में जितनी धर्म की उन्नति हुई हो और जिस मनुष्य जाति मे जितनी ज्ञान की उन्नति हुई हो, वह मनुष्य जाति उतनी ही उन्नत समझी जाती है। भारतद्वीप की प्राचीन आर्यजाति में धर्म का सर्वव्यापक, सर्वजीवहितकारी और पूर्णस्वरूप कैसे विकसित हुआ था और उस जगद्गुरु आर्यजाति में ज्ञानगरिमा कैसे जाज्वल्यमान हुई थी, भारत के इस इतिवृत्त में उसका दिग्दर्शन कराने के अर्थ भारतद्वीप का धर्म और उसकी ज्ञान-गरिमा नामक आठवां अध्याय रचा गया है एक चित्र दिया गया है, जो जगत् के ज्ञानेच्छू विद्वानों के लिये बहुत ही आनंदजनक होगा। यह गोलक धीशगीता के अवलम्बन से बनाया गया है। इसके ऊपर चिन्मय स्वस्वरूप ब्रह्म का स्थान और इसके नीचे अचित् जड़ प्रकृति का स्थान दिखाया गया है। नीचे के आधे गोलक में अविद्या देवी की विलासरूपी सप्त अज्ञानभूतियाँ दिखाई गई हैं और ऊपर के अर्धगोलक में विद्यादेवी की विलासरूपी सात ज्ञानभूमियाँ दिखायी गयी हैं। जिसके परिशीलन से जगत् के सर्वश्रेणी के दार्शनिकगण भारतद्वीप के प्राचीन आर्यों की ज्ञानगरिमा का चमत्कार बहुत सुगमता से अनुभव कर सकेंगे।

देश और काल के साथ राष्ट्र का और राष्ट्र के साथ राजानुशासन का परस्पर गुम्फित संबंध है। इस कारण प्राचीन भारतद्वीप की जगद्गुरु आर्यजाति किस श्रेणी के राजानुशासन की पक्षपातिनी थी और राजानुशासन के संबंध में उसका आदर्श क्या-क्या था, इसका दिग्दर्शन कराने के लिये राजनुशासन विज्ञान नामक नववाँ अध्याय लिखने की आवश्यकता हुई।

चाहे मनुष्य जाति हो, या उस जाति की कोई श्रेणी हो, चाहे राष्ट्र हो, व्यष्टिरूपी एक व्यक्ति से लेकर समष्टिरूपी मनुष्य समाज के सब अंगों उपाङ्गों के साथ विद्याशिक्षा का बड़ा घनिष्ठ संबंध है। विद्या शिक्षा पद्धति पर ही मनुष्य समाज और राष्ट्र की सब कुछ उन्नति निर्भर करती है। विद्याभ्यास ही मनुष्य जाति की आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक उन्नति, ऐहिक अभ्युदय और पारत्रिक अभ्युदय सबका मूल है। इस कारण प्राचीन भारतद्वीप-वासियों के पूज्यपाद महर्षियों की प्रदर्शित

शिक्षाप्रणाली किस श्रेणी की होती थी; उसका दिग्दर्शन कराने के अर्थ प्राचीन भारतद्वीप की शिक्षाप्रणाली नामक दसवें अध्याय की रचना की गयी है। इस अध्याय के संबंध से 'धर्मकल्पद्रुम' नामक एक और औपनिषदिक चित्र दिया गया है। जिसके देखने से और धैर्य के साथ अनुशीलन करने से बुद्धिमान् मात्र को इस अध्याय के विषयों का यह अनुभव हो जायेगा कि, पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियों द्वारा प्रदर्शित साधारण धर्म का मार्ग कैसा सर्व-व्यापक और सर्वजीवहितकारी है। ऐसी धर्मशिक्षा द्वारा पृथ्वी के सब धर्ममार्ग समाजरूप से लाभवान् हो सकते हैं।

वेदसम्मत अगणित शास्त्रों से प्राचीन इतिहास का संबंध पुराणों के द्वारा पाया जाता है। पुराण ग्रंथ अनेक हैं। यथाः—महापुराण, पुराण, उपपुराण, इतिहास आदि। उनमें से अन्य पुराण श्रेणियों में देवलोक की गाथाओं का ही प्राधान्य है। केवल रामायण और महाभारत नामक दो महाग्रंथों में लौकिक इतिहास की विशेषता है। इस कारण रामायण नामक एकादश अध्याय और महाभारत नामक बारहवां अध्याय रचा गया है। जिनमें उक्त दोनों ऐतिहासिक कालों की घटनावली, चरित्रावली, सभ्यता आदि पर यथासंभव प्रकाश डाला गया है।

पुर्वा पर विचार कर और वर्तमान देशकाल पात्र की अवस्था को विचार दृष्टि के सामने रखकर अभ्रान्त ऐतिहासिक तत्त्वों के अनुशीलन करने के निमित्त जगत्कल्याण बुद्धि से भारत वर्ष के इतिवृत्त का यह प्रथम खण्ड सर्वशक्तिमान् भगवान् की कृपा से प्रकाशित किया गया है। अनादि अनन्त कालव्यापी जगज्जनी भुवनेश्वरी की लीला को सम्मुख रखकर महाभारत के महायुद्ध के पूर्वकाल की अवस्था का ऐतिहासिक रहस्य यथासंभव रूप से इस खण्ड में विवृत करने का प्रयत्न किया गया है। श्रीभगवान् की कृपा से ही इस समय इस ग्रंथ का प्रकाशन हो सका है।

श्रीभगवान् की कृपा पर निर्भर करके आशा की जा सकती है कि, सच्चे दिल से इतिहास के विषय में जो तुलनात्मक गवेषणा करना चाहते हैं उनके लिये यह पुस्तक निरापद तथा सुगम-मार्ग दिखलाने में समर्थ होगी। भूले हुए स्वदेशी प्रेमी ऐतिहासिकगण अपने देश के प्राचीन गौरव का पूर्ण स्वरूप अनुभव करके कृतकृत्य होंगे और विदेशीय ऐतिहासिक गवेषणा में सत्य मार्ग का अवलंबन कर सकेंगे। परिदृश्यमान स्थूल जगत ही सब कुछ ही, इन्द्रिय सेवा को निमित्त ही मनुष्य और मनुष्य-समाज अपना अभ्युदय चाहता है, परलोक चिंता की कोई आवश्यकता नहीं है इत्यादि भ्रमों को दूर करने में यह ग्रंथ यथासंभव सहायता प्रदान करेगा और सूक्ष्म जगत के अस्तित्व, दार्शनिक चिन्ता की आवश्यकता और आध्यात्मिक विचार का महत्त्व प्रतिपादन करके ऐतिहासिक विद्वानों को प्रौढ़ चिन्ता करने का अवसर देगा। इस पुस्तक के द्वारा ऐतिहासिक जगत् में एक शुभ नवीन परिवर्तन होकर जगत् का कल्याण होगा।

यदि श्रीभगवान् की कृपा का लाभ इस समय के इतिहास पाठकगण उठावेंगे और इसका मनन करके इसके अन्य खण्डों के प्रकाशन की आवश्यकता का अनुभव करेगे, तो अन्य खण्ड भी प्रकाशित किये जायेंगे। यह प्रथम खण्ड कलियुग के प्रारंभ से पहिले की घटनाओं का प्रकाश है। करालकलिकाल के उदय होने के अनंतर भारतवर्ष भर की मनुष्य जाति की दशा किस-किस प्रकार परिवर्तित हुई, प्राचीन भारतद्वीप-वासी जगत् के आदिगुरु आर्यों का प्रभाव पृथ्वीरूपी भारतवर्ष के अन्य देशों में कैसा पड़ता रहा, हिन्दुस्थानरूपी भारतद्वीप के ज्ञानसूर्य की ज्योति कहाँ-कहाँ किस-किस रूप में पहुँची, अनादि अनंत विराट् काल के अंतर्गत कलियुग के पांच सहस्त्र वर्षों में सारे भारतवर्ष में और इस भारतद्वीप में किस प्रकार की धार्मिक क्रान्ति, सामाजिक क्रान्ति और राजनैतिक क्रान्ति होकर वर्तमान दशा में भारतवर्ष और भारतद्वीप पहुँचा है और इन क्रान्तियों के परिणाम से शिक्षा पाने योग्य प्रधान-प्रधान चरित्र और प्रधान-प्रधान घटनावलियाँ कौन-कौन हैं, इत्यादि विषयों को प्रथम खण्ड के विज्ञान को सम्मुख रखकर प्रकाशित करने से जगत् का उपकार होगा या नहीं, इस पर इतिहास पाठक विचार करें। भविष्यत् में यदि देश काल पात्र अनुकूल समझा जायेगा और श्रीभगवान् की इच्छा होगी, तो आगे के खण्ड भी प्रकाशित हो सकेंगे।

—प्रेरणा माथुर

अनुक्रम

विषय | पृष्ठ संख्या

भूमिका 5

1. **ब्रह्माण्ड और आर्यावर्त** 21

मनुष्य शरीर के उदाहरण से ब्रह्माण्ड का स्वरूप। मेरुदण्ड के स्थान में दैवीपर्वत सुमेरु। चतुर्दशभुवन और बिलस्वर्ग, भौमस्वर्ग, दिव्यस्वर्गरूप से उनके विभाग। सूर्य चंद्र आदि स्थूललोक भौमस्वर्ग में हैं। भूलोक के सात द्वीप और सात समुद्र। जम्बुद्वीप नौ वर्ष हैं उनमें से हमारी पृथ्वी का नाम भारतवर्ष है। हिन्दुस्तान को आर्यावर्त्त या भारतद्वीप कहते हैं। भारतवर्ष ही मनुष्यपिण्ड होता है बाकी सारे ब्रह्माण्ड में देवपिण्ड हैं साइकिक रिसर्च करनेवालों से और रेडियो यंत्र से दैवीजगत की सिद्धि।

2. **ब्रह्माण्ड का मानचित्र** 26

ब्रह्माण्ड-शरीर के ऊपर की ओर सात ऊर्ध्वलोक और नीचे की ओर सात अधोलोक। हमारी पृथ्वी को ही मृत्युलोक और कर्म-भूमि कहते हैं बाकी सब भोगभूमि अर्थात् देवलोक हैं। बिलस्वर्ग के (सात अधोलोकों के) अनुशासक असुरराज। उनकी राजधानी। भुवर्लोक और स्वर्लोक की सन्धि में ध्रुवलोक। देवराज इन्द्र की राजधानी और अन्यान्य देवराजधानियाँ। ग्रह उपग्रह और ध्रुव का स्थान। मनुष्य शरीर में नाभि से कुछ नीचे तक में मेरुदण्ड है उसी प्रकार ब्रह्माण्ड में दैवीपर्वत सुमेरु का स्थान। ब्रह्मपुरी का स्थान। जन, तप और सत्यालोकों का ब्रह्मलोक, उपासनालोक अैर ज्ञान-लोक से संबंध। भूर्लोकादि त्रिलोकों का विस्तार। भूर्लोक के सात द्वीपों से जम्बुद्वीप का स्थान। उसके चारों ओर के सब समुद्र और सब द्वीप। वातावरणरूपी समुद्र, सुमेरु पर्वत और सप्तद्वीपों के चारो ओर के वातावरण रूपी सात समुद्रों का स्वरूप। जम्बुद्वीप के नव वर्षों को वेष्ठित करके सुमेरु की स्थिति। जम्बुद्वीप में भारतवर्ष की दक्षिणा और स्थिति। इलावृत्त वर्ष की सबके मध्यम में स्थिति। उससे सुमेरु पर्वत का संबंध। भारतवर्ष रूपी पृथ्वी शास्त्रीय नौ विभागों का वर्णन, जिसमें वर्तमान हिन्दुस्तान की स्थिति। मनुष्य शरीर और देवशरीर की पृथकता। मनुष्य

देव शरीर को नहीं देख सकता इसका कारण। उन्नत जीव शरीरों के, देव शरीर, नारकीय शरीर, प्रेतशरीर और मनुष्य शरीर रूप में चार भेद। इनमें प्रथम तीन और असुर शरीर देवपिरड के अंतर्गत हैं और चतुर्थ मानवपिण्ड अंतर्गत। तीसरे सहज पिराड के उद्भिज्ज, स्वेदज अराडज और मनुष्येतर जरायुज शरीर रूप से चार भेद हैं। भारतवर्ष के चारों और के अन्तरिक्ष में कुछ दूर तक प्रेतलोक का स्थान। नरक लोक का स्थान। पितृलोक का स्थान। नरकलोकों की सीमा पर लवण समुद्र जिसने जम्बुद्वीप को चारों ओर से घेर रखा है। पदार्थ विद्या सेवी की सज्जनों को ब्रह्माण्ड के मानचित्र को समझने में सहायता देने के अर्थ इस अध्याय का निष्कर्ष वर्णन।

3. **जगद्गुरु भारतद्वीप** 33

भारतद्वीप (हिन्दुस्थान) में ही आदि मानव सृष्टि होती है। यहीं के अग्रजन्मा ब्राह्मणगण के आदि गुरु होने के कारण भारतद्वीप ही मानव सभ्यता का आदि गुरु। भारतद्वीप के आदि गुरु होने का विशेष कारण। भारतद्वीप के दर्शन शास्त्रों का महत्त्व। जर्मथियोरी भारतद्वीपवासी पहले से ही जानते थे। मानवजाति के जानने योग्य सर्वश्रेष्ठ जितने विषय हैं उन सबों के आविष्कर्ता भारतद्वीपवासी ब्राह्मणगण। इस पर पश्चिमीय विद्वानों की सम्मति। आर्ट, सायन्स और फिलोसोफी का भारतद्वीप में ही पूर्ण विकास हुआ था। प्राचीन सभ्यता के प्रचार का मौलिक सिद्धांत। पूज्यपाद महर्षियों की इतिहास-लेखन-प्रणाली और वर्तमान काल की इतिहास-लेखन-प्रणाली में लक्ष्य की विभिन्नता।

4. **चौथा अध्याय** 47

प्राकृतिक सृष्टि, ब्राह्मी सृष्टि, प्राजापत्य सृष्टि और वैजी सृष्टि रूप से सृष्टि के चार स्तर। सृष्टि का प्रवाहरूप से अनादि और अनन्त होना। प्रलयावस्था में कर्म संस्कार का विद्यमान रहना और उन्हीं से ब्राह्माण्ड की पुनः सृष्टि। त्रुटि पर, निमेष, काष्ठा, कला, घटिका, क्षण और अहोरात्र रूप से एक मानव दिन की गणना। मानव वर्षों के हिसाब से चतुर्युग, मन्वन्तर, भगवान् ब्रह्मा का दिन, भगवान् ब्रह्मा, भगवान् मनु, सप्तर्षि और इन्द्रादि पदधारी देवताओं का बदलना। पाँच प्रकार की पुस्तकों का स्वरूप। वेदों का आपौरुषेयत्व। सृष्टि और प्रलय का स्वरूप। इन्द्रादि पदधारी देवताओं के कार्य। मानव-सृष्टि की आयु कितनी बीती और कितनी बाकी है।

5. **मनुष्य सृष्टि का आदि स्थान और वर्णश्रमसम्बन्ध** 54

मनुष्य सृष्टि का आदि स्थान भारतद्वीप। प्रथम में पूर्णावयव मानव पिराड की उत्पत्ति। वर्णाश्रम शृंखला का अनादित्व। पञ्जाब में देवी का नामिका नदी के तट पर आदि मनुष्यों का उत्पन्न होना और सबका ब्राह्मण होना। आज कल की इस विषय की कल्पनाओं का निराधार होना। चतुर्विध भूतसंघ का प्रकृति के अधीन रहकर उन्नत होना। मनुष्य कर्म करने की स्वाधीनता से ही धर्माधर्म का उसके

साथ संबंध। मनुष्य की अधोगति को रोकने के लिये भगवान मनु के द्वारा वर्णाश्रम बन्ध की स्थापना। वर्णाश्रमबन्ध का अनादित्व। वर्णाश्रमबन्ध का औपनिषदिक दृश्य।

6. भारतद्वीप का सामाजिक संघटन 64

बन और वृक्ष के समान मनुष्य समाज और मनुष्य का संबंध। वर्तमान जगत के समाजविज्ञान और भारतद्वीप के प्राचीनतम समाज विज्ञान की पृथकता का विवेचन। आर्यजाति के समाज-विज्ञान के अनादि, स्वाभाविक और पूर्ण होने के अकाट्य कारण। समाज विज्ञान को सफल बनाने, सामाजिक शृंङ्खला को सुदृढ़ बनाने और आध्यात्मिक उन्नतिशील आर्यजाति को तपन से दग्ध न होने देने के लिये वर्णाश्रम का महत्त्व। सुख का स्वरूप और उसकी प्राप्ति में चारों आश्रमों का सहायकत्व। बीज और क्षेत्ररूप से नर और नारी का होना। क्षेत्र की पवित्रता की विशेष प्रयोजनीयता। आर्य महिलाओं की पवित्रता की रक्षा करना, असवर्ण विवाह को रोककर रज और वीर्य की शुद्धि की रक्षा करना, ऋषियों के द्वारा स्थिरीकृत विवाह पद्धति, शुद्धाशुद्ध विवेक, इन चारों का वर्णाश्रम धर्म की रक्षा के लिखे सुदृढ़ दुर्ग रूप से वर्णन। मीमांसा दर्शन लिखित वर्णाश्रम का कल्पद्रुम रूप से वर्णन।

7. वेद और शास्त्र का अनादित्व 76

वेदों का अनादित्व और अपौरुषेयत्व। पाँच प्रकार की पुस्तकों में से वेद का नादमय पुस्तक होना और आधुनिक विज्ञान से उसकी सिद्धि। शब्दरूप से वेदों का नित्यत्वऔर भावरूप से स्मृतिशास्त्र (दर्शन, धर्मशास्त्र और पुराणादि) का नित्यत्व। इनके काल निर्णय की सयौक्तिक अनावश्यकता। ब्रह्माण्ड पुस्तक, पिराडपुस्तक, नादपुस्तक और बिन्दुपुस्तक, इन चार प्रकार की पुस्तकों का युगयुगान्तरों में इस मृत्युलोक में आविर्भाव तिरोभाव होना और देवलोकों में इनकी नित्यता विद्यमान रहना। कल्प के प्रारंभ जो ज्ञानराशि रूप से वेदों का प्रादुर्भाव होता है उसका कल्पान्त तक बना रहना और युगयुगान्तरों में उसका आविर्भाव तिरोभाव मृत्युलोक में होते रहना। अनादि विषयों के कालनिर्णय करने की प्रथा का निष्प्रयोजनीयत्व। सात ज्ञान भूमियाँ और अज्ञान भूमियाँ। भक्ति और चतुर्विध योग। ब्राह्मकल्प के अन्त में नीचे के ग्यारह लोकों का दग्ध होना। वैदिक तांत्रिक और मिश्र कर्मकाण्ड। इस कल्प के वेदों की संख्या। इस अध्याय का निष्कर्ष।

8. भारतद्वीप धर्म्म और उसकी ज्ञानगरिमा 87

धर्म की सर्वव्यापकता और उसका यथार्थ स्वरूप। भारतद्वीपवासी ब्राह्मणों ही सबसे पहले उसका जगत् में प्रकाशित करना। जगद्धात्री भुवनेश्वरी रूप से धर्म का वर्णन। सृष्टि स्थितिलय का स्वरूप। जड़राज्य में धर्म की व्यापकता और उसका स्वरूप। चेतनराज्य में उद्भिज्ञ से लेकर जीव के जीवन्मुक्त होने तक के क्रम में धर्म की व्यापकता और उसका स्वरूप। उद्भिज्जादि चतुर्विध भूतसंघ में धर्म्मा-धर्म्म विचार का संबंध न होना। पूर्णावयव मनुष्य में धर्म्माधर्म्म का संबंध होना। धर्म्माधर्म्म

धर्म्माधर्म्म का लक्षण। कर्मभूमि भारतवर्ष और मोक्षभूमि भारतद्वीप का ब्रह्माण्ड में श्रेष्ठत्व। चार प्रकार के धर्म्मों का वर्णन। साधारण धर्म्म की समस्त जगत के धर्म मार्गों में उपयोगिता। साधारण धर्म्म का पृथ्वी भर के धर्म्म मतों का उपकारी होना। विशेष-धर्म्म आप द्धर्म्म और असाधारण धर्म्म के लक्षण और उदाहरण। शिल्पशास्त्र, पदार्थ विद्या, दर्शन शास्त्र आदि ज्ञानराज्य के जितने शास्त्र पृथ्वी में प्रचलित हैं उनका आदि शिक्षक भारतद्वीप। वैदिक दर्शनशास्त्रों का सप्तश्रेणी में ही विभक्त होना। सातों का स्वरूप वर्णन। ईश्वर तत्त्व और उसकी उपासना प्रणाली का भारतद्वीप में ही पूर्ण रूप में आविष्कार होना। पृथ्वी के कई धर्म्म मतों का ईश्वर को भगवान् यम धर्म्मराज के रूप में मानना। पंद्रह, स्तरों में विभक्त उपासना प्रणाली, द्वादशस्तरमयी ध्यान प्रणाली और अष्टस्तरमयी धारणा प्रणाली रूप से ईश्वरतत्त्व का भारतद्वीप में ही पूर्णरूपेण विकास होना। सृष्टि की प्रारंभिक दशा में भारतद्वीप में ही सब प्रकार के ज्ञानसंबंधीय शास्त्रों का आविर्भाव होने के रूप में उक्त द्वीप की ज्ञान-गरिमा का प्रदर्शन।

9. राजानुशासनविज्ञान 101

भारतद्वीप में देशकाल के अनादि अनंत होने के कारण लौकिक इतिहास लिखने की शैली का प्रचार न होना। प्राचीन आर्य्यों के पुराण और इतिहास ग्रंथों का धर्म्मग्रंथ होना। उनमें देवलोक और मनुष्यलोक की मिलीजुली शिक्षाप्रद गाथाओं का धर्म्मलक्ष्य से परकीय भाषा और लौकिक भाषा रूप में लिखा जाना। आर्य्यों के इतिहास और राजानुशासन का दैवीजगत् के साथ संबंध। इस विषय में तुलनात्मक विचारशील व्यक्तियों की कई प्रकार की शङ्काओं का समाधान। लौकिक सुख को लक्ष्य में रखकर नहीं, प्रकृतिराज्य के अकाट्य नियमों को सामने रखकर आर्य्यों के राजधर्म्म विज्ञान का निर्णय। जगत्प्रसविनी महाशक्ति की तीन दशाएँ और उनके सोदाहरण वर्णन। सौर जगत् के दृष्टांत से मनुष्य समाज में आकर्षण विकर्षण शक्तियों का विकास और उनका सोदाहरण कार्य्यक्रम। इन दोनों की समता में ही मनुष्य समाज की सुख-शांति। संयुक्त कुटुम्ब-पद्धति में इन दोनों की ममता। आर्य्यों के कानून बनाने वालों का दैव जगत से संबंधयुक्त रहकर कानून बनाना और इसी कारण उनमें भ्रम प्रमाद का साहित्य। भारतद्वीप के प्राचीन काल के राजाओं के निरङ्कुश और विपथगामी न होने के कारण। उन्हीं कारणों में राजा प्रजा में सुख-शांति रहना। राजानुशासन का राजानुशासन व्यवस्था से भारतद्वीप की राजानुशासन व्यवस्था का घनिष्ठ संबंध। राजधर्म्म और प्रजाधर्म्म में आकर्षण विकर्षण शक्तियों की समता रहने की आवश्यकता। प्राचीन काल के राजधर्म्म और प्रजाधर्म्म का श्रेष्ठत्व और सुख-शांतिप्रद होने के कारण। चार प्रकार की आजकल प्रचलित राजशासन प्रणालियाँ और हिन्दुओं की पुरानी राजतंत्र-शासन प्रणाली इन पाँचों के लक्षण और चारों के साथ पाँचवीं की तुलनात्मक पर्य्यालोचना। दैवीजगत् पर विश्वास रखने वाले और

विश्वास न रखने वाले इन दोनों की युद्धनीति में और न्याय करने की प्रणाली में सिद्धांतों की विभिन्नता का प्रतिपादन। प्राचीन राजानुशासन की उत्कृष्टता और पृथ्वीभर में इस समय उसका अभाव। युद्ध की स्वाभाविकता। तीन प्रकार के अनुशासन। पहिले जैसा शुभकाल उपस्थित न होने तक धर्म्मविषय को राजानुशासन से अलग रखने का औचित्य।

10. प्राचीन भारतद्वीप की शिक्षा प्रणाली 121

पूर्व काल में भारतद्वीप में अन्य स्वातंत्र्यों की तरह शिक्षा स्वातंत्र्य का भी होना। एक मात्र जगद्गुरु ब्राह्मणजाति पर ही शिक्षा देने का भार रहना। विद्या शिक्षा का ऐहलौकिक परलौकिक अभ्युदय और मोक्ष लक्ष्य होना। जगत् का सब कार्य्य लोकशिक्षा पर ही निर्भर। अधिकार के अनुसार शिक्षा प्रदान। प्राचीन काल में पूर्णप्रज्ञ होकर विद्याओं के आविष्कार होने से उनका भ्रमरहित होना। उन्होंने योगयुक्त अंतःकरण से सब कुछ देखकर तब शास्त्रों में उसका प्रतिपादन किया है। वे पिराड से ब्रह्माण्ड ज्ञान और ब्रह्माण्ड से पिराड ज्ञान प्राप्त करते थे। उस समय प्रत्येक व्यक्तियों में बीज रूप में रहने वाली शक्ति को विकसित करना ही शिक्षा का प्रधान लक्ष्य था। शिक्षा का प्राधान्य, प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में धर्म्म शिक्षा का प्राधान्य होना। धर्म्म का कल्पद्रुम रूप से वर्णन। नवीन शिक्षा-प्रणाली में मनुष्यतत्व की प्राप्ति, धर्म्म और मोक्ष को लक्ष्य न होना। प्राचीन और नवीन शिक्षा प्रणाली का तुलनात्मक विचार। प्राचीन शिक्षा-प्रणाली के कौन-कौन आदर्श आज कल के शिक्षा-शैली प्रवत्तक विद्वानों को ध्यान में रखने चाहिये।

11. रामायण 135

पुराण और इतिहास का लक्षण। इस अध्याय के लिखने का उद्देश्य। आदर्श पुरुष जीवन और आदर्श नारी जीवन के दृष्टान्त को जगत् में स्थापन करने के लिये ही राम सीता का जन्म। ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति के सामञ्जस्य के लिये रामावतार का होना। सतीत्व का आदर्श स्थापन करने के लिये सीता महारानी का जन्म। रामावतार वे वीर, करुण, वात्सल्य, मधुर, भयानक, अद्भुत आदि सकल रसों का आदर्श संसार में स्थापन होना। रामराज्य का आदर्श रूप होना। मनुष्य समाज की धारणा के प्रधान चार अङ्ग और राम राज्य में उनका पूर्ण उत्कर्ष। राम राज्य के राजाप्रजासत्तात्मक होने का वर्णन। शङ्काओं का समाधान करते हुए सीताराम चरित्र का आदर्शत्व सिद्ध करना। रामराज्य का आदर्शत्व। रामराज्य और आधुनिक राज्यों का तुलनात्मक विचार। भगवान् राम और भगवती सीता के आदर्श जीवन की विशेष आलोचना। इतिहासों और पुराणों के चरित्र वर्णन की पृथकता। उनमें केवल लौकिक इतिहास खोजने की निष्फलता। विभिन्न पिराडों में भगवदवताओं का आविर्भाव। अवतार शरीर में दो प्रकार की क्रियाएं। रामायण में आधुनिक विचार से असंभव चरित्रों का समाधान। श्रीरामराज्य में सृष्टिरक्षा के चतुर्व्यूहों की पूर्णता। रामायण का महत्त्व।

महाभारत की महिमा के सर्वोपरि होने के कारण। महाभारत में कथित धर्म्मविषय। शृंखला की महिमा और उससे ब्रह्माण्ड का सब कार्य्य सुसम्पन्न होना। कला विकासभेद से अंशावतार और पूर्णावतार। पूर्णावतार पूर्णाता का वर्णन। पूर्णावतार होने के समय का वर्णन। कृष्णचरिता का संक्षिप्त वर्णन। उनके चरित्रों से पूर्णावतारत्व की सिद्धि। कर्म्म, उपासना और ज्ञान के विचार से उनका पूर्णावतारत्व। कृष्णाचरित्र का भावातीत कोटिका होना और उसमें समष्टि जगत् के कल्याण का ही लक्ष्य रहना। भगवान् श्रीकृष्ण के अलौकिक कर्म्मों का विज्ञान। उनके जटिल कर्म्म और धर्म्म संकटों में किये हुए निर्णयों का विज्ञान और तत्संबंधीय शङ्का समाधान। परीक्षित की आयु। महाभारत की रचना का काल। बौद्ध और जैनमत का पुरातन होना। वर्तमान समय में जितने प्रकार के तत्त्वानुसंधान किये जाते हैं उनके आधार आर्य्यों के पुराण और इतिहासग्रंथों का होना। रामावतार का कालनिर्णय। पुराण के पाँच भेद और उनमें पञ्चम इतिहास का होना। इतिहासों में महाभारत की प्रधानता। इतिहास पुराणों के समझने में तीन प्रकार की भाषा और तीन प्रकार के वर्णनों का विचार रखना। वैदिक और पौराणिक इतिवृत्त के साथ आधुनिक लौकिक इवितृत्त की तुलनात्मक गवेषणा करने वालों की शङ्काओं का समाधान। पुराण और इतिहास ग्रंथों में कल्पकल्पांतर की जो गाथाएँ मिलती हैं उनके जानने का क्रम। इतिहास पुराण में प्राप्त होने वाली लौकिक गाथाओं का स्वरूप वर्णन। महाभारत काल में इन्द्रपस्थ का पृथ्वी भर की राजधानी होना और वहाँ के राजा का ही पृथ्वी भर का सम्राट् होना। दैवराज्य और लौकिक राज्य का सम्बद्ध होना। दैवी राजा, दैवी राजधानी और दैवी काल का वर्णन। धर्मराज यम, कालराज मनु और देवराज इन्द्र के पदों के कर्त्तव्य कार्य्य। इस कल्प के मनु और इन्द्रों की नामावली। सूर्य्यवंश और चंद्रवंशों का प्रधानतः वर्णन रामायण और महाभारत में होना। इस अध्याय का निष्कर्ष क्लेशानिवारक कालिका स्तोत्र।

1

ब्रह्माण्ड और आर्यावर्त्त

ब्रह्मशक्ति महामाया के अनादि अनन्त गर्भ में अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड विद्यामान हैं। उनमें से एक हमारा यह ब्रह्माण्ड है। सबसे पहिले हमारे ब्रह्माण्ड का स्वरूप वेद और शास्त्रों की सहायता से समझने योग्य है। वेद, वेदसम्मत दर्शनशास्त्र, पुराण और सब स्मृतिशास्त्र एक वाक्य होकर ब्रह्माण्ड के प्रधानतः चौदह अंशों का वर्णन करते हैं। जैसे मनुष्य शरीर का उत्तमाङ्ग, मध्यमाङ्ग और अधोअङ्ग है और मध्यमाङ्ग में मेरुदण्ड है, ठीक वैसे ही ब्रह्माण्ड की भी बनावट है। ब्रह्माण्ड के चौदह भुवनों के नाम ये हैं। ऊपर सात भुवन अर्थात् सात लोकों के नाम—1. भूर्लोक, 2. भुवर्लोक, 3. स्वर्लोक, 4. महर्लोक, 5. जनलोक, 6. तपोलोक और 7. सत्यलोक हैं।[1]

नीचे के सात लोकों के नाम—1. अतल, 2. वितल, 3. सुतल, 4. तलातल, 5. रसातल, 6. महातल और 7. पाताल हैं।[2] जैसे मनुष्य शरीर के मध्य में मेरुदण्ड स्थित है, जो शरीर को धारण करता है, वैसी ही ब्रह्माण्ड के भूलोक के कुछ नीचे से लेकर स्वर्लोक से कुछ ऊपर तक दैवीजगत्-संबंधी दैवीपर्वत सुमेरु ब्रह्माण्ड को धारण करता है। इन चौदह लोकों में से नीचे के सातलोक बिलस्वर्ग कहाते हैं, जिनमें असुरलोग वास करते हैं। इन सातों लोकों का भोग इन्द्रियभोग के संबंध से ऊपर के लोकों के भोगों से विशेष है। आसुरी प्रकृति के जीव उन्नत भोग इच्छा करने वाले होने पर इन आसुरी लोकों में जाकर भोग भोगते हैं।[3] ऊपर के सात लोकों में से भूर्लोक और भुवर्लोक दोनों भौमस्वर्ग कहाते हैं।[4] ये दोनों लोक मध्यम श्रेणी के स्वर्गलोक हैं। इन्हीं दोनों के अन्तर्गत सूर्य, चंद्र, ध्रुव, नक्षत्र, पृथिवी आदि सब स्थूललोक हैं, यही सनातनधर्म के शास्त्रों में पाया जाता है।[5] इन दोनों लोकों के ऊपर पाँच लोक दिव्य स्वर्ग कहाते हैं। इन पाँचों में से स्वर्लोक माहेन्द्रस्वर्ग भी कहाता है, महर्लोक प्राजापत्य स्वर्ग भी कहाता है और जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक ब्रह्मा स्वर्ग भी कहाते हैं। इन पाँचों लोकों में सात्त्विक भोग की अधिकता है और एक से लेकर ऊपर के लोकों में क्रमशः उन्नत से उन्नत महदात्माओं के रहने का स्थान है, जिसका विस्तृत वर्णन वैदिक सप्तदर्शनों में से योगदर्शन में किया गया है।

भौमस्वर्ग के अन्तर्गत भूर्लोक में हमारी यह पृथ्वी है। भूर्लोक को शास्त्रकारों ने सात विभागों में विभक्त किया है। वे सात अलग-अलग द्वीप कहाते हैं। उनका गठन ऐसा कहा गया है कि, प्रत्येक लोक के चारों ओर एक समुद्र है और एक एक द्वीप के चारों ओर एक-एक समुद्र होने के कारण जैसे सप्तद्वीपों के अलग-अलग नाम हैं, वैसे उनके चारों ओर के समुद्रों के भी अलग-अलग नाम हैं। ये सातों समुद्र हमारी पृथ्वी के जलमय समुद्री की तरह नहीं हैं। ये सब वातावाणरूपी समुद्र हैं। प्याज के छिलके की तरह एक द्वीप के ऊपर एक समुद्र इस प्रकार सातों द्वीप और सातों समुद्र विद्यमान हैं। इन सप्तद्वीप में से हमारा द्वीप जम्बुद्वीप कहाता है, जो सातों द्वीपों के बीच में स्थित है। उस जम्बुद्वीप में नौ खण्ड अर्थात नौ वर्ष हैं। उनमें से एक वर्ष हमारा भारतवर्ष है, जो मृत्युलोक कहाता है और बाकी आठ वर्ष देवलोक हैं।[6] इससे यही सिद्ध हुआ कि, एक ब्रह्माण्ड के चौदह लोक हैं। उन चौदह लोकों में से एक लोक भूर्लोक है। उसके सात खण्ड सात द्वीप हैं। उन सात द्वीपों में से हमारा जम्बूद्वीप एक द्वीप है और जम्बुद्वीप के नौ वर्षों में से हमारा भारतवर्ष एक वर्ष है। इसी जम्बुद्वीप में नरकलोक, पितृलोक और प्रेतलोक भी स्थित हैं। अर्थात एक ब्रह्माण्ड का हमारा भारतवर्ष ......वाँ हिस्सा है। क्योंकि जम्बुद्वीप नौ वर्ष और नरकादि तीन लोक मिलाकर बारह खण्ड होते हैं। वे सात द्वीपों से गुणा करने पर 78 होते हैं। फिर उन्हें 18 लोकों से गुणा करने से उक्त संख्या निष्पन्न होती है। वही भारतवर्ष केवल मनुष्य पिष्ड के वासोपयोगी है और बाकी सब अंश देवपिण्ड के वासोपयोगी है।[7] देवपिण्डधारी जीव अनेक प्रकार के होते हैं, उनमें असुरगण भी सम्मिलित हैं। तात्पर्य यह है कि, भूगोल के द्वारा जो पृथ्वी जानी जाती है, वही भारतवर्ष है और जिसको आज कल हिंदुस्थान कहते हैं, वह आर्यावर्त्त अथवा भारतद्वीप है।[8] इस सिद्धांत के विरुद्ध जिन ऐतिहासिक खोज करने वालों ने कल्पाएँ की हैं, वे अशास्त्रीय कल्पनाएँ हैं, ऐसा समझना चाहिए।

वर्तमान समय के जड़वादी अथवा साइण्टिस्ट विद्वानों अथवा धर्मशिक्षाविहीन नवशिक्षित व्यक्तियों अथवा दैवीजगत् पर आस्था न रखनेवालों को दैवीजगत् का अस्तित्व समझा देने की आवश्यकता है। ऐसा होने पर उनकी चिंता शक्ति आगे बढ़ सकती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आधुनिक साइन्स संबंधी नवीन आविष्कार और गवेषणा के दो ज्वलन्त उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस समय विशेषतः यूरोप के महायुद्ध के अनन्तर से यूरोप और अमेरिका में परलोक संबंधी विचारों और दैवीजगत् के अस्तित्व के संबंध में खोज होने लगी है उनके "साइकिक रिसर्च" अर्थात दैवीजगत्-संबंधी अनुसंधान के कार्य पर्यालोचना करने से यह प्रतीत होगा कि, वे जब "साइकिक सर्कल" अर्थात परलोक संबंधी चक्र का अनुष्ठान करते हैं, उस समय उस चक्र के सब लोगों का अनुभव करने का अवसर मिलता है कि, उस चक्र में आविर्भूत हुई परलोकगामी आत्माओं का गाना, रोना, बातचीत

अन्तर से केवल उसी व्यक्ति या उन्हीं व्यक्तियों को सुनायी देती हैं, जो ''साइकिक'' अर्थात इस विषय के साधक होते हैं। उनमें उक्त प्रकार से सुनने-देखने की शक्ति विकसित हो जाती है। इस पाश्चात्य विद्या और अनुसंधान कौशल की सहायता से दैवीजगत् का कुछ अस्तित्व अब साइण्टिस्ट विद्वान भी मानने लगे हैं। यह उदाहरण कुछ सम्प्रदायगत अवश्य है। इसलिये सर्वसिद्धसिद्धांत का एक उदाहरण और दिया जाता है, जिसको सबको मानना ही पड़ेगा। इस समय वायरलेस टेलिग्राफी, वायरलेस टेलिफोन तथा वैद्युतिक जगत् की अनेक क्रियाएँ यद्यपि सूक्ष्मदर्शी आस्तिक जन के लिये सूक्ष्म दैवीजगत् का विश्वास दिलाती हैं, परंतु जो इस समय का रेडियो यंत्र निकला है, उसके द्वारा सूक्ष्म दैवीराज्य व्यापक सत्ता के अनुभव करने में विलम्ब नहीं लगाता। सुदूर युरोपीय किसी नगर में अथवा भारतवर्ष के किसी सुदूर प्रांत में किसी घर में बैठे हुए व्यक्ति का गान या कथोपकथन तत्काल काशी के घर-घर में सुनायी देने लगता है। इस दूरी के बीच में अनेक बाधाएँ हैं। पृथ्वी की गोलाई, पर्वतादि का आवरण, बीच के आकाश में विरुद्ध वातावरण आदि बाधाएँ भी उस शब्द के विकास को रोक नहीं सकतीं। सैकड़ों कोस दूर के शब्द ज्यों-के-त्यों तुरन्त ही काशी के आकाश में प्रकशित हो जाते हैं। इससे यही सिद्ध हुआ कि, सर्वव्यापक रूप से स्थूल देश के अन्तर्गत सूक्ष्मातिसूक्ष्म ऐसा देश है, जिसे स्थूलदेश बाधा नहीं दे सकता। इसी प्रकार स्थूललोक और सूक्ष्मलोक का संबंध समझने योग्य है। इस विवेचन के अनुसार हमारा यह मृत्युलोक, जिसको अन्य भाषा में 'दुनिया' या 'वर्ल्ड' कहते हैं और शास्त्रों में जिसे भारतवर्ष कहा है, वह हमारे ब्रह्माण्ड का बहुत छोटा सा अंश है। अतः केवल भूगोलशास्त्र (जाग्रफी) को पढ़कर विद्वानों को तृप्त नहीं होना चाहिए, न अपने को सर्वज्ञ ही समझना चाहिए।

संदर्भ

1. भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्।।25।। तत् प्रस्तारः सप्तलोकाः, तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येष भूर्लोकः, मेरुपृष्ठा-दारभ्याध्रुवात् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोक;, तत्परः स्वर्लोकः पश्चविधः, माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः, चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः, त्रिविधो ब्राह्मः, तद्यथा जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति।

   ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्।
   माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजा।।

   —पातञ्जलयोगभाष्य।

2. ततोमहातलर सातलतलसुतलवितलतलातलपातलाख्यानि सप्तपातालानि, भूमिरियमष्टमी दक्षिणापार्श्वे चास्य (मेरोः) जम्बुः। तदेत्सर्व सुप्रतिष्ठित संस्थानमण्डमध्ये ब्यूढं, अण्डञ्च प्रधाननस्यागुणरचयवो यथाकाशे खद्योतः, तत्र पाताले जलधौ पर्वतेष्वेतेषुदेवनिकाया असुरगन्धर्वादयः प्रतिवसन्ति, सर्वेषु द्वीपेषु पुण्यात्मानो देवमनुष्याः। सुमेरुस्त्रिदशानामुद्यानभूमिः ग्रहनक्षत्रतारकास्तु ध्रुवे निबद्धाः। —पातञ्जलयोगभाष्य।

अवनेरप्यधस्तात् सप्त भूमिवरा एकैकशो योजनायुतान्त रेणायामविस्तरेणोपक्लृप्ताः अतलं वितलं सुतलं तलातलं महातलं रसातलं पातालमिति ।।7।। *—विष्णुभागवत् स्कंध 5, अ. 24।*

3. एतेषु हि बिलस्वर्गेषु स्वर्गादप्यधिककामभगैश्वर्यानन्द विभूतिभिः सुसमृद्धभवनोद्यानाक्रीडविहरेषु दैत्यदानवकाद्रवेया नित्यप्रमुदितानुरक्तलत्रकलत्रापत्यबंधुसुहृदनुचरा गृहपतय ईश्वरादप्यप्रतिहतकामा मायाविनोदा निवसन्ति। विष्णुभागवत, स्कं. 5, अ. 24

4. मेरो ये तु प्रोक्ताः केसरपर्वताः।
शेतान्ताद्या मुने तेषामतीव हि मनोरमाः।।
लक्ष्मीविष्ण्वग्निसूर्यादिदेवानां मुनिसत्तम।
तास्वायतनवर्षाणि जुष्टानि वरकिन्नरै।।
गन्धर्वयक्षरक्षांसि तथा दैतेयदानवाः।
क्रीडन्ति तासु रम्यासु शैलद्रोणीष्वहनिशम्।।
भौमा ह्येते स्मृताः स्वर्गा धर्मिणामालया मुने।
नैतेषु पापकर्माणो यान्ति जन्मशतैरपि।।
यानि किम्पुरुषादीनि वर्षाण्यष्टौ महामुने।
न तेषु शोको नायासो नोद्वेगः क्षुद्भयादिकम्।।
सुस्थाः प्रजा निरातङ्काः सर्वदुःखविवर्जिताः।
दशद्वादशवर्षाणां सहस्राणि स्थिरायुषः।।
न तेषु वर्षते देवो भौमान्यम्भांसि तेषु वै।
कृतन्त्रेतादिका नैव तेषु स्थानेषु कल्पना।।

—विष्णुपुराण, अ. 2, अं. 2

5. अण्डमध्यगतः सूर्यो द्याचभूम्योर्यदन्तरम्।
सूर्याण्डगोलयोर्मध्ये कोठयः स्युः पञ्चविंशतिः।।
सूर्येण हि विभज्यन्ते दिशः खं द्यौर्महीभिदा।
स्वर्गापवर्गो नरका रसौकांसि च सर्वशः।।

—विष्णुभागवत, स्कंध 5, अध्याय 20, श्लोक 49

एतेन हि दिवो मण्डलमानं तद्विद उपदिशन्ति। यथा द्विदलयोर्निष्पावादीनां से अन्तरेणान्तरिक्षं तदुभयसन्धितम्। यन्मध्यगतो भगवाँस्तपतां पतिस्तपन आतपेन त्रिलोकीं प्रतपति।।2-3।। विष्णुभागवत्, स्कन्ध 5, अध्याय 21

6. तत्रापि भारतमेव वर्ष कर्मक्षेत्रमन्यान्यष्टवर्षाणि स्वर्गिणां पुण्यशेषोपभोगस्थानानि भौमानि स्वर्गपदानि व्यपदिशन्ति।

—विष्णुभागवत, स्कन्ध, 5, अ. 17

अस्मिन्नेव वर्षे पुरुषैर्लब्धजन्ममिः शुकुलोहितकृष्णवर्णेन स्वारब्धेनकर्मणादव्यमानुषनारकगतयो बह्व आत्मन आनुपूर्व्येण सर्वा ह्येव सर्वेषा विधीयन्ते यथावर्णविधानमपवर्गश्चापि भवति।

—विष्णुभागवत, स्कन्ध, 5, अ. 19

7. यस्मिन् (भूलोंकानतर्गतजम्बुद्वीपे) नववर्षाणि, एषां मध्ये इलावृत नामाभ्यन्तरवर्ष यस्य नाम्यामवस्थितः सर्वतः सौवर्णः कुलगिरिराजो मेरुः। *—विष्णुभागवत, स्कन्ध, 5, अ. 16*

भारतं प्रथमं वर्ष ततः किम्पुरुषं स्मृतम्।
हरिवर्ष तथैवान्यन्मेरोर्दक्षिणतो द्विज।।
रम्यकं चोत्तरं वर्ष तस्यैवानु हिरण्मयम्।
उत्तारः कुरवश्चैव यथा वै भारतं तथा।
नव सहस्रमेकैकमेतेषां द्विजसत्तम।

इलावृतं च तन्मध्ये सौवर्णो मेरुरुच्छ्रितः।।
भद्राश्वं पूर्वतो मेरोः केतुमालञ्च पश्चिमे।
वर्षे द्वे तु मुनिश्रेष्ठ तयोर्मध्यमिलावृतः।।

—विष्णुपुराण, अंश 2, अध्याय 2

यानि किन्पुरुषादीनि वर्षाण्यष्टौ महामुने।
तेषां स्वाभाविकी सिद्धिः सुखप्राया ह्ययत्नतः।।
विपर्ययो न तेष्वस्ति जरामृज्यूभयं न च।
धर्माधर्मौ न तेष्वास्तां नोत्तमाध्यममध्यमाः।।
न तेष्वस्ति युगावस्था क्षेत्रेष्वष्टासु सर्वदा।
हिमाह्वं यस्य वै वर्ष नाभेरासीन्महात्मनः।।

—विष्णुपुराण, अ. 2, अं. 2

8. भरणात्प्रजनाच्चैव मनुर्भरत उच्यते।
निरुक्तवचनैश्चैव वर्ष तद्भारतं स्मृतम्।।
यतः स्वर्गश्च मध्यमश्चापि हि स्मृतः।।
भारतस्यास्य वर्षस्य नवभेदान् निबोधत।
अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः।।
आयतस्तु कुमारी तो गङ्गायाः प्रवहावधिः।
द्वीपो ह्युपनिविष्टोऽयं म्लेच्छैरन्तेषु सर्वशः।।
यवनाश्च किराताश्च तस्यान्ते पूर्वपश्चिमे।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मध्ये शूद्राश्च भागशः।।

—मत्स्यपुराण, अ. 115

तस्यर्षमोऽभवं पुत्रो मेरुदेव्यां महाद्युतिः।
ऋषभाद्भरतो जज्ञं ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः।।
अभिषिच्य सुतं ज्येष्ठं भरतं पृथ्वीपतिम्।
ततश्च भारतं वर्ष एतल्लोकेषु गीयते।।
भरताय यतः पित्रा दत्तं प्रातिष्ठिता वनम्।
तैरिर्द भारतं वर्षं नव भागैरलंकृतम्।।
तेषां वंशप्रसूतेश्च मुक्तेय भारती पुरा।।
कृतत्रेतादिसर्गेण युगाख्यां ह्येकसप्ततिम्।
एष स्वायम्भुवः सर्गो येनेदं पूरितं जगत्।।
वाराहे तु मुने कल्पे पूर्वमन्वन्तराधिपः।
भारतस्यास्य वर्षस्य वनभेदान् निशामय।
इन्द्रद्वीपः कशेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान्।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः।।
अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः।
चत्वारि भारते वर्षे युगान्यत्र महामुने।।
कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिश्चान्यत्र न क्वचित्।।
अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बुद्वीपे महामुने।
यतो हि कर्मभूरेषा ह्यतोन्या भोगभूमयः।।

—विष्णुपुराण, अं. 2, अ. 1 (-3)

2

ब्रह्माण्ड का मानचित्र

देश और काल इन दोनों से इतिहास का बड़ा भारी संबंध है। वैदिक विज्ञान के अनुसार यद्यपि देश और काल को वह्म और ब्रह्मशक्ति महामाया की साक्षात् विभूति करके माना गया है और दोनों को विस्तार में अनादि अनन्त माना गया है, तथापि सृष्टि के विशेष-विशेष स्तर के अनुसार दोनों सादि और सान्त भी हैं। जब ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत भारतवर्ष के इतिहास का दिग्दर्शन कराया जाता है, तो ब्रह्माण्ड के मानचित्र का स्वरूप सबसे पहिले जान लेने की आवश्यकता है।

हमारा ब्रह्माण्ड प्रचीन शास्त्रों के अनुसार चतुर्दश लोकों में विभक्त माना गया है; जिन चतुर्दश भुवनों का नामोल्लेख पहिले अध्याय में हो चुका है। पूज्यपाद महर्षियों ने एक ब्रहाण्ड के साथ मनुष्यपिण्ड का उदाहरण दिया है। जैसे मनुष्य की नाभि के ऊपर और नाभि से नीचे दो अलग-अलग भाग हैं, ठीक वैसे ही एक ब्रहाण्ड के ऊद्र्ध्व और अधः दो भाग हैं। ब्रहाण्ड के ऊद्र्ध्व भाग में भूः आदि सात ऊद्र्ध्वलोक और अधोभाग में अतल-वितल आदि सात अधोलोक हैं। इन चौदह भुवनों में से भूर्लोक के अंतर्गत हमारी पृथ्वी, जिसको शास्त्रों में भारतवर्ष कहा है, वह एक बहुत छोटा सा अंश है; जैसा कि, पहिले कहा गया है। वही मृत्युलोक और कर्मभूमि है और ब्रहाण्ड बाकी सब अंश भोगभूमि अर्थात् देवलोक है जैसा कि, पहिले कह चुके हैं कि, नीचे के सात लोकों को बिलस्वर्ग कहते हैं; उन सातों में अलग-अलग अधिकार के आसुरी सुखभोग के स्थान हैं। इन सातों अधोलोकों में नाना श्रेणी के असुरगणा वास करते हैं, जो एक श्रेणी के देवयोनि हैं। हमारे मृत्युलोक से शरीरान्त के बाद जो जीव आसुरी सुखभोग के अधिकारी होते हैं, वे अपने अधिकार के अनुसार बिलस्वर्ग के इन सातों अधोलोकों में सुख भोग करके आते हैं। बिलस्वर्ग के अनुशासन के राजा अलग-अलग हैं। उनकी प्रधान राजधानी तीसरे अधोलोक और सातवें अधोलोक में हैं। उनके राजा असुरराज कहाते हैं।

ऊपर सात लोकों की महिमा अतिमहान् और विचित्र है। जैसा हम पहिले कह चुके हैं कि, उन सातों लोकों में से भूर्लोक और भुवर्लोक भौमस्वर्ग कहाते हैं और भूर्लोक तथा भुवर्लोक में यावत् ग्रहनक्षत्रादि विद्यमान हैं। सूर्यमण्डल का भी स्थान भुवर्लोक में है और ध्रुवलोक का स्थान भुवर्लोक और स्वर्लोक की सन्धि में है।[1] तीसरे ऊद्ध्र्वलोक में ही देवराज इन्द्र की राजधानी है और अन्यान्य बड़ी-बड़ी देवराजधानियाँ भी हैं। वर्तमान दृग्गणित, ज्योति-शास्त्र और साइन्स के अनुसन्ध ाान द्वारा जो ग्रह, उपग्रह, सूर्य और यहाँ तक कि, ध्रुव मण्डल तक की खोज हुई है, वे सब स्थूल लोकसमूह भूर्लोक और भुवर्लोक में ही स्थित हैं। जैसा हम पहिले कह चुके हैं कि, मनुष्य पिण्ड में जिस प्रकार मेरुदण्ड का स्थान है, ठीक उसी प्रकार सुमेरु नामक दिव्य पर्वत ब्रह्माण्ड में स्थित है।[2] उसका विस्तार भूर्लोक से कुछ नीचे तक है, जैसा कि, मनुष्य के शरीर में नाभि से कुछ नीचे तक मेरुदण्ड हुआ करता है। वह ऊपर में स्वर्लोक से कुछ ऊपर तक है। मेरु के ऊपर अर्थात उससे कुछ ऊपर ब्रह्मपुरी है। ऊपर के चौथे लोक को प्राजात्य स्वर्ग कहते हैं और उसके ऊपर के अन्तिम तीन ऊर्ध्व लोकों को ब्रह्मस्वर्ग कहते हैं; जैसा पहिले कहा गया है। इन्हीं तीनों को ब्रह्मलोक, उपासनालोक और ज्ञान के उन्नतलोक भी कहते हैं; जिनमें उन्नत अधिकार के उपासक और उन्नत अधिकार के ज्ञानी महदात्मागण रहते हैं। योगदर्शन भाष्य में महर्षि व्यास ने इन उन्नत से उन्नत लोकों की महदात्माओं के अधिकार का अच्छा चित्र खींचा है।

इस प्रकार से सात ऊद्र्ध्व लोकों और सात अधोलोकों का मानचित्र है। इनमें से भूर्लोक, भूवर्लोक और स्वर्लोक, तीनों का विस्तार अन्य लोकों से कुछ बड़ा है और इन तीनों का विस्तार एक दूसरे के समान भी है, ये ही त्रिलोक कहाते हैं। इन तीनों लोकों में से भूर्लोक के साथ भारतवर्ष रूपी अपने मृत्युलोक का अर्थात इस दुनिया का साक्षात् संबंध है। इस कारण भूर्लोक का मानचित्र अच्छी तरह समझने योग्य है। भूर्लोक में सात द्वीप हैं उनके नाम ये हैं—जम्बुद्वीप, पुक्षद्वीप, शाकद्वीप, कुशद्वीप, क्रोश्चद्वीप, शाल्मलीद्वीप, और पुष्करद्वीप। प्याज के छिलके के समान ये एक के ऊपर एक हैं; जैसा पहिले कहा गया है। ये द्वीप सात समुद्रों से घिरे हुए हैं और वे समुद्र एक दूसरे के बीच-बीच में हैं। उन सात समुद्रों के नाम ये हैं—लवण समुद्र, सुरासमुद्र, घृतसमुद्र, दधिसमुद्र, दुग्धसमुद्र और उदकसमुद्र। इस विज्ञान को समझने के लिए यह अनुभव करना उचित है कि, हमारा भारतवर्ष जिस जम्बुद्वीप में है, उसके चारों ओर के आकाश में लवण समुद्र है। उसके चारों ओर प्लक्षद्वीप है। उसके चारों ओर इक्षु समुद्र है। इसी प्रकार सप्त अन्तरीक्ष रूपी पृथक्-पृथक् उपादानों के पृथक्-पृथक् समुद्रों द्वारा घिरा हुआ सप्तद्वीपमय भूर्लोक स्थित है। शङ्का समाधान के लिये कहा जाता है कि, ब्रह्माण्ड के विराट् देह का सुमेरु पर्वत हमारे इस पृथ्वी के हिमालय पर्वत विन्ध्याचल आदि की तरह स्थूल

पर्वत नहीं है, वह दैवीपर्वत है। जैसे मनुष्य शरीर का मेरुदण्ड मनुष्य शरीर को धारण किये रहता है, जैसे पृथ्वी के बड़े-बड़े पर्वत समूह पृथ्वी को दृढ़ बनाये रहते हैं, ठीक वैसे ही दैवीपर्वत सुमेरु अपनी सूक्ष्म अलौकिक दृढ़ शक्ति से ब्रह्माण्ड को धारण किया करता है। वह ब्रह्माण्ड को दृढ़ रखता है और ब्रह्माण्ड के स्थूल ग्रह समूह उसकी शक्ति रज्जू में बँधकर घूमा करते हैं।[4] इसी विचार के अनुसार यह सिद्ध है कि, इन सातों द्वीपो के सात समुद्र जलमय नहीं है, वे वायुमय समुद्र हैं। वेदांत के पञ्चीकरण का रहस्य जो कोई समझते हैं, वे जानते हैं कि, जिस लोक में पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता है, जैसा कि, हमारा पृथ्वी लोक है, उसके वायु और जिस लोक में अग्नितत्त्व प्रधान है जैसे स्वर्गादिलोक, उनके वायुओं में पड़ा ही अंतर होगा। इसी प्रकार वायु के अनेक भेद हैं। हमारी पृथ्वी में भी वायुयान से जब मनुष्य आकाश में चढ़ता रहता है, तब दस पाँच कोस ऊपर जाने पर ही वह कहाँ का वायुमण्डल मनुष्य की उपयोगिता से बाहर का पाता है। इसी प्रकार जब हमारे ही वातावरण में इतना भेद है, तो नाना देवर्लोक के वातावरण में बहुत अंतर होगा, इसमें संदेह ही क्या है? हमारे भारतवर्ष के वायुमण्डल के साथ देवलोक के वायुमण्डलल का भेद है ही, किंतु उक्त सातों द्वीपों के वायुमण्डल में भी भेद है। उन अलग-अलग वायुमण्डल रूपी समुद्रों के अलग-अलग उपादान को समाधि बुद्धि से पूज्यापाद महर्षियों ने देखकर इन सातों समुद्रों के नामों की कल्पना की है और जैसे सुमेरु पर्वत को सोने का पर्वत बताया है, वैसा ही इन सातों समुद्रों का अलग-अलग रूप से नामकरण किया है।

भूर्लोक के सप्तद्वीप में से जम्बुद्वीप में नौ अलग-अलग वर्ष हैं। उनके नाम ये है :—भारतवर्ष, किम्पुरुषवर्ष, हरिवर्ष, रम्यवर्ष, हिरण्मयवर्ष, उत्तरकुरवर्ष, इलावृतवर्ष, मद्राश्ववर्ष और केतुमालवर्ष। भारतवर्ष जम्बुद्वीप में दक्षिण की ओर स्थित है। इसी प्रकार से मेरु को बेष्टन कर के और वर्ष भी स्थित हैं। इलावृत बीच में स्थित है, जिसमें मेरुपर्वत खड़ा है। भारतवर्ष के पुनः नौ विभाग शास्त्रों में पाये जाते हैं। उनके नाम इस समय एशिया, अफ्रिका, अमेरिका आदि कुछ भी हों, प्राचीन काल में उस सब भूभाग के विभागों के नाम इस प्रकार थे :—इन्द्रद्वीप, कशेरुमान, ताम्रवर्ण, गभस्तिमान, नागद्वीप, सौम्य, गांधर्व, वरुण, और आर्यावर्त्त; जिसको शास्त्रों में केवल 'यह भूमि' कहा है। क्योंकि इसी भूमि में रहकर पूज्यपाद महर्षियों ने जगत् के पथप्रदर्शक का कार्य आरंभ किया था। स्थानांतर में इसको भारतद्वीप भी कहा है।[5] इसमें शङ्का यह हो सकती है कि, शास्त्रों में यदि हमारी मृत्युलोक रूपी पृथ्वी को भारतवर्ष कहा है, तो पुनः हिंदुस्थान को भारतवर्ष अथवा भारतद्वीप क्यों कहा है? इसका स्वतंत्र नाम क्यो नहीं दिया? इस श्रेणी की शङ्काओं का सरल समाधान यह है कि, जिस प्रकार चतुर्दश भुवनों में से भूर्लोक एक भुवन है और भूर्लोक

का भारतवर्ष एक-चौरासीवाँ हिस्सा है; तो भी शास्त्रों में अनेक स्थलों पर हमारी भारतवर्ष रूपी पृथ्वी को भूर्लोक कहके अभिहित किया है। इसी प्रकार यद्यपि भारतवर्ष समग्र मृत्युलोक का ही नाम है, परंतु मृत्युलोक का शिरोभाग होने के कारण हिंदुस्थान को भारतवर्ष कहते हैं और शास्त्रों में जहाँ मृत्युलोक के नौ खण्डों के अलग-अलग नाम गिनाये हैं, वहाँ आठ स्वतंत्र स्वतंत्र नाम कहे हैं, किंतु नवमका कोई स्वतंत्र नाम न देकर मूल नाम से ही उसकी महिमा स्थापन की है।[6]

चतुर्दशभुवन का मानचित्र वित्त के सम्मुख रखकर विचार करने के लिए यही इंगित किया जा सकता है कि, समग्र चतुर्दश भुवनों में से एक छोटा सा अंश भारतवर्ष अर्थात् हमारी पृथ्वी है, जिसको मृत्युलोक कहते हैं और जिसमें मनुष्य वास करते हैं। बाकी सब भुवन, बाकी सब लोक और बाकी सब वर्ष देवलोक हैं और उनमें किसी-न-किसी प्रकार के देवशरीरधारी जीव वास करते हैं मनुष्यशरीर में ओर देवशरीर में बहुत ही पृथकता है। मनुष्यशरीर का प्रधान उपादान पृथ्वीतत्त्व हे और देवशरीर अनेक प्रकार के होने पर भी उनका उपादान तैजस है। इस कारण मनुष्यगण अपनी साधारण दृष्टि से देवशरीर में दर्शन-नहीं कर सकते। यदि भोग-विचार से ब्रह्माण्ड के जीव शरीरों का विचार किया जाये, तो यह मानना पड़ेगा कि, उन्नत जीवशरीर के चार भेद हैं। यथा—दैवीशरीर, नारकीय शरीर, प्रेतशरीर और मनुष्य शरीर है। नहीं तो, वस्तुतः पिण्ड तीन ही होते हैं। यथा—देवपिण्ड, मानवपिण्ड और सहजपिण्ड।[7] सहजपिण्ड चार प्रकार के हैं। यथा—उभिदज्जशरी, स्वेदजशरीर, अण्डज शरीर और जरायुजशरीर। इन चतुर्विधभूत संघों की स्थिति हमारे मृत्युलोक में तो है ही, किंतु देवलोक में भी है। चतुविध भूतसंघ सहजपिण्ड के अंतर्गत हैं और प्रेतपिण्ड, नारकीयपिण्ड तथा असुरपिण्ड, देवपिण्ड के अंतर्गत है। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि मनुष्य शरीर कर्मभूमि भारत वर्ष में ही, उत्पन्न होता है और मनुष्य शरीर में ही कर्मभोग के साथ ही साथ सद्सत्-प्रारंब्ध संग्रह करने का उत्तम अवसर मिललता है। भारतवर्ष के चारों ओर पृथ्वी से लेकर अंतरिक्ष में कुछ दूरतक प्रेतलोक का स्थान है। प्रेतलोक में कुछ दिनों के लिये ऐसे जीवों को स्थान मिलता है, जो मृत्यु के अनंतर वासनाजाल में बँधे हुए जकड़े रहते हैं। नरकलोक का स्थान भारतवर्ष के नीचे और लवण समुद्र के तीन पर माना गया है। उसके पास ही भगवान् यम-धर्मराज की राजधानी है, जिसको पितृलोक कहते है। भगवान् यमधर्मराज मृतात्माओं के सद्सत्-कर्मों के अनुसार उनको नाना लोकों में भोग के लिये भेजते हैं। नाना प्रकार के नरकलोक भगवान् यमधर्मराज के अधीन कारागार हैं। जैसे राजधानियों में कारागार में (जेल) रहते हैं, वैसे ही ब्रह्माण्ड में नाना श्रेणी के नरलोक, जो पितृलोक के पास ही भूर्लोक में स्थित हैं, वे जीवों के असत्-कर्मों के भोग भोगने के लोक हैं।

विभिन्न नरक लोकों की सीमा पर ही लवण-समुद्र है, जो जम्बुद्वीप के चारों ओर है। यह लवण समुद्र हमारी दुनिया के चारों ओर का जलमय समुद्र नहीं है, जो पृथ्वी ग्रह का एक अंश है; यह लवण समुद्र जम्बुद्वीप के चारों ओर का विशिष्ट वातावरण रूपी समुद्र है, जिससे जम्बुद्वीप घिरा हुआ है।

पदार्थ विद्या सेवी सज्जनों के विचार में सहायता देने के अर्थ ब्रह्माण्ड के मानचित्र के दो-चार विषय अनुशीलन करने योग्य हैं। शास्त्रों में जो मेरुपर्वत का वर्णन आया है, वह स्थूल पर्वत नहीं है; वह सूक्ष्म शक्तिमय पर्वत है। जैसे, मनुष्य के शरीर का मेरुदण्ड मनुष्य शरीर को धारण करता है, वैसे ही स्थूल सूक्ष्मात्मक ब्रह्माण्ड दैवीपर्वत मेरु धारण किया करता है। दूसरी ओर स्थूल ग्रह-उपग्रह समूह सूक्ष्म दैवी राज्य को कुछ बाधा नहीं दे सकते। वे अपने-अपने आवर्त पर घूमते हुए अपनी-अपनी नियमित शक्ति से कार्य करते रहते हैं। परंतु शास्त्रों का यह सिद्धांत है कि, स्थूल ग्रह-उपग्रह आदि स्थिति प्रधानतः भूः और भुवः इन दोनों लोकों में ही है। केवल ध्रुवलोक की स्थिति भुवः और स्वर्लोक की सन्धि में है।[8] सब सूक्ष्म दैवी लोकों तक इन स्थूल लोकों की गति और स्थिति नहीं है। जिस प्रकार भारतवर्ष के लोग अन्य दैवी वर्षों में नहीं जा सकते, उसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड के अनेक अधिकार के अनेक लोक हैं; जिन सबमें सबकी गति नहीं हो सकती। सबसे ऊपर के तीन लोक तो इतने उन्नत हैं, जहाँ उन्नत श्रेणी के देवता भी नहीं पहुँच सकते। इस विशाल और अलौकिक दैवी ब्रह्माण्ड के मानचित्र को ज्ञाननेत्र के सम्मुख रखकर हमारे मृत्युलोकरूपी भारतवर्ष का मानचित्र विचारने योग्य है और तदनंतर इसका इतिहास मनन करने योग्य है।

संदर्भ

1. ध्रुव उवाच—आधारभूतं जगतः सर्वेषामुत्तमोत्तमम्।
प्रार्थयामि प्रभा स्थानं त्वत्प्रसादादतोऽव्ययम्।।
श्रीभगवानुवाच—त्रैलोक्यादधिके स्थाने सर्वताराग्रहाश्रयः।
भविष्यति न संदेहो मत्प्रसादाद्भवान् ध्रुव।।
सूर्यात्सोमात्तथा भौमात् सोमपुत्राद्बृहस्पतेः।
सितार्कतनयादीनां सर्वर्क्षाणां तथा ध्रुव।।
सप्तर्षीगामशेषाणां ये च वैमानिका सुराः।
सर्वेषामुपरि स्थानं तब दत्तं मया ध्रुव।।

—विष्णुपुराण अं. 1, अ.12

मेरोरुभयतो मध्ये ध्रुवतारे नभः स्थिते।
निरक्षदेशसंस्थानामुभये क्षितिजाश्रिते।।
भचक्रं ध्रुवयोर्बद्धमाक्षिप्तं प्रवहानिलैः।
पर्यैत्यजस्र तन्नद्धा ग्रहकक्षा यथाक्रमम्।।

—सूर्यसिद्धान्त, अ. 12

प्रवहानिला यथाः—
आमेधाद्भास्करात्सोमान्नक्षत्राद्ग्रहमण्डलात्।
ऋषिसप्तकनिर्देशादाध्रुवान्तं च सप्तमः।।

—तन्त्रालोकः।

2. जम्बुद्वीपः समस्तानामेतेषां मध्यसंस्थितः।
तस्यापि मेरुमैत्रेय मध्ये, कनकपर्वतः।।

—विष्णुपुराण, अं. 2, अ. 1

चतुराशीति साहस्रो योजनैरस्य चोच्छ्रयः।
प्रविष्टः षोडशाधस्ताद् द्वात्रिंशन्मूर्ध्नि विस्तृतः।।
मूले षोडशसाहस्रो विस्तारस्तस्य सर्वशः।
भूपद्मस्यास्य शैलेशः कणिकारसमं स्थितः।।

—विष्णुपुराण, अं. 2, अ. 2

3. जम्बुद्वीपः प्लक्षद्वीपः शाल्मलीद्वीपसंज्ञकः।
कुशद्वीपः क्रौश्चद्वीपः शाकद्वीपश्च पुष्करः।।
तेषाञ्च परिमाणं तु द्विगुणं चौत्तरोत्तरम्।
समन्ततश्चोपकृप्तं बहिर्मार्गक्रमेण च।।
क्षारोदेक्षुरसोदौ च पुरोदश्चेति ते घृतोदकः।
क्षीरोदो दधिमण्डोदः शुद्धोदश्चेति ते स्मृताः।।

—देवीभागवत, स्कं. 5 अ. 4

द्वीपात्तु द्विगुणो द्वीपो जम्बुप्लक्षोऽथ शाल्मलिः।
कुशः कोञ्चस्तथा शाकः पुष्करद्वीप एव च।।
लवणेक्षु सुरासर्पिर्दधिदुग्धजलाब्धिभिः।
द्विगुणैर्द्विगुणैर्वृद्ध्या सर्वतः परिवेष्टिताः।।

—मार्कण्डेयपुराण, अ. 54

जम्बुप्लक्षाह्वयौ द्वीपौ शाल्मलिश्चापरो द्विज।
कुशः क्रौञ्चस्तथा शाकः पुष्करश्चैव सप्तमः।।
एते द्वीपाः समुद्रैस्तु सप्तसप्तभिरावृताः।
लवणेक्षुसुरासर्पिर्दधिदुग्धजलैः समम्।।

—विष्णुपुराण, अं. 2, अ. 2

4. मेरुस्तु शुशुभे दिव्यो। राजवत् स तु वेष्टितः।
आदित्यतरुणाभासो विधूम इति पावकः।।
विस्ताराद्द्विगुणाश्चास्य परीणाहः समन्ततः।
स पर्वतों महादिव्यो दिव्यौषधिसमन्वितः।।
नानावर्णैः समः पार्श्वैः प्रजापतिगुणान्वितः।
नाभीबन्धनसम्भूतो ब्रह्माण्डेऽव्यक्तजन्मनः।।
पर्वतः श्वेतवर्णस्तु ब्राह्मण्यं तस्य तेन वै।
पीतश्च दक्षिणोनासौ तेन वैश्यत्वमिष्यते।।
भृङ्गिपत्रनिभश्चैव पश्चिमेन समन्वितः।
तेनास्य शूद्रता सिद्धा मेरोर्नामार्थकर्मतः।।

पार्श्वमुत्तरतस्तस्य रक्तवर्णः स्वभावतः।
तेनास्य क्षत्रभावः स्यादिति वर्णाः प्रकीर्तिताः।।

—मत्स्यपुराण, अ. 113

मध्योर्ध्वाधः समुद्वृत्तशरावचतुरस्रकः।

'समुद्वृत्त' इति। सभ्यगष्टाश्रतापत्तिपूर्व ऊद्‌र्ध्ववृत्तः, तेनाधी ब्रह्मभागे चतुरस्त्री मध्ये विष्णुभागेऽष्टास्रो रुद्रभागे च वृत्त ऊद्‌र्ध्वे मस्तके च शरावाकृतिरित्यर्थः।

—तन्त्रालोकः, अष्टमाह्निकम्।

5. मेर्वधो लवणाब्ध्यन्तं जम्बुद्वीपः समन्ततः।
लक्षमात्रः स नवधा जातो मर्यादपर्वतैः।।
तत्रैव दक्षिणे मेरोर्हिमवान् यस्य दक्षिणे।
भारतं नवसाहस्रं चापवत्कर्मभोगभूः।।
भारते नवखण्डञ्च सामुद्रेणाम्भसास्त्र च।
स्थलं पञ्चशती तद्वज्जवं चेति विभज्यते।।

'सामुद्रेणाम्भसा' इति अर्थादष्टधाप्रसूतेन, तथात्वेनैव नवधात्वस्य सम्पत्तेः। यथा हि जम्बुद्वीपः पर्वतैरष्टाभि विभक्तो नवधा जातः तथैतदपि समुद्रैः, किंतु एते पूर्वापरायता एव सर्वे इति।

तन्त्रालोकः, अष्टमाह्निकम्।

6. अहो भुवः सप्तसमुद्रवत्या द्वीपेषु वर्षेष्वधिपुण्यमेतत्।

विष्णुभागवत, स्कं. 5 अ. 1

7. तीनों पिण्डों का विषय दैवीमीमांसादर्शन के उत्पत्तिपाद में दृष्टव्य है।
8. सर्वेषामुत्तरे मेरुः लोकालोकस्य दक्षिणे।।
त्रीन् लोकान् प्रति सामान्यात्सूर्यो यात्यविलम्बतः।
अचिरात्तु प्रकाशेन अवनात्तु रविः स्मृतः।।

—मत्स्यपुराण, अ. 114-124

3

जगद्गुरु भारतद्वीप

भारतवर्षरूपी मृत्युलोक के अन्तर्गत भारतद्वीपरूपी मोक्षभूमि (हिन्दुस्थान) में ही जिस प्रकार आदि मानव-गण आदि सृष्टि में उत्पन्न हुए थे, उसी प्रकार भारतखण्ड के अग्रजन्मा ब्राह्मणगण ही आदि-गुरुपदवाच्य हो सकते हैं और मानव सभ्यता का आदिगुरु भारतद्वीप ही है।

मनुष्यों की आदि सृष्टि कल्पान्तर में भारतद्वीप रूपी हिन्दुस्थान में ही होती है और भारतद्वीप के अग्रजन्मा ब्राह्मणगण ही मनुष्य जाति के आदि पथ-प्रदर्शक जगद्गुरुरूप हैं। इसके बहुत कुछ प्रमाण सनातनधर्मियों के धार्मिक साहित्य में मिलते हैं, जिनका वर्णन पहिले आ चुका है। परन्तु यह सिद्धान्त सर्ववादिसम्मत है; क्योंकि पृथ्वी भर के आधुनिक विद्वज्जन भी इस विषय में एकमत हैं।

आर्यजाति और आर्यसभ्यता का केन्द्र भारतवर्ष है। इसको प्राचीन और नवीन इतिहासकोविद सब एकवाक्य होकर स्वीकार करते हैं। प्रोफेसर मैक्समूलर आदि युरोपीय विद्वानों की यह सम्मति है कि, सभ्यता के विचार से हिन्दुस्थान का गौरव सर्वोपरि है। सर जॉन बुडरफ, प्रोफेसर हीरेन आदि विद्वान् कहते हैं कि, धार्मिक तत्त्व के अनुसंधान में भारतवर्ष ही जगद्गुरु हैं। जर्मन दार्शनिक फ्रेडरिक स्लीगैल, शोपेनहार आदि की सम्मति यह है कि, ईश्वरतत्त्व के प्रचार करने में भारतवर्ष के ग्रंथ ही सर्वोपरि हैं। फ्रांस के प्रोफेसर क्रूजर, प्रोफेसर हाल, डॉक्टर हण्टर आदि विद्वान् एक वाक्य होकर घोषित करते हैं कि, भारत की सभ्यता और शिक्षा जगद्गुरु पदवी के योग्य है। प्रोफेसर डेविंस, प्रोफेसर मैक्समूलर, प्रोफेसर थार्नटन आदि भारत के दर्शनशास्त्रों को आदि और सर्वोपरि बताते हैं। डॉक्टर हैंकिन कहते हैं कि, जर्मथियोरी (कृमिविज्ञान) भारतवासी पहिले से जानते थे। संस्कृत भाषा की पूर्णता, संस्कृतव्याकरण की पूर्णता, देवनागरी अक्षरों की पूर्णता, अंकशास्त्र का आविष्कार, रेखागणित, ज्यामिति, बीजगणित, फलित ज्योतिष, चिकित्साशास्त्र, संगीतशास्त्र आदि विद्याओं के प्रथम आविष्कर्ता भारतवासी हैं। इसको अनेक पश्चिमी विद्वानों

ने ऊद्र्ध्वबाहु होकर अपने-अपने ग्रंथों में कहा है। जिसके कुछ प्रमाण नीचे दिये गये हैं। दूसरी और शिल्प के आविष्कार के विषय में स्थापत्यशिल्प (इञ्जिनियरिंग), तन्तुवाय शिल्प, कागजनिर्माण शिल्प, लोहा सोना आदि धातुओं के व्यवहार का शिल्प, युद्ध के जहाज आदि निर्माण का शिल्प, वनस्पति आदि के व्यवहार का शिल्प, इन सबके आविष्कर्ता भारतवासी ही थे। इस विषय में युरोप और अमेरिका के सब विद्वान् एकमत ही हैं। अतः भारत के आदि जगद्गुरु होने में प्राचीन और नवीन इतिहास एक वाक्य है।

पूज्यपाद महर्षियों का यह सिद्धांत है कि, प्रकृति के वैभवों की नकल जिस विद्या के द्वारा की जाती है, उसको शिल्प (आर्ट) कहते हैं। जिस विद्या के सूक्ष्म प्रकृति का रहस्य प्रकाशित हो और जिस विद्या के प्रभाव से प्रकृति के विशेष अंगों को अपने अधीन लाकर उनसे काम लिया जाये उसको पदार्थ विद्या (साइंस) कहते हैं। और जिस विद्या के द्वारा ज्ञानरूपी तीसरा नेत्र खुल जाता है और जो विद्या प्रकृति राज्य के परपार तक पहुँचा देती है, उसको दर्शन (फिलासफी) कहते हैं। इन तीनों विद्याओं का भारतवर्ष में पूर्ण विकास हुआ था। इसको चिन्ताशील सब देश के विद्वान् स्वीकार करते हैं। वैदिक साहित्य और पौराणिक साहित्य का अनुशीलन करने से तुरन्त ही प्रमाणित हो जायेगा कि, मनुष्य जीवन में यथेष्ट सुख प्राप्ति और मनुष्य समाज की सभ्यता की सुरक्षा के लिये जितने शिल्प की आवश्यकता थी, वह सब प्राचीनकाल में भारतद्वीप में अच्छी तरह हुआ था। जब अङ्कशास्त्र, आयुर्वेदशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र संगीतशास्त्र, रसायनशास्त्र आदि पदार्थविद्या अर्थात् साइन्स संबंधी शास्त्रों का आविष्कर्ता भारतद्वीप ही है, तब कौन नहीं स्वीकार करेगा कि, साइन्स के भी आविष्कर्ता आदि गुरु ब्राह्मण ही थे और अन्तर्जगत् संबंधी दर्शनशास्त्रों की पूर्णता तो भारतद्वीप में ही हुई थी और अब भी विद्यमान है। वैदिक सप्तदर्शनों के सम्मुख अभी तक पृथ्वी की सब फिलासफियाँ हाथ जोड़कर नतशिर होकर शिक्षा प्राप्त किया करती हैं। भेद इतना ही है कि, पूज्यपाद महर्षियों ने उसी विद्या के आविष्कार में ध्यान दिया था, जो रचनात्मक हो और सृष्टि की रक्षा के काम में आवे। आजकल प्रायः ध्वंसात्मक विचारों के साथ दूसरी जाति का नाश करने के अभिप्राय से आर्ट और साइन्स की उन्नति होती है। फिलसफी की तो उन्नति इस नवीन समय में थोड़ी हुई है। भारत के दर्शनशास्त्रों का रहस्य इस समय के विद्वानों को समझना ही दुर्लभ हो रहा है।

दूसरा विचार ने योग्य विषय यह है कि, पूज्यपाद महर्षियों ने मनुष्य की सभ्यता की सुव्यवस्था इस ढंग पर की थी कि, उसकी सारी शृंङ्खला जहाँ तक सम्भव हो, प्रकृति के एक स्वर में मिली रहे। मनुष्य समाज में प्रकृति विरुद्ध अस्वाभाविकता उत्पन्न न होने पावे। मनुष्य में दिन नि बहिर्दृष्टि हटकर अन्तर्दृष्टि बढ़ती रहे। मनुष्य पाशविक वृत्तियों को भूलकर दिन प्रतिदिन आत्मपरायण होता रहे। मनुप्जाति उच्छृंङ्खल न होकर दिन-प्रतिदिन समाहित होती रहे। सभ्य मनुष्य समाज अपने

अभावों को संकोच करता हुआ राक्षसभाव और असुरभाव को घटाकर क्रमशः दैवीसम्पत्ति का अधिकारी बने। इन सब बातों पर विचार करने से चिन्ताशील व्यक्तिमात्र समझ सकेंगे कि, त्रिकालदर्शी पूज्यपाद महर्षियों के द्वारा प्रचारित सभ्यता का मौलिक सिद्धांत क्या था।

कोई-कोई यह शङ्का करते हैं कि, जब भाषा की पूर्णता, साहित्य की पूर्णता, लेखन प्रणाली की पूर्णता, कवित्व शक्ति की पूर्णता, व्याकरण शास्त्र की पूर्णता, अङ्कशास्त्र की पूर्णता, दर्शनशास्त्र की पूर्णता आदि मनुष्य को सभ्य बनाने वाले सभी शास्त्रों की पूर्णता के भारतद्वीप के मानवों-ब्राह्मणों में पाये जाते हैं; यह भी देखा जाता है और इतिहास से सिद्ध भी है कि भारतद्वीप की संस्कृत भाषा ही पृथ्वी की सब भाषाओं की माता है और गणित शास्त्र, ज्यौतिषशास्त्र, संगीतशास्त्र, वैद्यशास्त्र, कृषिशास्त्र, रसायनशास्त्र आदि मनुष्य को मनुष्य बनाने वाले सब शास्त्र भारतद्वीप से ही निकले हैं; दूसरी ओर जब यह देखा जाता है कि, क्या ईश्वरतत्त्व निरूपण करने में, क्या दार्शनिक तत्त्व निरूपण करने में और क्या पदार्थ विद्या और शिल्प के रस्योद्‌घाटन में भारतद्वीप के आदि मानव ही जगत् के पथप्रदर्शक हैं, तो उनमें इतिहास लिखने की शृंङ्खलाबद्ध शैली क्यों नहीं पायी जाती, जैसी आजकल सभ्य जगत् में प्रचलित है? इस श्रेणी की शंकाओं का समाधान अति सुगम है। जब जगद्‌गुरु हिन्दुस्थानवासियों का यह दृढ़ सिद्धांत है कि सृष्टिप्रवाह अनादि अनन्त है, काल अनन्त है, ब्रह्माण्ड का विस्तार साधारण मनुष्यबुद्धि में नहीं आ सकता और मनुष्यसृष्टि हर चतुर्युगी में नयी बना करती है, प्रत्येक मन्वन्तर में सृष्टि की शृंङ्खला एक बार ही बदल जाती है, कल्पकल्पान्तर में सृष्टि बार-बार उत्पन्न होती और नष्ट होती रहती है, उसके पृथक्-पृथक् हिसाब आर्यों के नेत्रों के सम्मुख रहता है और प्रत्येक आर्य मानव अपनी नित्य सन्ध्या के समय में और नैमित्तिक याग के समय में जम्बुद्वीप से लेकर भारतद्वीप के खण्डों तक का हिसाब और कल्प से लेकर मास, तिथि, दिन आदि काल का हिसाब अपने सङ्कल्प के साथ चित्तपटल में रखता है, तो वे कैसे हजार दो हजार वर्ष की मनुष्य निर्मित कालगणना और थोड़े बहुत चरित्रों का वर्णन करके तृप्त हो सकते हैं? यही कारण है कि, भारतखण्ड की चातुर्वर्ण्य की प्रजा कभी भी नाशमान् लौकिक इतिहास के फेर में नहीं पड़ी है। जगत के आदि गुरु पूज्यपाद महर्षिगण लौकिक इतिहास को लिपिबद्ध करना अनावश्यक समझते थे। हाँ, वे अवश्य ही मनुष्य की यथार्थ शिक्षा के लिये जिन-जिन चरित्रों का वर्णन करना उचित समझते थे, उनको गाथारूप से पुराणादि शास्त्रों में प्रकाशित कर गये हैं। लौकिक मनुष्यगाथा वे रामायण-महाभारतादि इतिहासों में और दैवीचरित्रों को अधिक रूप से मार्कण्डेय, भागवत आदि पुराणों में लोककल्याणार्थ सन्निवेशित कर गये हैं। जब तक संस्कृत साहित्य रहेगा, ये गाथाएँ मनुष्य-चरित्र-गठन में सहायक बनी रहेंगी।

Referce

ANTIQUITY OF CIVILISATION

"No nation on earth can vie with the Hindus in respect of the antiquity of their civilisation and the antiquity of their religion," says Count Bjornstjerna; to which H. R. Hall adds :

"India must have been one of the earliest centres of human civilisation."

"If I were to look over the whole world to find out the country most richly endowed with all the wealth, power and beauty that Nature can bestow in some parts a very paradise on earth I should point to India," says Max Muller. "If I were asked under what sky the human mind has most fully developed some of its choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems of life and found solutions on some of them which well deserve the attention even of those who have studied Plato and Kant I should point to India. And if I were to ask myself from what literature we, here in Europe, who have been nurtured almost exolusively on the thoughts of the Greeks and Romans and of on Semitic race the Jewish, may draw that corrective which is most wanted in order to make our inner life more perfect more comprehensive, more universal, in fact, more truly humane, a life, not for this life only, but a transfigured and eternal life...............again I should point to India."

"When Greece and Italy those cradles of European civilisation nursed only the tenets of the wilderness, India was the seat of wealth and grandeur" says. Thorton, the famous writer of the "History of the British Empire in India."

CRADLE OF CIVILISATION

"It is there (India) we must seek not only for the cradle of the Brahmin religion, but for the cradle of high civilisation of the Hindus, which grandually extended itself in the Weast to Ethiopia, to Egypt, to Phoenecia, in the East to Siam, to China, and to Japan, in the South to Ceylon, to Java, and to Sumatra, in the north to Persia, to caldaea and to Colchis, whence it came to Greecend to Rome and at length to the remote abode of the Hyperboreans" says, Count Bjornstjerna, in the "Theogony of the Hindus."

"They (Hindus) could not have entered form the West, because it is clear that the people who lived in that direction were descended from these very Aryans of India. Nor could the Aryans have entered India from the North or North-West, because we have no proof from history or philosophy that there existed any civilized nation with a language and religion resembling theirs which could have issued from either of the quarters at an early period and created Indo-Aryan civilisation," observes Prof. Muir.

The German statesmen Dr. Margaret Stigeman says : "We the people in the West have seen the fall of our civilisation in the Great War. There must be something wrong in a culture, which was unable to avoid the catastrophe. Our philosophy and culture and our so-called spiritual works have had their very foundations shattered and we find oursleves grasping on the edge of an abyss. The sciences, the arts, the even philosophical speculations, in fact, all that our civilisation has been able to offer have failed to satisty our wants. We need a new foundation. We turn our eyes to the East (India) where the Sun rises, longing for wisdom that would bring our various tendencies to the unification of right mental attitude and that would thus tune our discordant diversities into harmonious oneness."

INDIA : A SOURCE OF KNOWLEDGE

"India is the source from which not only the rest of Asia, but the whole western world derice their knowlegde and their religion." syas Prof. Heeren in his Historical Researches; to which Sir John Woodroff adds: "The uniqueness of India consists in her religion of eternity. Indian doctrine is not onesided, but has a time-religion also. The glory of India is that of a high spirituality, a unique genius for grasping and expounding the realities behind the phenomenal world and the innermost meanings of life."

HINDU CULTURE

The eminent French scholar Cruzer says : "If there is a country on earth which can justly claim the honour of having been the cradle of the human race or at least the scene of a primitive civilisation, the successive developments of which carried into all parts of the ancient world and even beyond, the blessings of knowledge which is the second life of man that country assuredly is India."

"Hindus have made a language, a literature and a religion of rare stateliness" says Dr. W.W. Hunter.

Dr. M. Mathenson adds : 'There is no intellectual truth in the West which has not its earliest discussion in the East and there is no modern solution of that problem, which will not be found anticipated in the East."

HINDU THEOLOGY

The German Philosopher, Frederick Schlegel syas : "Indians possessed a knowledge of the true God," Prof. Max Muller repeats: "The rest and peace which are required for deep thought or for accurate observation of the movements of the soul were more easily found in the silent forests of India than in the noisy streets of so called centres of civilisation." The great German philosopher Schopenhaur charmed with the beautiies of Upanishads remarks : "In the whole world, there is no study so beneficial and so elevating. as that of the Upanishads. It has been the solace of my life : it will be the solace of my death."

To this countess of Jerisay adds: "The doctrines of the Upanishads satisfy the unmost longings of the mind. The acute logic of the ancient Rishis has raised a net work of arguments to support the huge fabric of Hindu thought. The doctrine of Karma offers the simplest and most reasonable answer to the obvious inequalities and striking controls in this visible world, of happiness and suffering."

HINDU PHILOSOPHY

The Indian philosophical systems are prefect, original and divided in seven schools. "All of them are based on unchallenged truths of their own," says Prof, Davis in his "Hindu Philosophy." "The Philosophy of Kapila" he ovserves, 'Is the first recorded system of Philosophy in the world. In India philosophy is practical and inseparably connected with religion. In Europe, it is theoretical and speculative."

GERM THEORY AND HINDUS

The Germ theory of the modern science was well known to the sages of India. All of their scriptures as well as the Vedic philosophical systems deal with the "Swedaja" kingdom of Creation, i. e., the Germ kingdom.

The great scientist employed by the Imperial Government of India, Mr. Hankins

says: "I have discovered that the water of the Ganges is hostile to the growth of the cholera microbe, not only owing to the absence of food material, but owing tothe actual presence of an antiseptic that has the power of destroying this microbe. How did the Hindu sages find out the water's secret in those ancient ages? Had the germ-scientists existed then? we do not know. We know that they had a civilisation long before we emerged from savagery."

SANSKRIT LITERATURE

Max Muller adds : "Whatever sphere of human mind you may select for your special study, whether it be language or religion, or mythology, or philosophy, whether it be laws and customs, primitive arts and primitive sciences every where you have to go to India, whether you like it or not, because some of the valuable and most instructive materials in the history of man are treasured up in India only."

Sir William Jones further adds : "It (Sanskrit) is of a wonderful structure more perfect than the Greek, more copious than the Latin, and more exquisitely refined than either." While, Prof. Max-Muller declares it to be "the most wonderful language" and adds : "We find Sanskrit as a perfect literary language. That the whole of Sanskrit language and the whole of Sanskrit literature mind, a literature extending over three thousand years and larger than the ancient literature of either Greece or Romen is more, I believe, than the whole classical literature of Greece and Italy put together," Moreoverm he says : "What then is it that gives to Sanskrit its claim on our attention, and its supreme importance in the eyes of the historian?" "First of all its antiquity, for we know Sanskrit at na earlier period than the Greek. But, what is far more important than its mere chronological antiquity is (the) antique state of (its) preservation." "Nor is that all; for even that Proto Aryan language...... is clearly the result of a long, long process of thought. This is what I call history in the true sense of the word, something really worth knowing."

THE VEDAS

Besides, as to the real worth and historical value of the vast Vedio Literature, Max Muller states: "The Veda has a two-fold interest. It belongs to the history of the world and to the history of India. In the history of the world, the Veda fills a gap which no literary work in any other language could fill. It carries us back to times of which we have no records anywhere, and gives us the very words of a generation of men, of whom otherwise we could form but the vaguest estimate by means of conjectures and inferences. As long as man continues to take relics of former ages, the first place in that long row of books which contains the records of the Aryan branch of mankind, will belong for ever to the Rig-veda."

And again he says, "Sanskrit Literature, if studied only in the right spirit, is fulll of human interests, full of lessons which even Greek could never teach us."

A Pictet observes that Sanskrit is "the most beautiful perhaps of all languages, the language already perfected to a very high degree." Other erudite scholars also write as follows in respect of Sanskrit : Prof. H. H. Wilson says, "It is impossible to conceive a language so beautifully musical, or so magnificently grand, as that which contains many of the verses of Bhavabhuti and Kalidas."

Prof. Whitney observes : "Its (Sanskrit's) exceeding age, its remarkable conservation of primitive material and forms, its unequalled transparencey of structure, give it an indisputable right to the first place among the tongues of the Indo-European family."

And as regards the vast extent of Sanskrit Literature, Max-Muller writes : "It is diffcult to give an idea of the enormous extent and variety of that literature." While, Sir William Jones, says, "Wherever we direct our attention to Hindu Literature; the notion of infinity presents itself; and surely, the longest life would not suffice for a single perusal of works, that rise and swell protuberant like the Himalayas. above the bulkiest compositions of every land, beyond the confines of India."

In the same way, Sir Monier Williams remarks : "An adequate idea of the luxuriance of Sanskrit literature can with diffeculty by conveyed to Occidental scholars. In India, Literature, like the whole face of Nature, is on a gigantic scale."

"There is in fact, an immensity of bulk about this (Sanskrit Poetry), as about every other department of Sanskrit Literature, which to a European mind, accustomed to a more limited horizon, is absolutely bewildering."

"The intellectual life" says Prof. Weber "was so stirring that even kings, queens and princes took active part in poetical composition, not to speak of other persons, This, accounts still further for the superiority maintained and exercised by the Brahmans over the rest of the people."

"Sanskrit is the greatest language in the world." says Prof. Max Muller. "Sanskrit is more perfect and copious than Greek and Latin," adds Prof. Bopp in the "Edinburgh Review." Sanskrit is the origin of modern languages of Europe," observes M. Dubois. "In point of fact, Zend is derived from Sanskrit" writes Prof. Heeren, in his "Historicaal Researches." "Sanskrit was at one time the only language of the world." adds Prof. Bopp. "All languages of the Indo-European Family are derived from Sanskrit" says Dr. Ballantyne.

"Justly it is called Sanskrit, i.e., perfect or finished" concludes Schlegel in his "History of Literature."

SANSKRIT GRAMMAR

"Panini is now universally admitted for his shortest and fullest Grammar in the world. It was in philosophy as well as in Grammar that the speculative Hindu mind attained the highest pitch of its marvellous fertility." Says Prof. Weber. "No nation but the Hindu." Prof. Wilson adds: "has been yet able to discover such a perfect system of phonetics," Prof. Tompson remarks: "The creation of consonants in Sanskrit is a unique example of human genius." Prof. Max Muller adds: "An entire language based on a few roots is a truth not known to Europe before the 16th century (A.D.) In India the Brahmans knew it long, long ago." Prof. Macdonell says: "We (Europeans) are still behind in making even our alphabet a perfect one."

HINDU MATHEMATICS

Dr. Morgan says : "Indian arithmetic is that which we now use."Dr. Von Schrader opines that Pythagoras learnt his Mathematics from India, Sir john Woodroff says:"Geometry was studied by the Hindus from the date of Sulva Sutras of Baudhayana, pythagoras learnt his Geometry in India,"

Prof, Cajori says: "The Indians were the real inventors of Algebra, From india, the science went to Arivia and thence to Europe,' To this Colebrooke adds: "Mahamad Ibu Musa first published Algebra among the Arabs, He had compiled his work from the Indian Astronomical works during the rule of Al Mansu (749-776 A.D.)" Hindus are superior to the Greeks in the perfection of Algebra, "says Elphinstone

HINDU ASTRONOMY AND ASTROLOGY

Bailly in his "History of Astronomy" says: "India attained great distinction in Geometry and Astronomy (3,000 B.C.)

Colebrooke notes the following in connetion with the Hindus Astronomy:-

"In the first of their progress, all other nations were in still greater ignorance. It shows a knowledge of discoveries not made even in Europe until recently."

"Two extraordinary points of the astronomy are : (1) Procession of the equinoxes : in it they are more correct than Ptolemy; (2) Diurnal revolutions of the Earth on its axis." Prof. Playfair in his Memor on the Hindu Trigonometry says: "Hindus anticipated modern Trigonometry divising the sines and versed sines unknown to the Greeks." Wilkinson says in his translation of Bhaskara Goladhyaya: "Bhaskara (114 A.D.) had discovered 500 years before Newton, the principle of the differential calculus and its application to astronomical problems and comutations."

Brahmagupta (628 A.D.) says: "All heavy things fall to the ground by the law of Nature. It is the nature of the earth to attract and keep things." To this Varahamihir adds : "The earth attracts that which is upon her." Aryabhutta hold: "The earth revolves, the heaven does not turn round as appears to our eyes."

"Hindus know the procession of the equinoxes and the heliacal rising of Canopus. It is round (Brahmanda) the mundane egg or ball. The rotundity of the earth appears from the circular shadow cast on the Moon. Mahabharata. Bhaskaracharya compares the earth to a "Kadamaba flower" says Bhaskara. "The Sun is the upholder of the earth" he adds : "The earth moves though it appears still." Aryabhutta.

Bhaskara says : "When it is morning at Lanka, it is midnight at Rome."

"The moon is lighted by the Sun." Rigveda.

HINDU MEDICAL SCIENCE

As regards medicine, Dr. Wise says : "It is to the Hindus we owe the first system of medicine." Dr. Wilson says : "Hindu knowledge of medicine was very extensive. In fact, they gave early lessons of Europe." Dr. Royle shows after an exhaustive inquiry that much of the Materia Medica of Dioscoride (Ist Century A.D.) was taken from the ancient (Hindu) Materia Medica. On Susruta's Surgery, he observes: "It will, no doubt, excite surprise to find among the operations of these eminent surgeons, those of lithotomy and the extraction of the foetus exutera and that no less than 127 surgical instruments are described in thier works."

Concluding he adds : "Hindus knew Rasayana (Chemistry) and the preparation of Chemical compounds. Thier chemical skill in fact is more striking and more unexpected. The Arabs borrowed those from India."

ART AND SCIENCE

As regards Art, Dr. Fergusson says : "Hindu attained great excellence in architecture, sculpture and painting. The art here (India) displayed is purely indigenous." He further observes : "Hindus first knew architecture. From India the knowledge found its way to other countries." "The Saracenic Architecture is of Hindu origion," says Tod.

"English decorative art, in our own days, has been borrowed largely from Indian forms and patterns," says Dr. Hunter.

In Kinetics, the Hindus analysed the concept of motion, gravity (ascribed to the attraction of the Earth), accelerations the law of motion and the accelerated motion of falling of bodies. Some of their (Hindu) investigations were solid achievements in positive knowledge, as in Materia Medica, Therapeutics, Anatomy, Embry-

ology, Metallurgy, Chemistry, Physics and descriptive Zoology. Prof. E.B. Havell in his 'Indian Architecture' declares: "Indian architecture is extra-ordinary and is the product of original genius."

"Enough is known to justify the assertion that the art of Architecture was practised on a large scale with eminent success." observes V.A. Smith. Magasthenes says. "The Indians are well skilled in the art." Elphistone adds: "the brilliancy and permanency of many of their dyes are not yet equalled in Europe."

INDIAN CLOTH AND MUSLIN

English experts (travellers, Pyrard, Jourdan, Roe, Berner, Peter, Munday and Travenier) speak of the unrivalled beauty and delicacy of the Indian cloth as the finest the earth produces.

"In delicacy of texture, in purity and fastness of colour, in grace of design, Indian cloth still holds its own against the word." Encyclopaedia Britainica.

"Silk manufactures also are excellent and very ancient. Gold and silver brocade also were original manufactures of India. Hindu taste for minute orgaments fitted them to excel in goldsmiths' work," says Pliny.

IRON MANUFACTURE

Dr. Fergusson says: "It opens our eyes to an unsuspected state of affairs to find the Hindus at that age capable of forging a bar of iron larger than any that has been forged even in Europe up to very late date and not frequently even uow."

Roscoe and Schorlemer say: "It is not an easy operation at the present day to forge such a mass with our largest rolls and steam hammers. How this could be effected by the rude hand labour of the Hindus, we are at a loss to understand."

SHIP-BUILDING AND FLYING SHIPS

"About 60 B.C., some bold Hindu navigators sailed in their ships to the Baltic Sea in Europe," observes Pliny. Dr. Sewall says: "The Indian vessels trading with Ceylon were so large as to be able to carry 3,000 amphorse." Magasthenes found ship-building as the distinct profession of a Hindu class.

Sir Johan Malcolm says : "Those ships fully served all the modern requirements. The European ship builders have not improved much. Ship builders was exactly so even in ancient India." Strabo adds : "Hindus used ships in battles."

We find in the Rig Veda references to steam or electric cars, ships, aeroplanes and balloons."

Vishwaskarma was the inventor of ornaments of Vimana (aerial cars, like modern balloons, aeroplanes, etc.)

PAPER MAKING

"This we know form Nearchus himself who ascribes to the Indians the art of making paper from cotton" says Max Muller.

HINDU MUSIC

Sir W.W. Hunter says : "A regular system of notation was worked out before the age of Panini, and seven notes were designated by their initial letters. This notation passed from the Brahmans through the Persians to Arabia, and thence introduced into Europe by Guide D' Aresso at the beginning of the eleventh Century."

Professor Weber says: "According to Von Bolhan and Benfey, this notation passed from the Hindus to the Persians, and from these again to the Arabs, and was

introduced in Europe by Guide D' Aresso at the beginning of the eleventh Century." Strabo says : "Some of the Greeks attribute to that country (India) the invention of nearly all the science of music" to which Coleman adds : "Of the Hindu system of music the excellent writer whom I have before mentioned (Sir W. Jones) has expressed his belief that it has been formed on better principles than our own."

Sir W. Jones and Paterson observe : "Hindu music is systematic and refined. Indian music, like Indian medicine, went from India to Europe." To this Colonel Tod adds : "An account of the state of musical science amongst the Hindus of early ages and a comparisen between it and that of Europe is yet a desidera Orientum in all leteratures. From what we already know of the science, it appears to have attained a theoretical precision, yet unknown to Europe, and that at a period when even Greece was little removed from barbarism."

Anne C. Wilson further obseves : "It must, therefore, be a secret source of pride to them to know that their system of music, as a written science, is the oldest in the world. Its principal features were given long ago in Vedic writings. Its principles were accepted by the Mahomedan portion of the population in the days of their pre-eminence, and are still in use in their original construction at the present day. "The people of India are essentially a musical race. To such and extent is music an accompaniment of existence in India, that every hour of the day and season of the year has its own melody."

Sir W.W. Hunter says : "Not content with the tones and semi-tones, the Indian musicians employed a minute sub-division together with a number of modifications which the Westerners neither recognise nor enjoy. Thus, they divide the octave into 22 sub-tones instead of semi-tones of the European scale. The Indian musician declines altogether to be judged by the few simple Hindu airs which the English ear can appreciate."

Arthur Whitney says : "But I have yet to observe that while our system of notation admits of no sound of less than half a tone, the Hindus have quarter tones, thus rendering it most difficult of imitation of Europeans. The execution of their music I hold to be impossible to all except those who commence its paractice from very early age."

Prof. Whitney further observes : "Few of the ancient Hindu airs are known to Europeans, and it has been found impossible to set them to music according to the modern system of notation, as we have neither staves nor musical character whereby the sounds may be accurately expressed."

"Of the magical effect produced by the singing of Gopal Naik and of the romantic termination to the career of this sage, it is said that he was commanded by the Emperor Akbar to sing the Raga Deepak, and he, obliged to obey, reqaired to the river Jumna, in which plunged up to his neck. As he warbed the wild and magical notes, flames burst from his body and consumed him to ashes."

"It is recorded of Tansen that he was also commanded by the Emperor Akbar to sing Sri, or night Raga, at mid-day, and the power of the music was such that it instantly became night, and the darkness extended in a circle round the palace as far as his voice could be heard."

HINDU SOCIOLOGY

A bout the eminence of the Hindu Sociology the great French Savant says : "I consider the institution of castes amongst the Hindu nation as the happiest

effort of their legislation, and I am well convinced that the people of India never sunk into a state of barbarism. When almost all Europe was plunged in that dreary gulf, India kept up her head preserved and extended the sciences, the arts and civilisation. It is wholly to the distinction of castes that she is indebted for that high celebrity."

"Their whole social system," observas W.C. Bennet, "postulates exceptional integrity." "The sytem of caste," says Sir Henry Cotton : "Far from being the source of all troubles which can be traced in Hindu Society, has rendered most important service in the past, and still continues to sustain order and solidarity."

"There is simply no comparison between Englishmen and Hindus with respect to the place occupied by family interests and family affection in their minds. The family in the old sense of the word still exists in India. In England, it is a very different institution. The romance of Indian life is the romance not only of the individual, but of the family." says Dr. W.W. Hunter.

Dr. Marie Carmichael Stopes is regarded in the West as an authority on sex problems and she writes as follows in her book, Enduring Passion :

"It is not intended by Nature for a man of full age to contine unmarried year after year. Early marriage is the natural and still the right thing. Almost every day that passes increases my conviction that the race runs innumerable dangers from the habit of delaying marriage which is becoming so common. Late marriage is the source of innumerable physical and social evils and incalulable unhappiness and discontent. Nature may have the revenge; and on his late marriage a man may find himself importent or nearly so, or else so excited and over-wrought, by union that a true marriage is almost or quite impossible, because of premature ejaculations. The best way to avoid such evils and to live normally is to marry young and to remain in love."

Again, Thomas Alva Edison, the greatest inventor of modern times, and well known all over the world on account of his Gramophone and his moving pictures, also deprecates late marriage. He observes:

"It is not good for a man or a woman either to live alone, I am sure. And one tendency of the times which I am inclined to think is the apparently increaseing avoidance of marriage or its postponement until an age when the adaptation of one individual of the couple (involved) to the other is diffecult because habits have become fixed so firmly that their adjustment is a difficult or at least, an annoying process. Obviously, therefore, it seems to me that early marriages should boencouraged."

Havelock Ellis says : "It is evident to every thougtful person that a real sexual morality is almost impossivle without early marriage; for simply to refer the young toi abstinence as the true solution of the problem, is, as we have already maintained a crime against the young and against the race, a crime which makes the primitive force of nature, the fire of life, into a destructive element." It is in accordance with these above mentioned principles that the Hindu sages have enjoined marriage before puberty and consummation immediately after menstruation.

In the turmoil of modern talk of social reform, of untouchability and interdining, we are often apt to lose sight of the many, truths underlying our ancient Sastras, forbidding physical contact between one and another. Even in the same family such contact is not sanctioned by Sastras except when unavoidably needed. Miss Heken M. Mathews of the University of British Columbia demonstrated that "bacili were readily transferred form one to another by even hand-shaking or shake-hand."

HINDUMARRIAGE : A SACRAMENT

Otto Ruthfield says : "In general it may be said that the Hindu rules of marriage are, in the ordinary sense of happiness, as conductive to the happiness of the spouses as the fact transforming system of modern Europe; and their happiness is less self-centred and more altruistic. The worth of a nation's womanhood can best be estimated by the completeness with which they fulfil the inspirations of love and its devotion, and judged by this standard, the higher types in India need fear no comparison."

"Real marriage the consummation of thier growth to man woman, comes much later, after many years perhaps; then their parents at last give their consent to the grown up lads and the healthy maidens who help daily in the household tasks."

"The absense of self-choice in India obvaites the fluttering uncertainty under which English girls live; it imparts to them a sense of destiny which has a beneficial effect on the after-life," says Frederic Pincott. A boy and a girl. in India, grow up to the knowlegde that they are destined for each other; they know that their lives have to be passed together; and from their earliest years they learn to adapt themselves to their future condition. It is universally admitted that compromise and concession form the solid basis of matrimonial happiness; and the sense of destiny imparted by early marriages powerfully promotes a spirit of compromise. We must also understand that the Hindu marriage contract is inevitable; the minds of the parties are thus in the minds of the parites are thuus in the proper frame for making the best of things. These wise provisions have stood the test of centuries, and by their results continue to proclaim their excellence. All parties are united in the opinion that Hindu married life is an exceptionally happy state.........and that is the clearest proof of the excellence of the system, and the severest condemnation of those who are seeking to unsettle it."

CHASTITY : A GRAT VIRRUE

"Nothing makes a woman more esteemed by the opposite sex than chastity; whether it be that we always prize those most who are hardest to come at, or that nothng besides chastity with its collateral attendants, truth, fidelity and constancy, gives the man a property in the person he loves and consequently endears her to him above all things" says Addison.

"It is proper to leave abundance of chastity rather than gold to children. I do not deem that a dowry, which is called a dowry, but chastity, and subdued desire," observes Plato.

"Modesty in not only an ornament but also a guard to virtue" says Addison."Nothing can atone for the want of modesty. without which beauty is ungraceful, and detestable." adds Steels. "Modesty once extinguished knows not how to return," remarks Seneca. Chastity, once lost, cannot be regained; it goes only once."

Father Abbe Dubois writing on the social status of Indian women observes; "The person of a woman is sacred. She cannot be touched in public by a man even with the ends of the fingers. How abject whatsoever may be her condition, she is never addressed by anybody, not excepting the persons of the highest rank, but under the respectful name of mother. A dwelling in which only females are to be found, even the hut of the most helpless widow, is an inviolable asylum into which the most determined libertine would never dare to penetrate; or should he do it, his autacity would not remain unpunished. A woman can frequent the most crowded places without

being exposed to the least insult. A male who would stop merely to gaze at a femake,. who is passing by, as our loungers in Europe are accustomed to do. would be considered by all as an insolent and uneducated person."

Prof. H.H. Wilson says : "In no nation of antiquity were women held in so much esteem as amongst the Hindus." Mrs. Flora Annie Stell adds : "The general position of woman in India is rather better than our own."

HINDUS : ADMIORERS OF TRUTH

"No Hindu was ever known to tell and untruth," says Mc. Grindle.

"They (Brahmans) would not tell a lie for anything or earth," adds Marco Polo.

"They (Hindus) are so honest as neither to require locks to their doors, nor writings to bind their agreements." remarks Strabo.

"I have had before me hundreds of cases, in which a man's (Hindu) property, liberty and life have depended upon his telling a lie, and he has refused to tell it." observes Sleeman.

"They (Hindu) are distringuished by straight-forwardness and honesty of their character. They never take anything unjustly." says Mc. Grindle.

"The Hindus are religious, cheerful, lovers of justice, able in business, admirers of truth, grateful and of unbounded fidelity." says Samuel Johnson.

"The Hindus are brave, courteous, intelligent, most eager for knowledge and improvement sober, industrious, dutiful to parents, affectionate to their childenm uniformly gently and patient, and more easily affected by kindness and attention to their wants and feelings than any people I ever met with."

HIGHER LEVEL OF MORALITY

"It is certainly the fact that the people of ancient India enjoyed a wide spread and enviable reputation for straight forwardness and honesty." says V.A. Smith.

Sir Lapel Giriffin says : "Judged by any truthful standard, the people of India are on a far higher level of morality than an Englishman."

"The morality among the higher classes of the Hindus was of a high standard and among the middle and lower classes, remarkably so. There is less of ummorality than you would see in many countries of Europe." observes Sir G.B. Clarke.

"They (Brahmins) never told a lie for all the world and betrayed nobody's trust. They were known by their sacred thread and had each but one wife.They were versed in Astrology, practised great moderation and enjoyed long life."

"No set of people amont the Hindus are so depraved as the dregs of our own great town. The mass of crime is less in India than in England. The villagers are everywhere amiable, affectionate to their families, kind to their neighbours, and towards all honest and sincere." says Marco Polo.

"Their freedom from gross debauchery is the point in which they appear to most advantage; and their superiority in purity of manners is not flattering to our self-esteem", writes Elphinston.

A FAR SUPERIOR RACE

Ktesias, the Royal Physician of Persia, wrote about 398 B.C.in his India :

"Their (Hindus) complexion was fair. They were free from headache, toothache opthalmia and from mouth-sores or ulcer in any part of their body. They generally attained the age of 120 years before death. There were people in the north who lived even 400 years."

Yuan Chawng (629-645 A. D.) in his work called "The Siyu-kit" (rendered into English by by Jullien) gives details regarding the manners, and observances of castes (four castes). He also mentions numerous mixed castes. He is highly impressed with the truthfulness and honesty of the national character. He praises the administration of justice. Yuan Chwang found India prosperous.

Megasthenes observes that the Hindus are all free and have no slaves of other nations. They (Hindus) are frugal and temperate in habits; they do not lide much crowd and are orderly, moderate and regardful of truth and virtue. Thefts are rare. The possess a strong sense of justice; they never lie, never quarrel. They have perfect mutural trust. They never go to law, never complain about their pledges and deposity, require neither withnesses nor seals; they generally have their houses unlocked, unguraded. The Hindus are frank, frugal and happy.

4

सृष्टि प्रकरण और कालचक्र

ब्रह्माण्ड के मानचित्र का अनुशीलन करने पर विचारशील व्यक्तियों के अंतःकरण में सृष्टि के विषय में जिज्ञासा स्वतः ही उत्पन्न होती है। वेद और शास्त्रों में तथा वेदसम्मत दर्शनों के सिद्धांत के अनुसार सृष्टि के चार स्तर बताये गये हैं। उन चार स्तरों के नाम ये हैं—प्रथम प्राकृतिक सृष्टि, दूसरी ब्राह्मी सृष्टि, तीसरी प्राजापत्य अर्थात् मानसी सृष्टि और चौथी बैजी सृष्टि अथवा मैथुनी सृष्टि।[1] पूज्यपाद महर्षियों ने अपने ज्ञाननेत्रों से देखा है कि, सृष्टि का प्रवाह देश और काल की अनादि और अनंतता के अनुरूप अनादि और अनंत है। इसी कारण ब्रह्माण्डसमूह भी अनंत है। जैसे इस मृत्युलोक में एक मनुष्य का मानवपिण्ड जब नष्ट हो जाता है अर्थात् मनुष्य की मृत्यु हो जाती है, उस समय पृथ्वी के अनंत मानव पिण्ड जीवित रहते हैं; ठीक उसी प्रकार एक ब्रह्माण्ड के काल के कवल में पहुँच जाने पर अनंत ब्रह्माण्ड समूह ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में सृष्टि स्थितिलय यथाक्रम होते रहने पर भी अनंतकोटि ब्रह्माण्ड का सृष्टि प्रवाह यथाक्रम प्रवाहित होता रहता है। दूसरी ओर जैसे एक मनुष्य का पिण्ड नष्ट होने पर अर्थात् उसकी मृत्यु होने पर उसका अन्नमयकोष, जो मिट्टी उपादान से बना है, वह पुनः मिट्टी में मिल जाता है और पुनः जब उसका जन्म होता है, तब पिता के वीर्य और माता के रज से उसको कर्म के भोग के उपयोगी पुनः पार्थिव शरीर मिल जाता है। ठीक इसी उदाहरण से समझने योग्य है कि एक ब्राह्माण्ड जब प्रलय के गर्भ में विलीन हो जाता है, तो कालान्तर में उस ब्राह्मण्ड के समष्टि कर्म संस्कार के अनुसार पुनः ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती है। वही ब्रह्माण्ड की सृष्टि की अवस्था है। नहीं तो धारा रूप से सृष्टि प्रवाह अनादि अनन्त ही है। यह विज्ञान दार्शनिक युक्ति से सर्वथा सिद्ध है।[2]

जब कोई ब्रह्माण्ड प्रथम उत्पन्न होता है, तब उस ब्रह्माण्ड के परमाणुपुंज पकृति माता की आकर्षण शक्ति के अनुसार एकत्रित होकर जीववासोपयोगी स्थूल या

सूक्ष्मलोकों को उत्पन्न करते हैं। उस समय एक ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता भगवान् ब्रह्मा, भगवान् विष्णु और भगवान् शिव का आविर्भाव नहीं रहता है। उस समय चाहे देवलोक समूह हो अथवा हमारा मृत्युलोक हो, इन सबका केवल गौलक बनता है। इसी दशा को प्राकृतिक सृष्टि कहते हैं। क्योंकि ये सब ब्रह्मप्रकृति त्रिगुणमयी जगदम्बा के स्वाभाविक नियम के अनुसार ब्रह्माण्ड गोलक बन जाते हैं। उस समय उनमें जीवों का वास नहीं रहता। इस विषय में पूज्यपाद प्राचीन ऋषिगण और आजकल के पदार्थ विद्या—(साइन्स) के विद्वज्जन दोनों एकमत हैं। पदार्थ विद्यासेवी (साइण्टिस्ट) भी साधारणतः यही कहते हैं कि, हमारी पृथ्वी पहिले जीव-वासोपयोगी नहीं थी। इसी जीववासोपयोगी बनने से पहिले की अवस्था का नाम प्राकृतिक सृष्टि है। उसके अनन्तर सर्वशक्तिमान् भगवान् की इच्छा से जब ब्रह्मा-विष्णु-महेश-रूपी त्रिमूर्ति का आविर्भाव होता है और भगवान् ब्रह्मा अपनी इच्छा शक्ति से जीव सृष्टि का प्रारंभ करते हैं और देवसृष्टि प्रारंभ हो जाती है, उसी को ब्राह्मी सृष्टि कहते हैं। उसके अनन्तर जब प्रजापतिगण उत्पन्न होकर विस्तृत सृष्टि को केवल अपनी मानस शक्ति से उत्पन्न करते हैं, वही मानस सृष्टि कहाती है। यह सृष्टि भी देवताओं की ओर से ही होती है। उसके अनन्तर स्त्री-पुरुष के संयोग से जो सृष्टि होती है, यह वैजीसृष्टि है। यही चार प्रकार का सृष्टि प्रकरण है, जो प्राचीन वेद और शास्त्रों में पाया जाता है।

सृष्टि के साथ जो काल का संबंध है, उसके विषय में जैसा सुंदर, विस्तृत और अलौकिक हिसाब वेद और शास्त्रों में पाया जाता है, वैसा और कहीं देखने अथवा सुनने में नहीं आता। हमारे इस मृत्युलोक-भारतवर्ष की आयु के निर्णय करने में अनेक पदार्थविद्या सेवी (साइण्टिस्ट) विद्वानों में, मनुष्य सृष्टि के विषय में, वेद के आविर्भाव के विषय में और इसी प्रकार से नाना देश और नाना पर्वत आदि की सृष्टि के स्तरों के विषय में नाना कल्पनाएँ भी की हैं। किसी ने इसकी दो-चार हजार वर्षों की ही गणना की थी। अब वह गणना कुछ आगे अवश्य बढ़ी है, किंतु जिसके साथ भारतवर्ष के प्राचीन सिद्धांतों को मिलाने पर एक कौतुक सा मालूम होता है। सनातन धर्म के प्राचीन ग्रंथों में एक ब्रह्माण्ड की आयु का निर्णय करने में इस प्रकार की गणना पायी जाती है कि, 100 त्रुटिका एक पर, 30 परका एक निमेष, 18 निमेष की एक काष्ठा, 20 काष्ठा की एक कला, 30 कला की एक घटिका, दो घटिका का एक क्षण, 30 क्षण का एक अहोरात्र अर्थात् मनुष्य का पूरा दिन-रात होता है। इसी संख्या से मानव वर्ष गणना की जाती है।[3] इस हिसाब से 1728000 मानव वर्षों का सत्ययुग, 1296000 मानवर्षों का त्रेतायुग, 864000 वर्षों का द्वापर युग और 432000 वर्षों का कलियुग है और 4320000 मानव वर्षों का महायुग होता है। 71 महायुगों का अर्थात् 306720000 वर्षो का मन्वन्तर होता है और 8640000000 वर्षों का ब्रह्मा का एक दिन-रात अर्थात् एक कल्प होता

है। 311040000000000 मानव वर्षों में एक ब्रह्मपदधारी बदल जाते हैं। 18662400000000000000 मानव वर्षों में एक विष्णुपदधारी बदल जाते हैं। 4837294045000000000000000000 मानव वर्षों की भगवान् शिव की आयु समझी जाती है; जो ब्रह्माण्ड का प्रलय करके ब्रह्म में लय हो जाते हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डभाण्डोदरी ब्रह्मशक्ति जगदम्बा की एक त्रुटि में दस करोड़ महेशों की आयु निमेष होते हैं। इससे ब्रह्माण्ड के लय होने का समय निर्धारित किया जा सकता है। इससे यह तात्पर्य है कि, जगदम्बा की कए त्रुटि में एक ब्रह्माण्ड का संपूर्ण प्रलय हो जाता है। जैसे ब्रह्मा त्रिष्णु महेशरूपी भगवान् त्रिमूर्ति के प्रकट होने से पहिले प्राकृतिक सृष्टि होती है और उसमें ब्रह्माण्ड के उपादान रूपी परमाणु पुञ्जों के विखरने में समय लगता है। सृष्टि और प्रलय के सब कार्य जिस समय में हों, उस समय को ब्रह्माण्ड की आयु कह सकते हैं और वह ब्रह्माण्डों की आयु का काल श्रीजगदम्बा की एक त्रुटि समझी जा सकती है।[4]

श्रीमार्कण्डेय आदि पुराणों में 14 मन्वन्तरों का संक्षिप्त वर्णन है और यह भी स्पष्ट वर्णन है कि, 71 महायुगों में एक मन्वन्तर होता है। प्रत्येक मन्वन्तर में देवराज इन्द्र पदधारी देवता भी कालराज मुन के साथ ही बदल जाते हैं। उस समय भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक, तीनों के बड़े-बड़े पदधारी सब देवता बदल जाते हैं। कर्म के चालक देवता, ज्ञान के चालक कृषि और स्थूल शरीर आदि के सञ्चालक पितृगण जो तीनों ही तीन श्रेणी के देवता हैं, इनके जितने बड़े-बड़े पदधारी हैं। वे सब प्रत्येक मन्वन्तर में बदल जाया करते हैं।[4] इस कारण भूः, भुवः, स्वः, स्वः, इन तीनों लोकों की शृंखला और सभ्यता आदि में बड़ा अन्तर पड़ जाता है। प्रत्येक मन्वन्तर में जो परिवर्तन होता है, वह भूः भुवः स्वः रूपी त्रिलोक में होता है। मन्वन्तर में कभी पूरा प्रलय नहीं होता, खण्डप्रलय होता है और देवपदधारी तो अवश्य ही बदल जाते हैं। ये सब बातें प्राचीन आर्यों के वेद और शास्त्रों से भलीभांति प्रमाणित हैं। इन सब काल के विभागों की संख्या के देखने पर दैवीजगत् के मानने वाले विद्वान् तो आनन्दित होते ही हैं, किंतु जो दैवीजगत् पर आस्था न भी रखते हों, वे विद्वान् भी प्राचीन आर्यों के काल के संबंध के इम हिसाबों को देखकर चकित हुए बिना न रहेंगे।

दूसरी ओर वेद और शास्त्र यह सिद्ध करता है कि, विद्यारूपी नदी का प्रवाह पाँच धाराओं में होकर प्रवाहित होता है। इस कारण सनातन धर्मों के शास्त्रों में पांच प्रकार की पुस्तकों के नाम हैं। यथा–(1) ब्रह्माण्ड पुस्तक, (2) पिण्ड पुस्तक, (3) नाद पुस्तक, (4) बिन्दु पुस्तक और (5) अक्षरमयी पुस्तक।[5] जो ब्रह्माण्ड के अधीश्वर ब्रह्मा विष्णु महेश अथवा जगदम्बा की प्रेरणा से प्रकाशित हों और जिनकी स्थिति ऊपर के सबसे ऊँचे तीन लोकों में नित्य रहे, ऐसी ज्ञानमयी पुस्तकों का नाम ब्रह्माण्ड पुस्तक है। जो पुस्तकें भूर्लोक के दैवी राज्य के ऋषियों द्वारा प्रेरित

होकर प्रकाशित हों अथवा आसुरी शक्ति द्वारा प्रेरित होकर प्रकाशित हों, वे सब पिण्ड नामक पुस्तकों के अन्तर्गत मानी जायेंगी। इन पुस्तकों का मसाला नीचे के असुरलोक और भूर्लोक से प्रेरित होता है। वेद को स्मरण पूर्वक ऋषियों के अवतार जो ज्ञानराशि प्रकाशित करते हैं, वे बिन्दु नाम से अभिहित होती हैं। उनको स्मृतिशास्त्र भी कहते हैं। जो सृष्टि के आदिकाल में ऋषियों के अन्तःकरणों में ज्यों-की-त्यों मन्त्ररूप से सुनायी देती हों, वे नादमयी पुस्तकें हैं। वे ही वेद हैं। ये चारों अलोकिक पुस्तकें हैं और ये चारो अलौकिक पुस्तकें और लौकिक बुद्धि से प्रकाशित साधारण पुस्तकें जब अक्षर में लिखी जायें, तब वे अक्षरमयी पुस्तकें कहलाती हैं। आस्तिक प्राचीन आर्यगण पूर्व चारों पुस्तकों को नित्य और अक्षरमयी पुस्तकों को अनित्य माना करते हैं।

वेद की महिमा सर्वोपरि इस कारण है कि, वैदिक दर्शनशास्त्र और पुराणादि अन्यान्य शास्त्रों के मत से वेद किसी मनुष्य द्वारा रचित नहीं है। अन्य पुस्तकें भाव रूप से मनुष्य के चित्त में उदित होती हैं, परंतु अपौरुषेय वेद का आविर्भाव ऐसा नहीं होता। चाहे मन्वन्तर-मन्वन्तरान्तर हो, चाहे कल्प-कल्पान्तर हो, अन्य चार पुस्तकों की तरह वेदों का ज्ञान तो नित्य बना ही रहता है, किंतु वे शब्द भी नित्य बने रहते हैं। केवल युग-युगान्तर में, विशेषतः प्रत्येक सत्युग के आदि में, वेदों का पूर्ण आविर्भाव इस मृत्यु लोक में बना रहता है। अतः जब काल का परिमाण प्राचीन भारतवर्ष में पूर्वलिखित प्रकार से माना गया है और पुस्तकों की नित्यता तथा वेद के शब्दों तक की नित्यता ऊपर लिखित प्रकार से वैदिक दर्शनों और पुराणादि शास्त्रों द्वारा प्रमाणित है, तो विचारशील व्यक्ति के सम्मुख आजकल के नामधारी संशोधकों और अनुसन्धान करने वालों की वैदिक युग, पौराणिक युग आदि की कल्पना हास्यास्पद क्यों नहीं समझी जायेगी?

आजकल के ऐतिहासिकगण मनुष्य सृष्टि का हिसाब दस-पाँच हजार वर्ष से लगाते हैं। परंतु वेद और वेदसम्मत शास्त्रों से सिद्ध होता है कि एक महायुग में जब कलि का अन्त होता है, तो मृत्युलोक का पूरा कूड़ा करकट एक बार साफ कर दिया जाता है और कई प्रकार से सफाई होती है। केवल सत्ययुग के उपयोगी मसाला रखकर बाकी सब साफ कर दिया जाता है। एक मन्वन्तर की सृष्टि के समय खण्डप्रलय होता है। उसका कारण जलप्लावन आदि होता है। उसके बाद सृष्टि में नवीनता अवश्य आती है, परंतु बीज पुराना ही होता है। कल्पान्तर सृष्टि, जो ब्रह्माजी के एक अहोरात्र के बाद होती है, उसके कालका परिमाण भी ऊपर लिखा गया है। उसमें यहाँ की सृष्टि का प्रलय हो जाता है और नवीन सृष्टि होती है। उसी समय से हम मनुष्य जाति का आदित्य स्वीकार करते हैं। पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियों ने समाधि बुद्धि द्वारा सृष्टि और प्रलय के अतिगंभीर और बुद्धि से अतीत

अचिन्तनीय स्तरों का बहुत अच्छी तरह अन्वेषण किया था। उनकी गवेषणा का यह सिद्धांत है कि भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक इन्हीं तीनों लोकों में बार-बार परिवर्तन हुआ करता है। जैसे मनुष्य शरीर के मध्य अंश में यकृत-यंत्र, हृदययन्त्र आदि बार-बार नियमपूर्वक अपने आप क्रिया करते रहते हैं, वैसे ब्रह्माण्ड के त्रिलोक में ही सृष्टि स्थिति-प्रलय की क्रिया नाना रूप से सदा हुआ करती है। सत्य-युग, त्रेता, द्वापर, कलि इन चारों युगों का प्रभाव भी इन्हीं तीनों लोकों में अधिक पड़ा करता है। वेद और शास्त्रों का आविर्भाव और तिरोभाव जो इस मृत्युलोक में होता है, उसका भी संबंध इसी ब्रह्माण्ड के मध्यस्थान से है। क्योंकि वेद अपने पूर्व स्वरूप में मृत्युलोक में प्रत्येक सत्युग में प्रकट होते हैं। फिर उनका तिरोभाव होता है और सत्युग आने पर प्रकट्य होता है। प्रत्येक कल्प में जो प्रलय होता है, उसके मुख्यतः स्थान त्रिलोक, नीचे के सात लोक और प्राजापत्य, स्वर्ग (महर्लोक) हैं। क्योंकि सबसे ऊपर के तीन लोक उस समय भी ज्यों-के-त्यों रहते हैं। उस समय भगवान् ब्रह्मा ब्राह्मास्वर्ग अर्थात् सबसे ऊपर के तीन लोकों में रहते हैं और ऊपर के वे तीन लोक ही ब्राह्मस्वर्ग कहते हैं। त्रिकाल की विशेषता ब्रह्माण्ड भर में सर्वशास्त्रसम्मत है। क्योंकि इन्हीं तीनों लोकों में बड़े-बड़े पदधारी देवताओं की राजधानियाँ हैं। जीव की मृत्यु के अनन्तर उसको प्रेतलोक अथवा नरक लोक में भेजकर शुद्ध करना भगवान् यमधर्मराज का कार्य है। जीव की जीवित अवस्था में उसको महामारी, भूमिकाम्प आदि से ठीक रास्ते पर चलाना और काल का नियम बाँधना भगवान् मनु का कार्य है। नाना पदधारी देवताओं को ठीक नियम से चलाना भगवान् इन्द्र का कार्य है। इन तीनों की राजधानियाँ त्रिलोक में ही हैं। त्रिलोक को छीनने के लिये असुरगण भी प्रयत्न करते हैं। कालका प्रत्यक्ष प्रभाव त्रिलोक में ही अधिक पड़ता है। इन सब कारणों से त्रिलोक में ही अधिक पड़ता है। इन सब कारणों में त्रिलोक की ही महिमा अधिक है।

पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियों ने किस प्रकार विशद्, युक्तियुक्त और ज्योतिष तथा गणित आदि शास्त्रों से सिद्ध विभिन्न काल की गणना की है, उसका वर्णन ऊपर आ चुका है। इस समय श्वेतवाराहकल्प के वैवस्वत मन्वन्तर का अट्ठाइसवां महायुग है। अतः वेद और शास्त्र मानने वाले आर्यगण इस विक्रमीय संवत् 1990 के अंत तक 1971961606 वर्ष, 5 मास, 4 दिन, 17 घड़ी और 8 साढ़े पल बीत गये हैं, ऐसा मानते हैं। कल्प के आरंभ से कल्पान्ततक के 4320000000 वर्ष होते हैं। इनमें से उक्त वर्षादि बाद करने से कल्पान्त होने में 23480389393 वर्ष 6 मास, 25 दिन, 42 घड़ी और 51 पल रह जाते हैं। इस गणना से विदित होगा कि, मानव सृष्टि आरंभ हुए बहुत दिन बीत गये हैं।

संदर्भ

1. आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाक्षयाव्यया।
सा सृष्टिमनिसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा।।
प्रजापतिरिदं सर्वं मनसैवाऽसृजत् प्रभुः।
तथैव देवानृषयः तपसा प्रतिपेदिरे।।

—महाभारत।

तथैव ब्रह्मणः प्रादुर्भावेन सहैव महतः सृष्टिरारम्भ्यते तदानीमेव विराट् ब्रह्मणोऽन्तःकरणमुत्पद्यते, यद्धि एकस्य ब्रह्माण्डस्य समष्टिरूपमन्तःकरणमुच्यते। तस्य च महत्तत्त्वमुपादानं भवति। ब्रह्मा च तस्याधिदैवत्वेन प्रख्याप्यते। ततश्च सनकसनन्दनप्रभृतीनां पूर्णाव्यवानां देवानां सृष्टिर्जायते। ततश्च प्रजापतिनाम्नां देवानां सृष्टिरुद्भवति। तदनन्तरं तैरेव मानस्याः सृष्टेर्विस्तारो विधीयते। ततश्च दम्पतिसंयोगजन्याया मैथुनसृष्टिरुद्गमो भवति, या हि बैजीसृष्टिरित्यपि संज्ञायते। इत्थमेव सृष्टिविस्तारो विजृम्भते।

—पुराणरहस्यम्

चतुर्विध सृष्टि का विस्तृत विवरण 'देवीमीमांसादर्शन' और 'पुराणरहस्यम्' नामक ग्रंथ में द्रष्टव्य है।

2. अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्येतादृशान्यनन्तकोटिब्रह्माण्डानि सावरणानि ज्वलन्ति। चतुर्मुखपञ्चमुखषण्मुखसप्तमुखाष्टमुखादिसंख्याक्रमेण सहस्रावधिमुखान्तैर्नारायणांशैः रजोगुणप्रधानैरेकैकसृष्टिकर्तृभिरधिष्ठितानि विष्णुमहेश्वराख्यैर्नारायणांशैः सत्त्वतमोगुणप्रधानैरेकैकस्थितिसंहारकर्तृभिरधिष्ठितानि महाजलौघमत्स्यबुद्बुदानन्तसङ्घवत् भ्रमन्ति।

—नारायणोपनिषद्।

संख्याचेद्रसामस्ति विश्वेषां न कदाचन।

—देवीभागवत।

कोटिकोट्ययुतानीशे चाण्डानि सहितानि वै।
तत्र तत्र चतुर्वक्त्रब्रह्माणो हरयो भवाः।।

—देवीभागवत।

ससर्वाभरणा एते महत्यन्तविवर्जिते।
ब्रह्माण्डा भान्ति दुर्दृष्टेर्व्योम्नि केशोण्ड्रको यथा।।
शुद्धबोधमये तस्मिन् परमालोकवारिधौ।
अजस्रमेत्य गच्छन्ति ब्रह्माण्डाख्यास्तरङ्गकाः।।
केषाञ्चिदन्तः कल्पान्तः प्रवृत्तो घर्घरारवः।
न श्रुतोऽन्यैर्न च ज्ञातः स्वभावेन रसाकुलैः।।
अन्येषां प्रथमारम्भे शुद्धभूषु विजृम्मते।
सर्गः संसिक्तबीजानां कोषेङ्कुरकला यथा।।
महाप्रलयसम्पत्तौ सूर्यार्चिर्विद्युतोऽद्रयः।
प्रवृत्ता गलितुं केचित्तापे हिमकणा इव।।
केचिद्विचित्रसर्गेशाः केचित्तिर्यङ्मयान्तराः।
केचिदेकार्णवापूर्णा इतरे जनिवर्जिताः।।
भीमान्धकारगहने सुमहत्यरण्ये।
नृत्यन्त्यदर्शितपरस्परमेव मत्ताः।
यक्षा यथा प्रवितते परमाम्बरेऽन्त—
रेवं स्फुरन्ति सुबहूनि महाजगन्ति।।

—योगवासिष्ठ

3. इस कोष्ठक का प्रमाण गणित-ज्योतिष ग्रंथों में द्रष्टव्य है।

4. चतुर्येगसहस्राणि दिनं पैतामहं भवेत्।
पिता महसहस्राणि विष्णोश्च घटिका मता।।
विष्णोद्वार्दशलक्षाणि कलार्धं रौद्रमुच्यते।

दैवीमीमांसा भाष्य, उत्पत्तिपाद, सूत्र 4

(2) चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते।
पितामहसहस्राणि विष्णोरेका घटी मता।।
विष्णोर्द्वादशलक्षाणि निमेषार्धं महेशितुः।
दशकोटयो महेशानां श्रीमातुस्त्रुटिरूपकाः।।

—शक्तिरहस्य

5. ब्रह्मणो दिवसे ब्रह्मन्! मनवश्च चतुर्दश।
भवन्ति परिमाणञ्च तेषां कालकृतं शृणु।।
सप्तर्षयः सुराः शक्रो मनुस्तत्सूनवो नृपाः।
एककाले हि सृज्यन्ते संह्रियन्ते च पूर्ववत्।।

—विष्णुपुराण।

चौदहों मनुओं के ऋषि, देवता, इन्द्र आदि का विस्तृत वर्णन मार्कण्डेयपुराण में अध्याय 53 से 100 तक किया गया है; वह देखने योग्य है।

6. पञ्चनद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः।
सरस्वती तु पञ्चधा सा देशेऽभवत्सरित्।।

शुक्लयजुः अ. 34 मं. 11

पुस्तकमन्तःकरणं गुरुः शिष्यस्तथैव च।
गुणग्रहीताख्याता च पञ्चस्रोता सरस्वती।।
ब्रह्माण्डपिण्डनादाश्च बिन्दुरक्षरमेव च।
पञ्चैव पुस्तकान्याहुर्योगशास्त्रविशारदाः।।
प्रजापति द्वापरे च त्रेतायां सूर्य एव च।
कृते युगे पिनाकी च कलौ लिप्यक्षरे हरिः।।

—बृहत् तन्त्रसार

5

मनुष्य सृष्टि का आदि स्थान और वर्णाश्रमबन्ध

यह तो सर्वतन्त्रसिद्धांत है कि, वेद जो कुछ इस समय उपलब्ध होता है, वह पृथ्वी की सबसे पुरानी पुस्तक है। इस कारण वेद और वेद के भाष्य ग्रन्थरूपी भगवान् वेदव्यासकृत पुराणों में जो विषय मिलेगा, उसको सबसे अधिक प्रामाणिक समझना उचित है। वेद और शास्त्रों में जहाँ-जहाँ सृष्टि प्रारंभ होती है, तो पूर्णावयव जीव-समूह उत्पन्न होते हैं और सबसे पूर्णावयव आत्माएँ सबसे पहिले उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार सबसे उन्नत स्थान में सृष्टि पहिले प्रकट होती है। जगत्सृष्टिकर्ता भगवान् ब्रह्मा ने ब्रह्माण्ड सृष्टि की प्रथम अवस्था में जब जीवसृष्टि का प्रारंभ किया, तो वह ब्राह्म स्वर्ग में किया। क्योंकि ब्राह्म स्वर्ग ब्रह्माण्ड सबसे उत्तम स्थान है। चतुर्दश भुवनों में सबसे ऊपर के जन, तप और सत्य लोक ब्राह्म स्वर्ग कहते हैं। उस समय सबसे प्रथम सनक-सनन्नादि चार महापुरुष ब्राह्म स्वर्ग ही प्रकट हुए। वे सब प्रकार से पूर्णवयव थे। उनकी व्यवस्था परमंहस की अवस्था थी। जीवन्मुक्त परमहंस महदात्माओं में वासना का लेशमात्र नहीं रहता है। इस कारण वे महात्मा कहलतो हैं। यही परमहंस की अवस्था मनुष्य-जीवन की सर्वोत्तम अवस्था है और यही मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य है। महात्माओं का अन्तःकरण हर समय ब्रह्म में लीन रहता है; इस कारण वे ब्रह्मरूपी ही हैं। सुतरां ऐसे महात्माओं के द्वारा भगवान् ब्रह्मा का सृष्टिकार्य कुछ भी अग्रसर नहीं हो सका। क्योंकि सृष्टि कार्य में वासना की आवश्यकता होती है। इस कारण वे वासनारहित महात्मा ब्राह्मस्वर्ग में ही रहे। अनन्तर भगवान् ब्रह्मा न प्राजापत्य स्वर्ग, जो ऊपर का चतुर्थ अर्थात् महर्लोक है, उसमें सृष्टि आरंभ की और भगवान् की इच्छामात्र से यथापूर्व दस प्रजापतियों की उत्पत्ति हुई।[1] ये प्रजापतिगण उच्च श्रेणी के देवता थे। उन्होंने अपनी इच्छाशक्ति के द्वारा भगवान् ब्रह्मा को उनके सृष्टि कार्य में पूरी सहायता दी और ब्रह्माण्ड के चौदह लोकों में यथायोग्य स्थानों में ऋषि, देवता, पितर, किन्नर, गन्धर्व, असुर, मनुष्य और स्वदेज, अण्डजादि चतुर्विध भूतसंघ की सृष्टि हो गयी।[2] यह सब सृष्टि भी पूर्णावयव हुई।

जैसे आजकल के पदार्थ विद्यासेवी विद्वान् मानते हैं कि, बन्दर से मनुष्य सृष्टि हुई, वह पूर्णावयय हुई। दूसरी ओर चाहे देवता, चाहे मनुष्य, चाहे उद्भिज्ज, स्वेदज, जरायुज, गो, महिष, हाथी आदि की जो कुछ सृष्टि हुई, वह बच्चे के रूप में नहीं हुई। पूर्णावयव हुई और स्त्री-पुरुष पूर्णावयव उत्पन्न हुए। उसके बाद मैथुनी सृष्टि होने पर गर्भ और बच्चे का सिलसिला चला। यह सिद्धांत वेदसम्मत और शास्त्रसम्मत ही नहीं, दार्शनिक विज्ञानसम्मत भी है। उस समय इस मनुष्य लोक में जो मनुष्य सृष्टि हुई, वह भी पूर्णावयव हुई, इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है। जब भगवान् सर्वशक्तिमान् और पूर्ण हैं और भगवान् ब्रह्मा उनके ही रजोगुण के अधिष्ठाता हैं, तो उनकी हुई सृष्टि पूर्ण ही होगी। मनुष्य की सृष्टि में अपूर्णता रहती है, इस कारण मनुष्य की सृष्टि में शक्ति का क्रमविकास होता है। परंतु ब्राह्मी सृष्टि में पूर्ण शक्तिसम्पन्न जीवन उत्पन्न होते हैं। यह दार्शनिक युक्ति से भी सिद्ध है। शास्त्रों में लिखा है कि, सबसे पहिले जो मनुष्य सृष्टि हुई, उसमें सब ब्राह्मणों के जो लक्षण कहे गये हैं, वे पूर्णावयव मनुष्य में ही हो सकते हैं। वेद और शास्त्रों के अनुसार ब्राह्मणों का शरीर, मन और बुद्धि तीनों सत्त्वगुणा प्रधान अर्थात् पूर्णावयव होते हैं। इसी कारण पहिली सृष्टि में जो मनुष्य उत्पन्न हुए, वे पूर्णवयव देहधारी ब्राह्मण हुए। विरुद्धमतावलम्बिगण यह शंका कर सकते हैं कि, प्रथम जब सब ब्राह्मण हुए, तब न ब्राह्मणों का अनादित्व सिद्ध होता है, न वर्णाश्रम का ही। इस श्रेणी की शङ्का का समाधान सुगम है। प्रत्येक कल्प में वेदों का प्राकट्य होता रहता है, तौ भी जैसे वेद अनादि हैं और "यथापूर्वमकल्पयत्" अर्थात् सृष्टि पहिले थी उसी के अनुसार कल्पकल्पान्तर में फिर-फिर होती रहती है, इस सिद्धांत से जैसी वह अनादि है, वैसी ही ब्राह्मण सृष्टि भी अनादि है। उसके मलिन हो जाने पर उसका अधिक पतन न हो और मनुष्य जाति बर्बर न हो, इसलिए वर्णाश्रम व्यवस्था भगवान् मनु के द्वारा बाँधी जाती है। प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में ऐसा ही हुआ करता है। इस कारण वर्णाश्रम शृंखला भी अनादि है और इसी विचार परंपरा से मनुष्य सृष्टि के आदि स्थान भारतद्वीप को ही हम सर्वादि चैतन्यभूमि करके मान सकते हैं।

यह तो सर्वतन्त्रसिद्धांत है कि,चतुर्दशभुवनों में से भूर्लोक के अन्तर्गत जम्बुद्वीप के एक विशेष विभाग में भारतवर्ष रूपी लोक में केवल मनुष्यों का आवास है और यहीं वे जन्म सकते हैं। शेष ब्रह्माण्ड का जितना अंश है; वहाँ मनुष्य नहीं जन्मते। क्योंकि वह सब भूमि या तो देवभूमि है, या असुरभूमि है। मनुष्य सृष्टि भारतवर्ष में ही हुई है, जिसको इस समय 'वर्ल्ड' अथवा दुनिया कहते हैं। इस भारतवर्ष के नवखण्डों के नाम भी पहिले आ चुके हैं। वेद और वेदसम्मत शास्त्रों के अनुसार यह सिद्धान्त किया जा सकता है कि भारतवर्ष के नवखण्डों में से भारतद्वीप नामक खण्ड, जिसको आर्यावर्त्त, हिमवर्ष, मोक्षभूमि आदि भी कहते हैं, उसी में सृष्टि की

प्रथम अवस्था में मनुष्य सृष्टि प्रथम हुई। वह भी पूर्णवयव होने से उस समय सब ब्राह्मण ही उत्पन्न हुए। भारतद्वीप के किस स्थानविशेष में पहिले मनुष्य सृष्टि हुई, इसका उल्लेख श्री महाभारत नामक पंचम वेद में इस प्रकार पाया जाता है कि, पंजाब प्रान्त की उत्तरी सीमा में वितस्ता (जेलम) की शाखानदी देविका नामक नदी के तट पर सप्तचरु तीर्थ के पास मनुष्य की प्रथम सृष्टि ब्राह्मण शरीर में हुई। यह मनुष्य सृष्टि क्रमशः आर्यावर्तव्यापी और तदनन्तर भारतद्वीपव्यापी हुई। उस सृष्टि की प्रथम अवस्था में मनुष्य सृष्टि अति सदाचारी थी और सब ब्राह्मण धर्म के पालन करने वाले थे। तदनन्तर मनुष्य सृष्टि अनार्य होकर सारे भारतवर्ष भर में अर्थात् सारी पृथ्वी में फैल गयी और अब भी फैली हुई है। वह अब भी सभ्य-असभ्य जातियों के रूप से पृथ्वी में विद्यमान है। इसके प्रमाण भी शास्त्रों में स्पष्टरूप से मिलते हैं।[4]

आधुनिक ऐतिहासिकगण कल्पना देवी की सहायता से मनुष्य सृष्टि के आदि स्थान का निर्णय करने में कई तरह की कल्पनाएँ किया करते हैं। यथाः—हिमाचल के उत्तर तिब्बत में कोई-कोई आदि सृष्टि स्थान की कल्पना करते हैं। कोई इसको मध्य एशिया बताते हैं। कोई एशिया माइनर बताते हैं और कोई उत्तर ध्रुव स्थान अर्थात् ग्रीनलैण्ड और नार्वे के उत्तर भाग को बताते हैं। इन चारों मतों की पुष्टि के लिये किसी प्राचीन पुस्तक का सहारा इन चारों में से कोई नहीं लेता। प्रधानतः कल्पना का ही सहारा चारों मतवाले लेते हैं। इनमें में एक मतवाले केवल ज्योतिष शास्त्र का सहारा लेते हैं और वे यह प्रमाण देते हैं कि, अमुक नक्षत्र अमुक समय भारतवर्ष में नहीं था और अमुक स्थान में दिखायी देता था। वेद में इसका प्रमाण मिलता है। जो दल इस प्रकार के मानने-वाले हैं, उन्होंने इस विषय का अनुशीलन नहीं किया है कि, हमारी पृथ्वी का नाम भारतवर्ष और जिसको हम भारतवर्ष समझे हुए है, वह भारतद्वीप है। सुतरां ज्योतिष शास्त्र की सहायता लेने वालों की यह युक्ति बहुत सुगमता से खण्डित हो जाती है। दूसरी युक्ति दूसरा दल यह देता है कि, एशिया माइनर के बहुत से स्थानों और नदियों के प्राचीन नाम भारतद्वीप के स्थानों पर नदियों से मिलते जुलते पाये जाते हैं, इस कारण एशिया माइनर अपना प्राचीन देश है। बुद्धिमान् के निकट उनकी यह युक्ति ही उनके सिद्धांत का खण्डन करती है। भारतद्वीपरूपी आर्यों की आदि निवास भूमि से जब आर्यगण किसी विशेष कारण से एशिया माइनर में जा बसे, तो वहाँ के स्थान, नदी, पर्वत आदि के नामकरणों में उन्होंने अपनी आदि जन्म भूमि भारतद्वीप की ही स्मृति जागृत रक्खी थी। यदि यह युक्ति मानी जाय, तो उनकी पूर्व युक्ति आप ही निर्बल हो जाती है। अन्य मतावलम्बियों के निकट सिवाय कल्पना के इस प्रकार की कोई न ज्योतिष आदि की युक्ति है और न नामादि का ही कोई प्रत्यक्ष प्रमाण है। कोई शास्त्रीय युक्ति किसी के समर्थन में नहीं पायी जाती। अतः एक ओर केवल

कल्पनाप्रसूत बाल का बाँध है और दूसरी ओर समाधिसम्भूत पूज्यपाद महर्षियों के कालज्ञान और वेद-शास्त्रों के प्रत्यक्ष प्रमाण रूपी प्रचण्ड पर्वतों के बंध दृढ़ता से स्थित हैं। जो निष्पक्ष होकर विचार करेंगे, उनके निकट उक्त पार्वत्यबंध स्थिर रहेंगे और बालू के बन्ध ढह जायेंगे।

प्रथम तो मनुष्य सभ्यता का पुराने से पुराना पता भारतद्वीप रूपी हिंदुस्थान में जैसा लगता है, वैसा भारतवर्ष रूपी पृथ्वी के और किसी देश में नहीं लगता। यदि मनुष्य सृष्टि आदिकाल में पूर्णावयव हुई, यह स्वीकार किया जाये, तो जिस देश में मनुष्य सभ्यता की प्राचीनता का, दर्शनों का शिल्पादि का और वेद जैसे प्राचीन ग्रंथों का आविर्भाव हुआ है, वही देश मनुष्य की आदि निवास भूमि हो सकता है। जहाँ उत्पन्न हुए मनुष्य जगत् की सभ्यता के पथ-प्रदर्शक और नाना विद्याओं के आदि आविष्कर्ता बने, उसी भूमि में आदि मनुष्य सृष्टि हुई, यह स्वतः सिद्ध है। द्वितीयतः, जब साधारण विचार से देखने में आता है कि, भारतद्वीप की प्रकृति पृथ्वी भर के सब देशों की प्रकृति से पूर्ण है और उसका महत्त्व प्राचीनकाल से ही देखने में आता है, तो पूर्णावयव मनुष्य आदि सृष्टि में यहीं जन्म ले सकते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता। भारतद्वीप का पर्वतराज हिमालय पृथ्वी के सब पर्वतों से सर्वोन्नत, सब ऐश्वर्यों से पूर्ण और अतिसुंदर है। भारतद्वीप में ही गङ्गा जैसी नदी प्रवाहित होती है, जिसके जल की आजकल के साइण्टिस्टों ने परीक्षा करके सिद्ध किया है कि, वह जल सर्वरोगहारी है। भारतद्वीप के विभिन्न प्रान्तों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र चारों जाति की भूमियाँ विद्यमान हैं। भारतद्वीप की भूमि में सब प्रकार के अन्न और सब प्रकार के फल उत्पन्न होते और हो सकते हैं। यह भारतद्वीप का ही सौभाग्य है कि, यहाँ नाना प्रकार के अन्न और सब प्रकार के फल उत्पन्न होते और हो सकते हैं। यह भारतद्वीप का ही सौभाग्य है कि, यहाँ नाना प्रकार के रसाल (आम) होते हैं, जो पृथ्वी में और कहीं नहीं होते। सब देशों के फल, पुष्प, औषध आदि यहाँ उत्पन्न होते हैं। छहों ऋतुओं का यहीं विकास यथासमय होता है और भारतद्वीप ही ऐसा देश है कि, जहाँ एक काल में छहों ऋतु कहीं-न-कहीं विद्यमान रहते ही हैं। इससे भारतद्वीप की भूमि की पूर्णता स्वतः सिद्ध होती है और इन सब कारणों से भारतीद्वीप की भूमि ही आदिकाल में पूर्णावयव मनुष्य सृष्टि को उत्पन्न करने की शक्ति रखती है, यह सुगमता से सिद्ध हो सकता है।

वैदिक दर्शकों का यह दृढ़ सिद्धांत है कि, मनुष्य के अतिरिक्त उद्भिज्ज, स्वदेज, अण्डज और जरायुजरूपी चतुर्विध भूतसंघ प्रकृतिमाता के आज्ञाधीन होकर चलते हैं। उनकी आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि की क्रियाएँ, उनकी जीवनयात्रा सब प्रकृतिमाता के इंगित के अनुसार ही होती रहती है। चतुर्विध भूतसंघों में जिस जीव का जो स्वभाव है, उसका विरुद्धाचरण वह कर नहीं सकता। गौको यदि मांस

खिलाया जाय अथवा सिंह को घास खिलाया जाये, तो वह नहीं खायेगा और मर जायेगा। असमय में उन सब चतुर्विध भूतसंघों के जीवों में सृष्टि उत्पन्न करने की क्रिया हो ही नहीं सकती। उनमें जब यह क्रिया होती है, तो योग्यकाल में ही हुआ करती है। उन सब जीवों की चेष्टाएँ प्रकृतिमाता के सम्पूर्ण अधीन रहती हैं, इसको बुद्धिमानमात्र ही स्वीकार करेंगे। यही कारण है कि, उनमें धर्म और अधर्म, पाप और पुण्य की जिम्मेवारी है और न यह उनका अधिकार ही माना गया है। मनुष्य जीव में इसके विरुद्ध अधिकार स्वतः ही उत्पन्न होते हैं। मनुष्य के पूर्णावयव जीव होने के कारण उसमें स्वाधीनता आ जाती है और यह आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि की क्रियाएँ अपनी इच्छा से कर सकता है। वह प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करके स्वेच्छाचारी भी बन सकता है। यही कारण है, कि मनुष्य जाति उन्नत से उन्नत रूप को प्राप्त करके भी नीचे की ओर गिरा करती है और यही कारण है कि, मनुष्य में अधर्म चेष्टा को रोककर धर्मचेष्टा के बढ़ाने का प्रयत्न सब धर्मों और सब देशों में यथासंभव किया जाता है। पृथ्वी के इतहास के पाठ करने से यह ज्ञात होगा कि, सब देशों के इतिहास हाथ उठाकर साक्षी दे रहे हैं कि, जिस मानव जाति में वर्णाश्रम शृंखला नहीं थी, वे सब मनुष्य जातियाँ कालांतर में काल के कवल में पहुँच गयी हैं। जहाँ तक कि, प्रबल पराक्रान्त जगद्विजयिनी ग्रीकजाति का केवल नाम रह गया है और असल ग्रीकजाति पृथ्वी से उठ गयी है। इसी तरह जगद्विजयिनी और वर्तमान पाश्चात्य सभ्यता की गुरु रोमन जाति का तो नाम तक लुप्त हो गया है और उसकी जगह एक वर्तमान इटालियन जाति उस देश पर आधिपत्य कर रही है।

प्रकृति का प्रवाह निम्नगामी हुआ करता है। प्रकृति के इसी स्वाभाविक नियम के अनुसार सृष्टि के आदिकाल में उत्पन्न हुए ब्राह्मणों में मैथुनी सृष्टि के आगे बढ़ने पर क्रमशः उनमें के नरनारीगण नीचे की ओर गिरने लगे। उनमें कर्मसंकरता आने लगी और वे ब्राह्मणों के उन्नत अधिकार से च्युत होने लगे। शास्त्रों में प्रमाण है कि, सृष्टि की इस दशा में सृष्टिकर्ता भगवान् ब्रह्माजी ने काल के राजा मनु नामक एक देवता को उत्पन्न किया और देवलोक के कालराज राजा मनु ने इस भारतद्वीप में आकर उस कर्मसंकर मनुष्य जाति के चार विभाग कर दिये। वे ही चार विभाग ब्रह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहाते हैं। शास्त्रों में भी यह प्रमाण मिलता है कि अन्य सब लोकों की सृष्टि ठीक चलती रही। उच्च लोकों में देवगण और अधोलोकों में असुरगण जो सब भोगलोक हैं,—ब्रह्माण्ड के पूर्वसंस्कारों के अनुसार अपने-अपने संस्कारों को लेकर जन्मे हुए भोग शरीर प्राप्त नाना देवयोनियों के देवपिण्डधरी जीवगण मर्यादा से चलते रहे। परंतु हमारी यह पृथ्वी मृतयूलोक होने से और कर्म करने में यहाँ पूर्ण स्वाधीनता रहने से प्रथम सृष्टि में उत्पन्न ब्राह्मणों के कर्मों में फेर पड़ने लगा। उनमें से बहुत लोक अपने उच्च आदर्श वैसे वैसे

गिरते जाने लगे, जैसी-जैसी बैजी सृष्टि आगे बढ़ने लगी। फिर मनुष्यों के ब्राह्मणादि विभाग इस प्रकार से किये गये हैं कि, वे चारों बंध बन गये इन्हीं चारों बंधों ने मनुष्य जाति गिरती हुई धारा को रोका है और अभी तक वे चारों बंध मानव सृष्टि की आदि भूमि भारतद्वीप में टूटी-फूटी दशा में सबको दिखायी पड़ते हैं।

यह वर्णाश्रमबन्ध प्रत्येक कल्प में सृष्टि की आदि अवस्था में बांधे जाने से इसे सादि कहते हैं और कल्पान्तर में होते रहने से अनादि भी कह सकते हैं। इस कारण वेदों की तरह इसका आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। तत्त्वतः वर्णाश्रम अनादि ही है। इस सिद्धांत को वेद और सब शास्त्रों ने एक वाक्य होकर स्वीकार किया है। दूसरी ओर वर्णाश्रम सत्य सिद्धांत से युक्त होने के कारण चाहे वर्णाश्रमबन्ध कैसी ही टूटी-फूटी अवस्था में हो जाये, किंतु इसका नाश नहीं हो सकता। क्योंकि आध्यात्मिकता सत्य होने के कारण आध्यात्मिक उन्नतिशील मनुष्य जाति का एक बार ही पृथ्वी से लोप नहीं हो सकता।

इस बंधके संबंध में एक अलौकिक औपनिषदिक दृश्य शास्त्रों में खींचा गया है। जिसके पाठ करने से इस लोकोत्तर सामाजिक शृंखला (सोशियोलॉजी) की अपूर्वता, असाधारणता और मधुरता बुद्धिमानों के ध्यान में आवेगी। भगवान् शम्भु नित्यपितृगण जो एक श्रेणी के देवता हैं, उनसे कहते हैं—"देखो! मेरी श्यामा प्रकृति के दो रूप हैं। वही जड़रूपा है और वही जीवभूता चेतनमयी है। वह अज्ञानपूर्ण जड़रूप धारणा करके सदा सृष्टि को प्रकट करती है और चेतनमयी स्रोतस्विनी होकर मेरे स्वरूप पारावार में प्रवेश करती है। यह चिन्मयी नदी जड़मय महापर्वत से निकल कर प्रथम उद्भिज्ज, तदनन्तर स्वदेज, तदनन्त, अण्डज, तदनन्तर जरायुज नामधारी खाद में सरलता से बहती हुई मनुष्य लोक रूपी अधित्यका में पहुँचती है। उस अधित्यका के नीच महती उपत्यकाएँ और गह्वर आदि विद्यमान हैं। जिसमें उस पवित्र तरङ्गिणी का जल स्थान-स्थान पर स्वतः ही बह जाया करता है। हे पितृगण! उस स्रोत को अव्याहत, नीरन्ध्र और अविच्छिन्न रखकर नदी की धारा को धरातल पर सरल रखने के लिये वर्णाश्रम के आठ बंध बांधे गये हैं। इसी कारण वह अलौकिक त्रिलोकपावनी नदी सरल पथ को अवलम्बन करके मुझमें परमानन्द प्राप्ति के हेतु प्रवेश करती है। हे पितृगण। इसमें आप लोग बिस्मित न हों। देवतागण उस नदी में आनन्दपूर्वक अवगाहन करके अभ्युदय को प्राप्त होते हैं और ऋषिगण उस नदी के दोनों तटों पर समासीन तथा ब्रह्मध्यान में मग्न होकर निःश्रैयसपद को प्राप्त करते हैं। आप लोग निरंतर उन बन्धों को सुदृढ़ रखने के लिये उनके पास रहकर उनकी रक्षा करने में प्रवृत्त हों। आपके इस जगन्मङ्गलकर शुभ कार्य में सदाचारी ब्राह्मणगण और सती नारियां सदा सहायक रहेंगी।[5]

इस प्रकार से आध्यात्मिक उन्नतिशील मनुष्य जाति को चिरजीवी बनाने के लिये इस संबंध की महिमा वेद और शास्त्रों में बहुत कुछ गायी गयी है; अभी तक

मनुष्य की आदि जन्मभूमि भारतद्वीप में देखने और सुनने में आती है। इससे निरपेक्ष होकर सृष्टि विज्ञान को हृदयङ्गम करने वाले, भारतद्वीप की प्रकृति और ऐश्वर्य के महत्त्व को रागद्वेषशून्य होकर समझने वाले और वर्णाश्रम धर्मरूपी लोकोत्तर समाज विज्ञान (सोशियोलॉजी) की दूरदर्शिता का अनुभव करने वाले बुद्धिमान् विद्वज्जन यह समझकर आनन्द प्राप्त कर सकेंगे कि, भारतद्वीप ही आदि सृष्टि की प्राकट्य भूमि है और भारतवर्ष का वर्णाश्रमरूपी आदि मनुष्य समाज विज्ञान संसार में अलौकिक है।

संदर्भ

1. सनकञ्च सनन्दञ्च सनातनमथात्मभूः।
सनत्कुमारञ्च मुनीन्निष्क्रियानूर्ध्वरेतसः।।
वान्वभाषे स्वभूः पुत्रान्प्रजाः सृजत पुत्रकाः।
से नैच्छन्मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः।।
अथाऽभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे।
भगवच्छक्तियुक्तस्य लोकसन्तानहेतवः।।
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यो पुलहः क्रतुः।
भृगुर्वसिष्टो दक्षञ्च दशमस्तु च नारदः।।

—विष्णुभागवत, स्कन्ध 3

2. एवं मनूंस्तु सप्तान्यानस जन्भूरितेजसः।
देवान्देवनिकायांञ्च महर्षिञ्चामितौजसः।।
यक्षरक्षः पिशाचांञ्चगन्धर्वाप्सरसोऽसुरान्।
नागान्सर्पान्सुपर्णाञ्च पितृणां च पृथग्गणान्।।
किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्विविधांञ्च विहङ्गमान्।
पशून्मृगान्मनुष्यांञ्च व्यालांञ्चोभयतोदतः।।
कृमिकीटपतङ्गांञ्च यूका मक्षिकमत्कृणम्।
सर्वं च दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम्।।
अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याञ्च कच्छपाः।
यानि चैवं प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च।।
उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोद्गमाः।।
यथाकर्म यथाकालं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम्।
यथायुगं यथादेशं यथावृत्तिं यथाक्रमम्।।
एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः।
यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावराजङ्गमम्।।
येषां तु यादृशं कर्म भूतानमिह कीर्तितम्।
तत्था वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि।।

मनः, अ—1.1।।

3. श्रीकुण्डञ्च समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
पितामहं नमस्कृत्य गोसहस्रफलं लभेत्।।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ विमलं तीर्थमुत्तमम्।

अद्यापि यत्र दृश्यन्ते मत्स्याः सौवर्णराजताः।।
वितस्ताञ्च समासाद्य सन्तर्प्य पितृदेवताः।
नरः फलमवाप्नोति वाजपेयस्य भारत।।
काश्मीरेष्वेव नागस्य भवनं तक्षकस्य च।
वितस्ताख्यमिति ख्यातं सर्वपापप्रमोचनम्।
ततो गच्छेत वढ़वां त्रिषु लोकेषु विश्रुताम्।
पश्चिमायान्तु सन्ध्यायामुपस्पृश्य यथाविधि।।
चरुं सप्तार्चिषे राजन् यथाशक्ति निवेदयेत्।
पितृणामक्षयं दानं प्रवदन्ति मनीषिणः।।
ऋषयः पितरो देवा गन्धर्वाप्ससरसां गणाः।
गुह्यकाः किन्नरा यक्षाः सिद्धा विद्याधारा नराः।।
राक्षसा दितिजा रुद्रा ब्रह्मा च मनुजाधिप।
नियतं परमां दीक्षामास्थायाब्दसहस्रिकीम्।।
विष्णोः प्रसादनं कुर्वञ्चरुञ्च श्रपयंस्तथा।।
सप्तभिः सप्तभिश्चैव ऋग्भिस्तुष्टाव केशवम्।।
ददावष्टगुणैश्वर्य तेषां तुष्टश्च केशवः।
यथाभिलषितानन्यान्कामान् दत्वा महीपते।।
तत्रैवान्तर्दधे देवौ विद्युदभ्रेषु वै यथा।
नाम्ना सप्तचरुं तेन ख्यातं लोकेषु भारत।।
ततो निवृत्तो राजेन्द्र रौद्र पदमथाविशेषत्।
अभिगम्य महादेवमश्वमेधफलं लभेत्।।
अथ गच्छेत् राजेन्द्र दविकां लोकविश्रुताम्।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ।।
त्रिशूलपाणेः स्थानञ्च यत्र लोकेषु विश्रुतम्।
देविकायां नरः' स्थ्नात्वा समभ्यचर्यं महेश्वरम।
सर्वकीयसमृद्धस्य यज्ञस्य लभते फलम्।।
अर्धयोजनाविस्तारा पञ्चयोजनमायता।
एतावती देविका तु पुण्या देवर्षिसेविता।।
ततो गच्छेत् राजेन्द्र दीर्घसत्रं यथाक्रमम्।
गच्छत्यन्तर्हिता यत्र मेरुपृष्ठें सरस्वती।।
सरस्वत्यां महाभाग अनुसंवत्सरं चरंत्।
ततो गच्छेत् राजेन्द्र सङ्गम लोकविश्रुतम्।।
सरस्वत्या महापुण्यं केशवं समुपासते।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयञ्च तपोधनाः।।
ततो गच्छेत् राजेन्द्र कुरुक्षेत्रमभिष्टुतम्।
पापेभ्यो यत्र मुच्यन्ते दर्शनात् सर्वजन्तवः।।

—महाभारत, तीर्थयात्रापर्व, अ. 82

4. प्रजापतिकामयत प्रजायेयेति स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत तमग्निर्देवता अन्वसृज्यत—ब्राह्मणों मनुष्यायां अजः पशूनां, यस्मात्ते मुख्याः, बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत तमिन्द्रों देवता अन्वसृज्यत—राजन्यों मनुष्याणां

अविः पशूनां तस्मात्ते वीर्यवन्तः, मध्यतः सप्तदशं निरमिमीत तं विश्वेदेवा देवता अन्वसृज्यन्त—वेश्यो मनुष्याणां गावः पशूनां, सोऽन्येभ्यो भूयिष्टा हि देवता अन्वसृज्यन्त—शूद्रो मनुष्याणां अश्वः पशूनाम्।।

—तैत्तिरीयसंहिता।

लोकानान्तु विवृद्धयर्थं मुख्बाहूरुपादतः।
ब्राह्मण क्षत्रियं वैश्यं शूद्रश्च निवर्तयत्।।

—मनुः, अ. 1, श्लो. 31

भूरादीनां लोकानां बाहुल्यार्थं मुखबाहूरुपादेभ्यो ब्राह्मण क्षत्रियवैश्यशूद्रन्यथाक्रमं निमिंतवान् दैव्या च शक्त्या मुखादिभ्यो ब्राह्मणादिनिर्माणम्। ब्राह्मणों ने विशङ्कनीयः श्रुतिसिद्ध स्वात्। तथा च श्रुतिः "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्"इत्यादि।

—कुल्लूकभट्टः

असृजद् ब्राह्मणानेव पूर्व ब्रह्मा प्रजापतीन्।
आत्मतेजोभिनिवृत्तान् भास्कराग्निसमप्रभान्।।
न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्रह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णताङ्गतम्।।
कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः।
त्यक्तस्वधर्मा रक्तङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः।।
गोभ्यो वृर्त्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः।
स्वधर्मान्ननुतिष्ठन्ति तं द्विजा वैश्यतां गताः।।
हिंसानृतप्रिया लुब्धः सर्वकर्मोपजीविनः।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः।।

महाभारत, शान्ति पर्व

शनकैस्तु क्रियालोकपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च।।
पौण्ड्रकाश्चौंड्र द्रविड़ा काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्नवाश्चीचनाः ताताराः दरदाः खशाः।। *—मनुः।*

5. अत्रैकोपनिषद्दृश्यमन्तिके वः स्वधाभुजः।
गुह्यं प्रकाशयेऽत्यन्तमद्भुतं तत्प्रपश्यत।।
श्यामायाः प्रकृतैर्मे स्तो द्वे रूपे परमाद्भुते।
यतः सैव जड़ा जीवभूता चैतन्मय्यपि।।
अज्ञानपूर्णरूपेण जडरूपं धरत्यसौ।
सृष्टिं प्रकाशयेच्छश्वनात्र कश्चन संशयः।।
असौ चैतन्यपूर्ण च भूत्वा स्रोतस्विनी मम।
स्वस्वरूपात्म के नित्यं पारावारे विशत्यहो।।
सरिन्निग्रत्य चिद्र पा सा महाद्रेर्जडात्मकात्।
उद्भिज्जे स्वेदजे चैवमण्डजे च जरायुजे।।
सलीलं खातरूपेऽलं प्रवहन्ती स्वधाभुजः।
मर्त्यलोकाधित्यकायां निर्बाधं ब्रजति स्वयम्।।
तस्या अधित्यकाया हि निम्नस्थाश्चैकपार्श्वतः।
उपत्यका महत्यश्च विद्यन्ते गह्वरादयः।।
यत्र तस्याः पवित्रायास्तरङ्गिण्या जलं स्वतः।

स्थाने स्थाने वहन्नित्यं निर्गच्छति स्वभावतः।।
अव्याहतञ्च नीरन्ध्रमविच्छिन्नं निरापदम्।
स्रोतस्तन्नितरां कृत्वा नदीधारां धरातले।।
विधातुं सरलां सौम्भ्यामष्टबन्धााः स्वधाभजुः।
धर्मा वर्णाश्रमा एवं निर्मिता नात्र संशयः।
त्रिलोकपावनी दिव्या सा नदी सुगमं हितम।
पन्थानमवलम्ब्यैव परमानन्दलब्धये।।
मयि नित्यं प्रकुर्वाणा प्रवेशं राजतेतराम्।
नैवात्र विस्मयः कार्यो भवद्भिः पितृपुङ्गवाः।।
निर्जरा निखिलास्तस्यां नद्यामानन्दपूर्वकम्।
सम्रदेवावागाहन्ते लभन्तेऽभ्युदयञ्च ते।।
उभयोस्तटयोस्त्स्याः समासीना महर्षयः।
ब्रह्मध्याने सदा मग्ना यान्ति निःश्रेयसं पदम्।
यूयं दाढ्र्याय बन्धनां तेषाञ्चैव निरन्तरम्।
रक्षितुं तान् प्रवर्तन्ते पार्श्वमेषामुपस्थिताः।।
भवतामत्र कार्ये च विश्वमङ्गलकार के।
सदाचारिद्विजाः सन्ति सत्यो नार्यः सहाययिकाः।।

—शम्भुगीता, अध्याय 4

6

भारत द्वीप का सामाजिक संघटन

जैसा वृक्ष का वन के साथ संबंध है, वैसा ही मनुष्य का मनुष्य समाज के साथ संबंध है। जिस प्रकार दावानल से वन की रक्षा करने के लिए जंगलों में पृथक्-पृथक् खण्ड (Eire line) बना दिये जाते हैं, जिससे एक खण्ड की अग्नि दूसरे खण्ड में जाकर समस्त वन को भस्म न कर डाले, उसी प्रकार चारों वर्णों के चार अलग-अलग खण्ड बनाकर उनके द्वारा वर्णाश्रम बन्ध की दृढ़ता से आध्यात्मिक उन्नतिशील मनुष्य समाज की बड़ी सुकौशलपूर्ण रीति से भारतद्वीप में रक्षा की गयी है। भारतद्वीप का समाज विज्ञान वर्तमान जगत् के समाज विज्ञान (सोशियोलॉजी) से कुछ विचित्र और विलक्षण है। वर्तमान सभ्य जगत् की सोशियोलॉजी एक तो केवल लौकिक परीक्षा के ऊपर निर्भर करके बनायी गयी है। दूसरी बात यह है कि, वर्तमान सभ्य जगत् के चिन्ताशील नेताओं ने जिस सुख के अन्वेषण के लिये सोशियोलॉजी का अनुशीलन किया है, उस सुख का यथार्थ स्वरूप क्या है, उसका पता वे अभी तक नहीं लगा सके हैं। तीसरी बात यह है कि, जिस मनुष्य समाज का स्त्री जाति एक बहुत ही आवश्यकीय और प्रधान अङ्ग है, उस स्त्री जाति के धर्म और पुरुष जाति के धर्म और दोनों के अलग-अलग अधिकारों पर उनकी दृष्टि ही आकृष्ट नहीं हुई है। और चौथी बात यह है कि, पदार्थ विद्या का अनुशीलन करने वाला वर्तमान सभ्य जगत् न तो स्थूल मनुष्य शरीर के भीतर के दो अङ्गों—सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर के अस्तित्व पर दृष्टि डालता है और न यही विश्वास करता है कि, इस स्थूल मृत्युलोक के पीछे उसका चालक एक बड़ा प्रतापशाली दैवलोक है। इन सब त्रुटियों के कारण वर्तमान सभ्य जगत की सोशियोलॉजी अर्थात् समाज संघटन प्रणाली प्राचीन भारतद्वीपवासी वर्णाश्रम शृंखला सेवी आर्यों की समाज संघटन प्रणाली से बहुत ही दुर्बल है, इसमें संदेह नहीं है।[1]

इस दुर्बलता का एक प्रधान कारण यह भी है कि, वर्तमान सभ्य जगत् की सोशियोलॉजी अदूरदर्शी मनुष्य बुद्धि सम्भूत है और प्राचीन भारतद्वीप की सोशियोलॉजी

दूरदर्शी देवलोक के नेतृवन्दों के द्वारा संस्थापित हुई है। सृष्टि के आदिकाल में श्री भगवान् ब्रह्मा जी ने देखा कि, मनुष्य समाज, जो सारे ब्रह्माण्ड का केन्द्रीभूत शक्तिरूप है, वही भारतवर्षीय मनुष्य-समाज नीचे की ओर गिरता जा रहा है। जिस समय उन्होंने ऐसा अनुभव किया, उसी समय वर्णाश्रम के प्रबल बन्ध के द्वारा भारतीय मनुष्य समाज की नीचे की ओर गिरती हुई दशा को कालचक्र के राजा मनु को भेजकर रोक दिया; जैसा कि, पहिले एक औपनिषदिक दृश्य बताकर सिद्ध किया गया है। देवबुद्धि से सृष्टि की आदि अवस्था में जो सोशियोलॉजी बनी और उसके जो सिद्धांत निश्चित किये गये, वे सब गंभीर विज्ञान की भित्ति पर स्थित हैं।

प्राचीन आर्यों के समाज विज्ञान—(सोशियोलॉजी) को सफल बनाने के लिये, उसकी सामाजिक शृंखला को सुदृढ़ बनाने के लिये और साथ-ही-साथ आध्यात्मिक उन्नतिशील आर्य जाति को काल के तपन से दग्ध न होने के लिए जो आठ (अग्निरक्षक रेखाएँ (fire line) बनायी गयी हैं और उसकी दृढ़ता के लिये जो बंध बाँध गये हैं, वे ही चातुर्वर्ण्य के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्ररूपी चार वर्ण हैं और चतुराश्रम के ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासरूपी चार आश्रम हैं। चार वर्ण तो प्रध ानतः ऐहलौकिक अभ्युदय के हेतु और चार आश्रम प्रधानतः पारलौकिक अभ्युदय के हेतु हैं और निःश्रेयस प्राप्ति के लिये आठों ही परम सहायक हैं। वेद के मीमांसा दर्शन में स्पष्ट रूप से प्रमाणित किया गया है कि, यथार्थ सुखरूपी परमानन्द की उपलब्धि कराने के लिये ही चार आश्रमों की व्यवस्था बाँधी गयी है। विषयों में जो सुख की प्राप्ति होती है, उसकी पर्यालोचना करने से यही सिद्ध होता है कि, विषयों में आनन्द नहीं है, किंतु आनन्द परमात्मा का स्वरूप है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि, मिष्टान्न में आनन्द नहीं है, किंतु आनन्द परमात्मा का स्वरूप है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि, मिष्टान्न में आनन्द नहीं है यदि ऐसा होता, तो यकृत के रोग के रोगी को भी मिष्टान्न सेवन से आनंद आता। विषय के संसर्ग से इन्द्रियाँ मन को एकाग्र करके अपने आप ही समाधिस्थ करा देती हैं। योग का सिद्धांत यह है कि, समाधिस्थ अन्तःकरण में परमानन्दस्वरूप आत्मा का स्वतः ही विकास हो जाता है। उसी की झलक से विषय सुख में जीव को आनन्द की प्राप्ति हो जाती है।[2]

यथार्थ सुख क्या है? यथार्थ आनन्द क्या है? विषयानन्द में और यथार्थ आनन्द में भेदप्रतीति कैसे हो सकती है? आनन्द की उपलब्धि क्रमशः कैसे बढ़ती और कहाँ उसकी समाप्ति होती है? इन सब गंभीर आध्यात्मिक रहस्यों का पता वर्णाश्रमधर्मी प्राचीन आर्यजाति के ब्राह्मणों ने ही लगाया था। वर्तमान सभ्य जगत् को उसका रहस्य स्वप्न में भी अनुभूत नहीं हो सकता। अग्रजन्मा ब्राह्मणों की तपस्या, विद्या और शक्ति सब वर्णों की अपेक्षा अधिक होने पर भी वे तपस्या, त्याग और अध्यात्म

चिन्तन को ही मुख्य मानकर, क्षत्रियों पर राजानुशासन का भार देकर, स्वयं वन में जाकर वास किया करते हैं। एकाधार में सब ऐश्वर्यों के अधिकारी होने पर भी धन को हेय समझकर तपस्या और स्वाध्याय को वे उपादेय समझते थे। ऐश्वर्यशाली नगरों को त्याग करके वन में जाकर एकान्तसेवी होकर वैदिक कर्म, ब्रह्मोपासना और आत्मा नात्म-विचार में तृप्त रहते थे। उनका यह सिद्धांत निश्चित था कि, वैषयिक सुख में सुख नहीं है। उनका यह निश्चय था कि, सातों असुरलोकरूपी बिलस्वर्ग से लेकर भूः भुवः स्वः रूपी त्रिलोक के सब सुख वैषयिक सुख हैं। इस कारण वे त्रिलोक के सुखों के त्याग का सङ्कल्प कर तब संन्यास आश्रम ग्रहण करते थे। वर्णाश्रम की यावत् शृंखला की मौलिक भित्ति यथार्थ सुख का प्राप्ति है। उन्होंने यहाँ तक पता लगाया था कि, यथार्थ सुख की प्राप्ति उत्तरोत्तर कैसे हो सकती है। वेद और शास्त्र का यही सार-सिद्धांत है कि, आनंद आत्मा का स्वरूप है। आत्मा सत् है, चित् है और आनंदस्वरूप है, यह सर्वसिद्ध सिद्धांत है। उस आत्मा के स्वरूप को इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्रकृति आच्छन्न किये रहती है। जब उत्तरोत्तर इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्रकृति के इस आवरण भाव को दूर कर सकने पर यथार्थ आनंद उदय स्वतः ही होता है। जब तत्त्वदर्शी महापुरुष वैषयिक सुख से मुँह फेर लेता है, तो पहिले वह अपने इन्द्रियों पर आधिपत्य स्थापन करने की शक्ति प्राप्त करता है। उस समय उस महात्मा को जो सुख की प्राप्ति होती है, वह यथार्थ सुख की पहिली अवस्था है। ऐसे महापुरुष को उसके स्थूल शरीर के अंत होने पर प्राजापत्य-स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यह ऊपर का चौथा लोक है। जो महापुरुष ऐसे संयमी हो जाते हैं कि इन्द्रिय और मन दोनों पर जिनका पूर्ण आधिपत्य हो जाता है, उनके अन्तःकरण में जिस सुख का उदय होता है, वह यथार्थ सुख की दूसरी अवस्था है। ऐसे महात्माओं के स्थूल शरीर का अंत होने पर उनको प्रथम ब्राह्मस्वर्ग अर्थात् जनलोक की प्राप्ति होती है। जो योगिराज महापुरुष महत्त्व अर्थात् बुद्धितत्त्व पर पूर्ण आधिपत्य कर लेते हैं और जब चाहें, ब्रह्म में युक्तबुद्धि में समाहित हो सकते हैं, उनको जिस आनंद की प्राप्ति होती है, वह यथार्थ सुख की तीसरी अवस्था है और ऐसे योगिराज महात्माओं के स्थूल शरीर का अंत होने पर वे ब्राह्मस्वर्ग के द्वितीय लोक अर्थात् तपोलोक को प्राप्त करते हैं। और जो महात्मा कृतकृत्य होकर प्रधान अर्थात् प्रकृति पर अधिकार कर लेते हैं, उनके अंतःकरण में जो आनंद का विकास कर लेते हैं, उनके अंतःकरण में जो आनंद का विकास होता है, वह सुख की तुरीयावस्था है उनको स्थूल देह के छोड़ने पर सत्यलोक की प्राप्ति होती है, जो ब्राह्मस्वर्ग और चतुर्दश भुवनों का सर्वोन्नत लोक है। इस प्रकार से इन्द्रियसुख को हेय मानकर ब्रह्मानन्द प्राप्ति की पौढ़ियों को भली प्रकार से देखकर ब्रह्मानन्द पारावार में निमग्न होते हुए जगद्गुरु ब्राह्मणों यथार्थ सुख प्राप्ति का मार्ग मनुष्य जाति को बताया है। जिसकी कल्पना की आजकल के सभ्य जगत्

नहीं हो सकती। सब प्रपञ्चों से अतीत, सब निरानन्दों से रहित, अद्वैत भावापन्न और एकाधार में अस्ति, भाति और आनन्द का जो अद्वैत स्वानुभव है, वही भगवान् का स्वरूप है और वही परमानन्द पारावार है। जिसको पूज्यपाद महर्षियों ने ही सबसे पहले इस मृत्युलोक में अनुभव किया था।

यह सिद्धांत सब वैदिक दर्शनों का सार है। उसी परमानंद का स्वानुभव प्राप्त करने के लिये चार आश्रमों की सृष्टि हुई है। ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवृत्ति में उपाय सिखाये जाते हैं, गृहस्थाश्रम में वेद और शास्त्रविहित प्रवृत्ति करायी जाती है और मनुष्य को निवृत्ति मार्ग में चलने के लिये तैयार कराया जाता है। वानप्रस्थाश्रम में निवृत्ति सिखायी जाती है और संन्यासाश्रम में निवृत्ति का पूर्ण अधिकार प्राप्त करते हुए मनुष्य को आत्मा की उपलब्धि कराके परमानन्द पारावार में उन्मज्जन-निमज्जन कराया जाता है। यही प्राचीन आर्यों के चतुराश्रम का मौलिक विज्ञान है।[3]

जिन जातियों में वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं है अथवा जो वर्णाश्रम व्यवस्था को नहीं समझते हैं, वे कई तरह की निर्मूल शङ्काएँ किया करते हैं। यथा—पृथ्वी की अन्य जातियों में जैसी रजोवीर्य की शुद्धि नहीं है, वैसी ही वर्णाश्रमी हिंदुओं में भी नहीं है। यद्यपि रजोवीर्य का सम्मिश्रण सब जातियों में ही हो सकता है और नाना कारणों में वृद्ध हिंदू जाति में भी इस प्रकार का सम्मिश्रण हो जाना संभव है; परंतु इस प्रकार के सम्मिश्रण के न होने का सबसे बड़ा प्रमाण गोत्र है। ऋषिगोत्र जिन-जिन जातियों में प्रचलित हैं, उन-उन जातियों में रजोवीर्य की शुद्धि बराबर चली आयी है, ऐसा माना जा सकता है। दूसरी और वर्तमान समय में हिंदू जाति के चातुर्वर्ण्य में ओर उसके अर्न्तविभागों में वैवाहिक संबंध के जो अलग-अलग गोल बाँध दिये गये हैं, वे रजोवीर्य शुद्धि के विचार से दूषण नहीं भूषण ही हैं।

मनुष्य समाज के दो प्रधान अङ्ग हैं। एक स्त्री और दूसरा पुरुष। स्त्री क्षेत्ररूपा है और पुरुष बीजरूप है। जिस प्रकार के भूमि में बोने तक की बीज की सुरक्षा करने की आवश्यकता है। उसके बाद बीज का ठीक उगना, वृक्ष शाखाओं का बढ़ना और फल का ठीक फलना, सब भूमि की योग्यता पर निर्भर है। ठीक उसी प्रकार सृष्टि कार्य में नारी की प्रधानता है। सृष्टि क्रिया में स्त्री मुख्य और पुरुष गौण है; क्योंकि पुरुष का कार्य केवल कुछ मिनटों का है और स्त्री की जिम्मेवरी नौ-दस, महीने और उससे भी अधिक है। तीसरी विचार की बात यह है कि, पुरुष के व्यभिचार का परिणाम केवल उसके अपने शरीर तक ही रहता है, परंतु स्त्री का व्यभिचार कुल, जाति और मनुष्य समाज को नष्ट कर देता है। इस प्रकार से जितना ही विचार किया जायेगा, सृष्टि क्रिया में स्त्री की प्रधानता और समाज के संघटन में पुरुष की प्रधानता का अनुभव होगा। इसी अलङ्घनीय और अपरिवर्तनीय सिद्धांतों को लक्ष्य में रखकर भारतद्वीप के प्राचीन आर्यों ने अपनी सोशियालाजी की भित्ति की स्थापना की थी।[4]

इसी बीज और भूमि के अधिकारों को अपने विचार के सम्मुख रखकर और स्त्री जाति की जिम्मेवारी के अनुसार उसके महत्त्वों को सम्मुख रखकर नारी जाति की पवित्रता रक्षा के लिये महर्षियों नेअपनी वर्णाश्रमरूपी सोश्यिोलॉजी के दृढ़ सिद्धांत में नारी जाति के त्रिलोक पवित्रकारी धर्मों का समावेश किया है। नारी जाति को जगज्जननी भगवती का स्वरूप समझना, कुमारी अवस्था में मूर्तिमती दुर्गारूपी से उसकी पूजा करना, विवाह के अनंतर सौभाग्यवती अवस्था में महालक्ष्मी रूप से उसका आदर करना, विधवा अवस्था में संन्यासिनी और महामाया रूप से उसका सम्मान करना, यह वर्णाश्रम का सुप्रसिद्ध शिष्टाचार है। कन्या में यौवन का लक्षण रूप रजोधर्म होने से पूर्व उसका विवाह करने की आज्ञा सब महर्षियों ने एक वाक्य होकर इस कारण से दी है कि, उसका अन्तःकरण पतिदुर्ग के द्वारा सुरक्षित हो जाये और किसी प्रकार कलङ्कित न हो सके। आर्यमहिला को सर्व प्रकार से सुरक्षित रखने के लिये ही उसको निरंकुश और स्वाधीन न बनाकर सर्वदा वर्णाश्रम शृंखला में परतंत्र बनाया है। नारी जाति की यह तपस्या उसकी महत्व वृद्धि और मनुष्य समाज की सुरक्षा के लिये है। इसी प्रकार सतीत्व धर्म का आदर्श चिरस्थायी रखने के लिये पूज्यपाद महर्षियों ने विधवाविवाह का निषेध करके विधवा आर्यमहिला को आजीवन ब्रह्मचर्य पालन की आज्ञा दी है। प्राचीन भारतद्वीप की सोशियोलॉजी में एक ओर नारी जाति की पूजा द्वारा पुरुष की तपस्या बढ़ायी गयी है और दूसरी ओर नारी जाति की तपस्या बढ़ाकर वर्णाश्रम मानने वाली मनुष्य जाति के महत्व को अक्षुण्ण रक्खा गया है। यही कारण है कि प्राचीन भारतद्वीप की सामाजिक शृंखला (सोशियोलॉजी) में पूज्यपाद महर्षियों ने अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय मानकर नाना प्रकार से आर्य महिलाओं की पवित्रता की रक्षा करने के लिये अतिदृढ़ नियम बनाये हैं। वर्तमान जगत् की सभ्यता के प्रेमीजन उन सब दृढ़ आचारों के महत्त्व को न समझकर नाना प्रकार की अलीक जल्पना-कल्पना भले ही करें, परंतु आर्य महिलाओं की पवित्रता की रक्षा करना, यही वर्णाश्रम रक्षा का प्रथम दुर्ग है।

असवर्ण विवाह को रोककर रज और वीर्य की शुद्धि रक्षा करना, यह वर्णा श्रमधर्म की रक्षा का दूसरा सुदृढ़ दुर्ग है। वर्तमान समय की पदार्थ विद्या (साइंस) ने यह प्रत्यक्ष दिखाकर सिद्ध कर दिया है कि कोई पशु जब शिक्षित किया जाता है, तो उसके माता-पिता यदि पूर्व से वैसे ही शिक्षित हों, तो उनके बच्चों की शिक्षा बहुत ही थोड़े दिनों में सफल हो जाती है। एक सफेद चूहे को यदि पानी भरना सिखाया जाये, तो उसको कम-से-कम तीन सौ बार यथायोग्य शिक्षा देनी पड़ती है। परंतु यदि ऐसे चूहे के बच्चे को केवल तीस बार शिक्षा देने से ही उसमें पानी भरने का पूर्ण कौशल आ जाता है। पूज्यपाद महर्षिगण इस वंश परंपरा के विज्ञान से अच्छी तरह से परिचित थे। इसके मर्म को अच्छी तरह समझकर उन्होंने दर्शनशास्त्र में स्पष्ट रूप से प्रमाणित कर दिया है कि, गुण और भाव दोनों ही रज और वीर्य

के द्वारा आकृष्ट होकर पिता-माता के द्वारा वंश परंपरा रूप से पुत्र में खिंच आते हैं। प्राचीन भारतद्वीपवासियों का यह स्थिर सिद्धांत है कि, सत्व-रज-तमरूपी तीन गुण और अध्यात्म-अधिदैव-अधिभूतरूपी तीन भावों का आकर्षण वंश परंपरा रूप से रजोवीर्य के द्वारा साधारण रूप से अवश्य हुआ करता है। इसी कारण प्राचीन भारतद्वीप की सोशियोलॉजी में जन्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार जातियों का होना निश्चित किया गया है। और यही कारण है कि, असवर्ण विवाह का वर्णाश्रम धर्म में निषेध किया गया है। क्योंकि असवर्ण विवाह के द्वारा रजोवीर्य की अपवित्रता हो जाती है और जिस त्रिगुण के विचार से चातुर्वर्ण्य की शृंखला बाँधी गयी है, उस त्रिगुण का आधा शरीर होने से और शरीर के उपादान रजोवीर्य के अपवित्र हो जाने से वर्ण-धर्म की व्यवस्था रह ही नहीं सकती। वर्तमान समय की पदार्थ विद्या (साइन्स) भी आगे बढ़ती हुई यह मानने लगी है कि, मनुष्य प्रकृति चार प्रकार की होती है और मनुष्य श्रेणी का रक्त भी चार प्रकार का होता है। ये चारों श्रेणी के रक्त यदि परस्पर में मिला दिये, जायें, तो मनुष्य मर जाता है और न मरे, तो उसकी आगे की सृष्टि नष्ट हो जाती है। पूज्यपाद महर्षियों का यह प्राचीन सिद्धान्त है कि, जिस मनुष्य जाति में वर्णाश्रम शृंखला नहीं है, वह मनुष्य जाति चिरजीवी नहीं हो सकती। इसी सिद्धांत पर स्थिर रहकर पूज्यपाद महर्षियों आर्य और अनार्यों के लक्षण किये हैं कि, जो जाति वर्णाश्रम माने, वह आर्य जाति और जो न माने वह अनार्य है।[5] वर्णाश्रम रक्षा का तीसरा दुर्ग प्राचीन भारतद्वीप की विवाह पद्धति है। सगोत्रा कन्या के साथ विवाह न करना, वयोज्येष्ठा (अपनी उम्र से अधिक उम्र की कन्या) के साथ विवाह न करना और सात्विक रीति से विवाह संस्कार को सुसम्पन्न करना, यह विवाह के तीन मौलिक सिद्धांत हैं। वेद के कर्ममीमांसा शास्त्र में स्पष्ट रूप से दिखलाया गया है कि, एक ही गोत्र के रज और एक ही गोत्र के वीर्य का सम्मिश्रण करने से आगे की सृष्टि दुर्बल हो जाती है और आगे चलकर कुल का नाश हो जाता है। पदार्थ विद्या द्वारा भी यह सिद्ध हो चुका है कि, घोड़ों, गायों और भैंसों की नस्लों में एक ही पुं-पशु के द्वारा उसी की वंश परंपरा के स्त्री-पशु में यदि नियमित सृष्टि चलायी जाय, तो आगे की सृष्टि दुर्बल हो जाती है। भारतवर्ष की गोजाति की हीनता इसी कारण से हुई है। इसी प्रकार वर से यदि कन्या की अवस्था अधिक हो, तो ऐसी वयोज्येष्ठा कन्या के साथ विवाह करना भी वर्णाश्रम शृंखला से विरुद्ध है। मीमांसादर्शन यह सिद्ध करता है कि, वयोधि का कन्या के साथ विवाह करने से शक्ति का नाश होता है। शक्ति के नष्ट होने से वंश में पुरुष सन्तति का ह्रास हो जाता है और पुरुष सृष्टि में क्रमशः शारीरिक शक्ति से साथ-ही-साथ मानसिक शक्ति और बौद्धिक शक्ति भी क्षीण हो जाती है। परंतु ये सब कुफल समयान्तर में वंशपरंपरा रूप से प्रत्यक्ष में आते हैं। इस कारण प्राचीन भारतद्वीप की सोशियोलॉजी में आर्य जाति

की सुरक्षा के निमित्त ऐसे-ऐसे दूरदर्शितापूर्ण वैज्ञानिक नियम बताये गये हैं। प्राचीन आर्यों की विवाहनीति तो बड़े ही सारगर्भ और दार्शनिक विज्ञान से विजड़ित है। आजकल के सभ्य जगत् में जिस प्रकार विवाह रीति को एक सामाजिक सुख प्राप्ति का अवलंबन करके माना गया है और उसमें धार्मिक और पारमार्थिक विशेषता कुछ भी नहीं समझी गयी है, ऐसे सिद्धांत समूह प्राचीन भारतद्वीप के समाज विज्ञान से हेय समझे गये हैं। वर्णाश्रमी आर्य जाति में विवाह एक सर्वमान्य धार्मिक संस्कार माना जाता है। विवाह संस्कार के द्वारा संस्कृत पुरुष और स्त्री दोनों पूर्णता को प्राप्त होते हैं। जैसे वैद्युतिक जगत् (इलेक्ट्रिसिटी) के रहस्य में 'पॉजिटिव इलेक्ट्रिसिटी' और 'निगेटिव इलेक्ट्रिसिटी' दोनों तड़ितप्रवाह जब तक एक केंद्र में सुसंस्कृत होकर यंत्र द्वारा सम्मिलित नहीं होते, तब तक कोई वैद्युतिक क्रिया सम्पन्न नहीं होती। ठीक उसी प्रकार प्राचीन आर्यों का यह स्थिर सिद्धांत है कि जब तक विवाह संस्कार के द्वारा संस्कृत होकर वर्णाश्रम मर्यादा के अनुसार स्त्री और पुरुष का युग्म नहीं बनता, तब तक वे धर्मसाधन का पूर्ण अधिकार नहीं प्राप्त कर सकते। धर्म संस्कार से संस्कृत दंपति गँठबंधन कर याग, यज्ञ तथा दानादि धर्मानुष्ठान करने के अधिकारी होते हैं और दोनों जब शुद्धाचार से युक्त रहते हैं, तभी उनमें दैवीपीठ का आविर्भाव होता है। उस पीठ के साथ देवलोक का संबंध स्थापित हो जाता है। प्राचीन आर्यों का विवाह संस्कार केवल इस लोक के लिये नहीं है, उसका संबंध जन्मान्तररूपी आवागमन चक्र के साथ बराबर बना रहता है और आर्य दम्पति केवल इसी लोक में परस्पर को सहायता नहीं देते, किंतु जन्म-जन्मान्तर में भी एक-दूसरे को सहायता देते हुए अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करते हैं। प्राचीन भारतद्वीप के पूज्यपाद महर्षियों का यह दृढ़ सिद्धांत है और यही वर्णाश्रम रक्षा का तृतीय दुर्ग है।[5]

भारत द्वीप की वर्णाश्रम रूपी सोशियोलॉजी की सुरक्षा का चतुर्थ दुर्ग शुद्धाशुद्ध विवेक है। मनुष्य पूर्णाव्यव जीव है, क्योंकि उसमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँचों कोषों की पूर्णता हो जाती है। आर्य मानव पिण्ड भारतद्वीप की सोशियोलॉजी में वही समझा जाता है, जिस मानव पिण्ड में इन पाँचों कोषों की शुद्धता की सामग्री विद्यमान हो। साधारण रूप से मनुष्य में इन पाँचों कोषों में जो अलग-अलग अपवित्रता आया करती है, वैदिक दर्शन-शास्त्रों में उनके अलग-अलग नाम गिनाये हैं और लक्षण भी कहे हैं। अन्नमय कोष की अपवित्रताओं को मल कहते हैं। यह मल साधारण मलिनता (गंदगी) को नहीं कहते। अन्नमय कोष में जिससे जड़ता उत्पन्न होती है, उसी को कहते हैं। इसी प्रकार प्राणमय कोष की। नियमित क्रिया में और उसकी पवित्रता में जो बाधक हो, उसको विकार कहते हैं। इसी तरह मनोमयकोष में जिससे चञ्चलता बढ़ जाती है, ऐसी हानिकारक शक्ति का नाम विक्षेप है। विज्ञानमय कोष में बुद्धि को जो आवृत करती है, उस शक्ति को आवरण कहते हैं और योग बुद्धि के समझने योग्य जो आनन्दमय

कोष है, उसमें तमोगुण के प्रभाव को बढ़ाने वाली जो शक्ति है, उसको अस्मिता कहते हैं। भारतद्वीप की सोशियोलॉजी में जो शुद्धाशुद्ध विवेक और स्पर्शा-स्पर्शविवेक का बड़ा और विस्तृत अधिकार पाया जाता है, उनका उद्देश्य यही है कि, मानवपिण्ड में मल, विकार, विक्षेप, आवरण और अस्मिता की वृद्धि न होने पावै। कितनी गंभीर दार्शनिक भित्ति पर प्राचीन आर्यों का शुद्धाशुद्धिविवेक जमाया गया है, वह विवेचन से समझ में आ सकता है। इन पाँचों प्रकार के बुरे प्रभाव के उदाहरण दिये जाते हैं। अपवित्र पदार्थों के संबंध से अन्नमय कोष के मल के बढ़ने का उदाहरण शास्त्रों में दिया गया है। शव का स्पर्श होने से प्राणमयकोष पर बुरा प्रभाव पड़ता है। क्योंकि शव में से प्राणमय कोष अन्य कोषों को लेकर निकल जाता है। सूर्य-चंद्र-ग्रहण के समय जो अशौच माना जाता है, उसका प्रथम संबंध मनोमय कोष से होता है। क्योंकि सूर्य और चन्द्रग्रहण की आकर्षण विकर्षण शक्ति में ग्रहण के समय बाधा हो जाती है। उसका बुरा प्रभाव मनोमय कोष से आरंभ होता है। कुसंसर्ग से विज्ञानमय कोष पर मलिनता आ जाती है और कुप्रभाव विज्ञानमय कोष से प्रारंभ होता है। इसी प्रकार सद्सद विचार रहित होने से आनन्दमय कोष मलिन होकर उसका प्रभाव अन्य कोषों तक पहुँचता है। यह सब विषय वेद के कर्ममीमांसाशास्त्र में भली-भांति सिद्ध कर दिखाया गया है और यह भी सिद्ध करके दिखाया है कि, ये पाँचों प्रभाव एक दूसरे से मिले-जुले भी रहते हैं। इस कारण इन पाँचों कुप्रभावों से सुसंस्कृत आर्य पिण्ड को निरंतर बचाये रखने के लिये वेद और स्मृतिशास्त्र में शुद्धाशुद्ध विवेक का इतना विस्तृत विचार किया गया है।[7] यह चौथा दुर्ग स्थूल राज्य से सूक्ष्म राज्य तक विस्तृत होने के कारण इसके पालन का बरताव वर्णाश्रमी आर्यजाति में सर्वत्र दिखायी देता है।

इस अलौकिक तथा विशुद्ध दार्शनिक भित्ति पर स्थित धर्ममूलक समाज विज्ञान का मूल अंतर्जगत्‌रूपी देवलोक में दृढ़तापूर्वक स्थित है। उसकी शाखा-प्रशाखाएँ भूः भुवः स्वः रूपी त्रिलोक में परिव्याप्त हैं। क्योंकि त्रिलोक के संम्वर्द्धन के साथ इसका दृढ़ संबंध है। इस कल्पद्रुम का फल और पुष्प आर्य धर्मपालक मानव पिण्ड सदा उदित रहता है। इस धर्म का पालन करने से बिना प्रयास वर्णाश्रमी आर्य प्रजा अपने आप अभ्युदय को प्राप्त करती है और जन्म-जन्मान्तर में इसके भाग्यवान्‌ जीव समूह आवागमन चक्र में आते-जाते हुए आध्यात्मिक पथ में निरंतर अग्रसर होते रहते हैं तथा अन्त में पूर्ण उन्नति लाभ करके ब्रह्मसायुज्य को प्राप्त करते हैं। उनके अभ्युदय और निःश्रेयस के लिये विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं रहती। यही पूज्यपाद महर्षियों का निश्चित सिद्धांत है।

मीमांसाशास्त्र में भारतद्वीप की वर्णाश्रम रूपी सोशियोलॉजी की दार्शनिक भित्ति समझने के लिए एक बड़ा अलङ्कार दिखाया गया है।[8] दर्शन शास्त्र में इस औपनिषदिक दृश्य का ऐसा वर्णन है कि, वर्णाश्रम का मूल आर्य महिलाओं का सतीत्व है। उसका

स्कन्ध शुद्धाशुद्ध विवेक है। उस वर्णश्रमरूपी वृक्ष की शाखाएँ वर्णाश्रम धर्म की शृंखलाएँ (आर्गेनाजेशन) हैं। उस वृक्ष के पत्र वर्णाश्रम के सदाचार हैं। उस महाशक्तिशाली और त्रिलोक को पवित्र रखने वाले वृक्ष का पुष्प जीव का अभ्युदय है। क्योंकि वर्णाश्रम की शृंखला ऐसी बाँधी गयी है कि, जिससे चारों वर्णों और चारों आश्रमों के आचार यथाधिकार पालन करते रहने पर, चाहे नर हो चाहे नारी और चाहे किसी वर्ण का व्यक्ति हो, अपने आप ही आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ अभ्युदय को प्राप्त करता रहेगा और उसके पतन की संभावना नहीं रहेगी। उस वर्णाश्रम रूपी महाद्रुम का फल मोक्ष है। जो धर्म साधन औरे परमानन्द प्राप्ति के सिद्धान्तों को लक्ष्य में रखकर पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियों ने वर्णाश्रमरूपी भारतद्वीप की सोशियोलॉजी की सुदृढ़ व्यवस्था बाँधी है। इसकी कल्पना भी पृथ्वी अन्य किसी सभ्य जातिकों नहीं हुई है।

संदर्भ

It may with safely be assumed that,when millions of intelligent people practice certain customs for thousands of year's there must be something in these customs to redeem them from the charge fo folly or criminality, This should be frankly admitted in the case of the Hindus, who have been not inappropriately called by prof. Max Muller, 'a nation of philosophers.' It is certain that the whole religious and social system of the Hindus is the outcome of centuries of profound thought and carefulley recorded experience. Whatever we English people may by able to teach them in Mechanical Arts and in experimental science we have very little to teach them in matters of social philosophy. Everything tending to peace and well-being of Society has been long since reduced by the Hindus to well-ordered rules deduced form the unchanging facts of nature. Any intruduction among them of our crude ideas can only result in mischief and tend to bring the Hindu to the same chaotic scramble of antagonistic interest which is the characteristic of our own disgraceful social muddle.

-Frederic Pincott.

2. योगाश्चित्तवृत्तिनिरोधः। तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

—योगदर्शन

3. प्रवृत्ते रोध को ज्ञेवो वर्णधर्मो महामुने।
आश्रमस्य च धर्मो हि निवृत्तेः पोषकः स्मृतः।।
प्रवृत्ति शास्त्रविहितां ब्रह्मचर्ये तु शिक्षते।
समाचरति गार्हस्थ्ये तां प्रवृत्ति पुमान् भुवि।।
वानप्रस्थे निवृत्तेस्तु शिक्षा 'पुंसु प्रजायते'।
निघृत्ति : पूर्णतां याति संन्यासाश्रममेत्य वै।।
आश्रमाणां चतुर्णां वे प्रधानों धर्म उच्यते।
संयमस्तु गृहस्थानां नियमों ब्रह्मचारिणाम्।
वानप्रस्थाश्रमस्थानां तपस्त्यागस्तु न्यासिनाम्।।

—संन्यासगीता, अ. 6

प्रवृत्तिरोध को वर्णधर्मः।।145।।
निवृत्तिपोषकस्त्वपरः।।146।।

—*कर्ममीमांसा, धर्मपाद*

3. द्वे धारे स्वतंत्र रूपत्वात्।।55।।

—*कर्ममीमांसा धर्मपाद*

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देह मर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः।।—मनुः।
विधवोद्वाहो व्योमकुसुमवदतः।।114।।

—*कर्ममीमांसा, धर्मपाद*

तदादर्शो दुर्गा गौरी महामाया च।।130।।

—*कर्ममीमांसा, धर्मपाद*

सपिण्डा सगोत्रा वयोज्येष्ठा च कन्या परिवर्जनीया।।97।।

—*कर्ममीमांसा, संस्कारपाद*

असपिण्डा च मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने।।—मनुः।
सर्गे नार्याः प्राधान्यम् कौषेयकीटवत्।।116।।
तच्छुद्धिरक्षणम् क्षेत्रवत्।।116।।

—*कर्ममीमांसा, धर्मपाद*

4. रजोवीर्याभ्यामुभयाकृष्टि।।94।।

—*कर्ममीमांसा, संस्कारपाद*

आर्यजातिरूभयोपेता।।114।।

—*कर्ममीमांसा, संस्कारपाद*

कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्राकृता चारे स तु आर्य इति स्मृतः।।
यैवंसदाचार-वर्णाश्रम-धर्मानुगामिनी।
सर्वस्वं मनुते वेदं सार्य जाति रिति स्मृतिः।।

—*स्मृतिशास्त्रे*

यतो वर्णाश्रमैर्धर्मैर्विहीना सर्वथा ननु।
असौ सृष्टिमानवानां कालिकायाः प्रभावतः।।
प्रकृत में लयं याति कुत्रचित् समये स्वतः।
भत्ते रूपांतरं वासौ नात्र कार्या विचारणा।।

—*कालिका पुराण*

गरीयस्त्वमियमार्यजातेः शुद्धित्रैविध्यात्।।118।।

—*कर्ममीमांसा, संस्कारपाद*

An eminent doctor by name Leon Normet a Director of the French Colonial Laboratory at Hue has been making elaborate experiments on human blood for the purpose of discovering serum which may be manufactured to replace the transfusion of blood from one human body to another in case of need.

He found four different types of blood grouped as four separate varieties He stated that it was fatal to mix them wrongly in transfusion and that in selecting the donors of blood for transfused to a patient from a donor of a wrong group, the two

fluids, instead of blending would clot and death would be instantaneous. Elaborate arrangements are made in some Hospital in the continents where the donors of each type are listed and grouped separately to make adequate selections when cases arise, some instances have come in our view in this country also where such transfusion of wrong blooks has caused in some cases perpetual ailments if not immediate death.

प्रकृतेः सर्वशक्तिमत्वात् ।।75।। प्रकृतिमूलो जाति-धर्मः ।।76।। तस्माद्वर्णधर्मस्तथा।।77।।सङ्करोऽश्वतरवत् ।।78।। तद्व्रतिविशिष्टसंयोगिववृक्षवत् ।।79।।

—कर्ममीमांसा, धर्मपाद

अधिभूतशुद्धिनाशकोऽसवर्णोद्वाहः।।50।। गुणपरिपन्थी च ।।51।।

—कर्ममीमांसा, क्रियापाद

यत्र त्वेते परिध्वंशा जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति।।

—मनुः, अ. 10

5. प्रकृतित्वाचार्या अर्चनामभ्युदयाय।।60।।

—कर्ममीमांसा, धर्मपाद

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।
पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितब्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः।।
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु याश्चैता वर्द्धते वद्धि सर्वदा।।
जामयो यानि गेहानि पश्चन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः।।
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैनित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च।।

—मनुः

विद्याः समस्तस्तव देवि भेदाः।
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।।

—मार्कण्डेय पुराण

या याश्च ग्रामदेव्यः स्युस्तः सर्वाः प्रकृतेः कलाः।
कलांशांशसमुद्भूताः प्रतिविश्वेषु योषितः।।

—देवी भागवत

तपः प्रधानों नार्याः कैवल्यानुपयोगित्वात्।।52।।
ततः स्त्रीपारतन्त्र्यम्।।53।।
नारीधर्मः पारतन्त्र्यप्रधानः।।111।।

—कर्ममीमांसा, धर्मपाद

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्याश्चात्मनो वशे।।
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।।
वाल्ये पितुर्वशे विष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।

पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतंत्रताम् ।।—मनुः।
त्रिविधशुद्धिहन्ता रजस्वलाया।।55।।
प्रातिभाव्यात्सुरक्षादेशः।।56।।
कोच्छेदी स्वगोत्रायाः।।52।।
शक्तिक्षयो वयोऽधिकायाः।।54।।

—कर्ममीमांसा, क्रियापाद

सधवाविधवादीनां वीणां भेदस्य दर्शनात्।
प्रत्येकं भिद्यते धर्मस्तथा पुंस्वपि सर्वथा।।
मूर्खपण्डितसंन्यस्तगृहस्थादिविभेदतः।
सर्वेषामेव प्रत्येकं धर्माः प्रोक्ताः प्रथक् पृथक्।।
सर्वत्र व्यापकादस्मात् सर्वजीवहितैषिणः।
धमात्क्षनातनादेव सर्वे धर्माः समुत्थिताः।।
सनातने ह्यार्यधर्मे वैदिकाचारपालना।
सदाचारसतीधर्माध्यात्मतत्त्वविचारणा।।
वर्णाश्रमाधीनकर्मविभागाश्चाऽत्र विद्यते।
अस्मादन्योऽनार्यधर्म इत्यस्मच्छास्त्रनिश्चयः।।
यैवं सदाचारवर्णाश्रमधर्मानुगामिनी।।
सर्वस्वं मनुते वेदं साग्रजातिरिति स्मृतिः।।
एतद्भिन्नाऽनार्यजातिः सदाचारादिवर्जिता।
अन्यदप्येवमेवोह्यं नोच्यते विस्तृतेर्भयात्।।

—संन्यासगीता, अ. 2

7. आर्यपिण्डविशेषत्वं तद्वत्।।57।। आदितः सुसंस्कृतत्वात्।।58।।
तस्मात्सुसंस्कारकेन्द्रम्।।56।। त्रिविधाकाशसंबंधश्च।।60।।
शुद्धाशुद्धस्पर्शास्पर्शाधिकारि।।61।। विष्ठादिभिःप्रथमः।।62।।
शवादिभिर्द्वितीयः।।63।। अशौचादिभिस्तृतीयः।।64।।
संसर्गादिभिश्चतुर्थः।।65।। सदसद्भिः पञ्चमः।।66।।
अभ्योन्यसंबंधाच्च।।67।।—कर्ममीमांसा, क्रियापाद।

8. सतीत्वमूलं तत्।।44।। शुद्धिः स्कन्धः।।45।।
शृंखला शाखा।।46।। सदाचारः पत्रम्।।47।। पुष्पमभ्युदयः।।48।।
कैवक्यं फलम्।।49।।—कर्ममीमांसा, क्रियापाद।

7

वेद और शास्त्र का अनादित्व

प्राचीन भारतवर्ष की सबसे प्राचीन पुस्तक वेद है। इस सिद्धांत के विषय में किसी का भी मतभेद नहीं है। प्राचीन आर्य जाति जिस प्रकार पाँच प्रकार की पुस्तकें मानती हैं, उसका वर्णन पहले आ चुका है। उन पाँच प्रकार की पुस्तकों में से नादपुस्तकरूप वेद का अपोरुषेय माना गया है। क्योंकि वेद के मंत्र ज्यों-के-त्यों ऋषियों के अंतःकरण में सृष्टि से आरंभ में सुनायी दिया करते हैं। वे शब्द मनुष्य प्रणीत नहीं होते।[1] इस प्रकार का शब्द सुनना संभव है, इसको वर्तमन पदार्थ विद्या (साइन्स) ने अब सिद्ध कर दिया है। साइकिल रिसर्च सोसाइटियों ने यह सिद्ध करके दिखाया है कि, प्रेतलोक के जीवों के शब्द किस प्रकार से अन्य साइकिल व्यक्तियों को (जिनके हृदयों के साथ प्रेतलोक का संबंध स्थापित हो जाता है) स्वाभाविक रूप से सुनायी देते हैं। पदार्थ विद्या रूपी साइन्स ने यह भी सिद्ध कर दिखाया है कि, रेडियो यंत्र द्वारा सैकड़ों कोसों के शब्द उसी क्षण हर एक व्यक्ति के घर में सुनायी देने लगते हैं। पदार्थ विद्या की इस उन्नति के समय में आदि सृष्टि में ऋषियों के अंतःकरणों में वेद का सुनायी देना असंभव नहीं प्रतीत होगा। सृष्टि के आदि में ऋषियों के अंतःकरण ब्राह्मस्वर्ग के साथ एक स्वर में मिले होते हैं, इस कारण वेद की ऋचाएँ ज्यों-की-त्यों उनके हृदयों में आविर्भूत हो जाती हैं। यही भारतवर्ष के प्राचीन आर्यों का निश्चित सिद्धांत है। दूसरे प्रकार की नित्य पुस्तकों का नाम स्मृति है। पुराण, धर्मशास्त्र दर्शन आदि सब स्मृतिशास्त्र के अंतर्गत हैं। सनातनधर्मियों के शास्त्रों का यह सिद्धांत है कि, वेद की तरह स्मृतिशास्त्र के भी शब्द ज्यों-के-त्यों ऋषियों के अंतःकरणों में सुनायी तो नहीं देते, जिससे उन शब्दों की नित्यता मानी जाये, परंतु वे सब शब्द दैवीजगत् की सहायता से भाव रूप से आविर्भूत होते हैं।[2] भावरूप से स्मृतियाँ नित्य हैं। इस कारण शब्द रूप से वेद और भावरूप से स्मृतियाँ प्रत्येक सत्युग में आविर्भूत होती रहती हैं।

जो लोग चतुर्दशभुवनमय ब्रह्माण्ड अस्तित्व को मानते हैं, जो जगत् की आदिगुरु प्रजा दैवीजगत् की सहायता से वेद और स्मृति ग्रंथों का सृष्टि के विशेष समय में प्रकाशित होना स्वीकार करती है, जो मनुष्य जाति की प्रथम ज्ञान पथ-प्रदर्शक मनुष्य श्रेणी कल्पान्तर सृष्टि, मन्वंतर सृष्टि और युगान्तर सृष्टि का नयापन स्वीकार करती है, उसके निकट वेदों के काल और पुराणों के, दर्शनों और अन्याय स्मृति शास्त्रों के काल के निर्णय करने का उद्योग बच्चों के खेल के समान ही प्रतीत होगा। इस विषय में विद्वज्जन के सम्मुख अधिक युक्ति देना निष्प्रयोजन है।

यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि, एक ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति और लय का काल क्या है। यह भी पहिले सिद्ध हो चुका है कि, चारों युगों की सृष्टि अलग-अलग ढङ्ग की बन जाती है और उनके काल का भी परिमाण अलग-अलग होता है। यह भी सिद्ध हो चुका है कि, प्रत्येक मन्वन्तर में हमारे इस मृत्युलोकरूपी भारतवर्ष की सृष्टि एक बार ही बदल जाती है और मनुष्य की सभ्यता और शक्तियों में भी हेर-फेर हो जाता है, और यह भी सिद्ध हो चुका है कि, प्रत्येक कल्प में नयी सृष्टि हो जाती है और पुरानी सृष्टि का लेशमात्र नहीं रह जाता। दूसरी ओर पहले यह सिद्ध हो चुका है कि, वेदों ओर पुराणों में जो गाथाएँ आती हैं, वे लौकिक इतिहास नहीं हैं, कल्प-कल्पान्तर की सृष्टि से समय के अलौकिक इतिहास अथवा लोकातीत चरित्र हैं और यह भी सिद्ध हो चुका है कि, वेद और शास्त्र नित्य हैं। क्योंकि चार प्रकार की पुस्तकें नित्य मानी गयी हैं। युगयुगान्तर में उन पुस्तकों का आविर्भाव-तिरोभाव हमारे मृत्युलोक में होता रहता है और देवलोक में उनकी नित्यता विद्यमान रहती है। वैदिक धर्मशास्त्रों में यह सिद्ध है कि, प्रति कल्प में जब प्रथम सृष्टि होती है और उसमें पूर्णावयव मनुष्य उत्पन्न होते हैं, तब वेद के रूप में जितनी ज्ञानराशि प्रकट होती है, वह उस कल्प के अंत तक बनी रहती है। केवल युगयुगान्तर में उसका आविर्भाव-तिरोभाव हुआ करता है। उदाहरण यह है कि, इस कल्प में एक हजार एक सौ अस्सी संहिताएँ, एक हजार एक सौ अस्सी ब्राह्मण और एक हजार एक सौ अस्सी उपनिषद् उपलब्ध हुए थे। उनका बहुत अधिक अंश इस कलियुग में लुप्त हो गया है। इसके बाद जब पुनः सत्युग आवेगा तब वे पुनः ज्यों-के-त्यों उपलब्ध हो जायेंगे और प्रत्येक चौकड़ी युग के अंतर द्वापर युग में भगवान् व्यास नामक ऋषि, जो देवपिण्डधारी हैं, और व्यास का एक स्थायी पद है, वे ही पुनः अवतीण होकर वेद का विभाग करते हैं। इसी प्रकार चौकड़ी युगों में यथासमय जो-जो अवतार होते आये हैं, वे भी यथासमय होते रहेंगे। इसी कारण जो आधुनिक शिक्षा के प्रभाव से नवीन ढङ्ग के अनुसंधान से कालनिर्णय में प्रवृत्त होते हैं, रामकृष्णादि की उपासना के प्रारंभ काल की खोज करने लगते

हैं, भगवान् व्यास की पुराण-रचना का काल निर्णय करने लगते हैं, वेदाविर्भाव के काल का निर्णय करने का यत्न कर उपहासास्पद होते हैं, वेद और पुराणों की गाथाओं से लौकिक इतिहास तत्त्व के निकालने का प्रयास करते हैं, वे सब भ्रम में पतित होकर विपथगामी होते हैं।

जो नवीन आविष्कार के जाल में फंसकर औरों को भी फँसाना चाहते हैं और ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड और कर्मकाण्ड के तत्त्वों का अनुसंधान न करे केवल उनके काल का अनुसंधान करने में प्रवृत्त होते हैं, वे भी दया के पात्र हैं। वेद का ज्ञानकाण्ड, वेद का उपासनाकाण्ड और वेद का कर्मकाण्ड नित्य सिद्ध सिद्धान्त से युक्त है। वेद की दार्शनिक ज्ञान भूमियाँ सात ही हैं और सात ज्ञानभूमियाँ और सात अज्ञानभूमियाँ भी नित्य वस्तु हैं। सात ज्ञानभूमियों के अनुसार जो सात दर्शन हैं, वह भी नित्य वस्तु हैं। सात ज्ञानभूमिकयों और सात अज्ञानभूमियों का विस्तृत वर्णन शास्त्रों में मिलता है, जिसमें बुद्धिमान मात्र का मतभेद हो नहीं सकता।[3]

उनका समय-समय पर आविर्भाव तिरोभाव अवश्य होता है, परंतु लौकिक ग्रंथों का कालनिर्णय की तरह वेदान्त, सांख्य आदि शास्त्रों के आदि काल के निर्णय में प्रवृत्त होना हंसी की ही बात है। दूसरी ओर जो विद्वानगण उपासना और योग के औपपत्तिक अंश और क्रियासिद्धांत का पता रखते हों, वे थोड़े ही विचार से जान सकेंगे कि, उपासनाकाण्ड का प्राण भक्ति है और उसका अङ्ग योग है। उस योगशास्त्र की चार प्रकार की क्रियाओं के मार्ग हैं। उनमें से मंत्रयोग में स्थूल ध्यान और मूर्तिपूजा आदि विहित है और केवल विहित ही नहीं है, बिना स्थूल ध्यान किये और मूर्तिपूजा किये मन्त्रयोग की सिद्ध ही नहीं हो सकती। इसी प्रकार हठयोग में ज्योतिर्ध्यान, लययोग में बिन्दुध्यान और राजयोग में निर्गुण ब्रह्मध्यान के साधन करने की विधि है। रूप और नाम की सहायता से जो साधन किया जाये वह मन्त्र योग है। स्थूल शरीर की सहायता से चित्तवृत्ति निरोध का जो प्रयास किया जाये, वह हठयोग है। मन की सूक्ष्म शक्ति की सहायता से जो योग किया जाये, वह लययोग है और बुद्धितत्त्व की सहायता से जो साधन किया जाये, वह राजयोग है। जब इन चारों योगों के क्रिया सिद्धांशों के साथ इन चारों प्रकार के ध्यानों का नित्य संबंध विद्यामान है और सृष्टि के आरंभ काल से ही योगसाधन प्रणाली चली आयी है, तो ऐसी दशा में मूर्तिपूजा के आदि काल के निर्णय करने का प्रयत्न वृथा ही है, इसमें सन्देह नहीं। केवल सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग के खास-खास अन्तर्भागों में इन सिद्धांतों का आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। इसी प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड, और वेदमूलक तांत्रिक कर्मकाण्ड या मिश्र कर्मकाण्ड, सभी वैदिक विज्ञानमूलक होने से, इनका आविर्भाव और तिरोभाव समय-समय पर होते रहने

से और युग-युगान्तर में मनुष्य की शक्ति में तारतम्य हो जाने से कल्प, मन्वन्तर और युग आदि कालविभागों को अपने सन्ध्या, पूजा आदि कर्मकाण्ड के नित्य सङ्कल्प में रखनेवाली आर्य प्रजा इन सब विषयों के कालनिर्णय करने के प्रयास को वृथा ही समझेगी।

यदि यह शङ्का हो कि, मन्वन्तर में जब सभ्यता और दैवीशृङ्खला बदल जाती है और कल्पान्तर में सृष्टि बदल जाती है, तो वेद और वेदसम्मत शास्त्रों की नित्यता कैसे सम्भव है? इसका समाधान हमारे शास्त्रों में बहुत अच्छी तरह से पाया जाता है कि, प्रत्येक कल्प में ऊपर के सात लोकों में से कुछ लोक बचे रहते हैं, सब नष्ट नहीं होते। इसका विज्ञान और हिसाब शास्त्र में इतना विस्तृत पाया जाता है कि, जिसके देखने से बुद्धि चकित हो जाती है। पहले जो प्रमाण दिये गये हैं, उनसे यह सिद्ध है कि, भगवान ब्रह्मा, भगवान् विष्णु और भगवान् शिव की आयु अलग-अलग है। ब्रह्मा की रात्रि में चतुर्दश भुवनों में से ग्यारह भुवनों का प्रलय हो जाता है और ऊपर के तीन ब्राह्मस्वर्ग ज्यों-के-त्यों बचे रहते हैं।[4] इसी कारण वेद और वेदसम्म्त शास्त्रों की स्थिति उनमें बनी रहती है। श्रुति और स्मृति इन दोनों में से पहिली की शब्दरूप से नित्यता और दूसरी की भावरूप से नित्यता दार्शनिक युक्ति से सिद्ध होने के कारण उनके आविर्भाव और तिरोभाव में समय का तारतम्य हो सकता है। परंतु उनकी उत्पत्ति का कालनिर्णय करने में प्रवृत्त होना प्राचीन आर्यगण बाल चापल्य ही समझेंगे। उदाहरण रूप से कहा जा सकता है कि, वर्तमान कल्प में एक हजार एक सौ अस्सी वेद संहिताओं के भाग, एक हजार एक सौ अस्सी ब्राह्मण भाग और एक हजार एक सौ अस्सी उपनिषद् भाग में वेद का विस्तार माना गया है। जिनमें से इस समय छः-सात संहिताएँ, बीस-पच्चीस ब्राह्मण और सौ-सवा-सौ उपनिषद् उपलब्ध होते हैं।[5] इस कल्प के आरंभ में वेद का विस्तार 3540 खण्डों में पाया गया था। प्राचीन आर्यों के सिद्धांतानुसार वह ज्यों-का-त्यों प्रत्येक सत्ययुग में प्राप्त होता है। और कलियुग के अंत तक उसका बहुत सा अंश लुप्त भी हो जाता है। पुनः सत्ययुग आने पर जब मनुष्य जाति की पूर्णता होती है, तब उसका पुनः आविर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार सात ज्ञानभूमियों और सात अज्ञान भूमियों की नित्यता होने से सात वैदिक दर्शनों की नित्यता प्राचीन आर्यगण मानते आये हैं।[6] उन्हीं सातों ज्ञानभूमियों के अनुसार पदार्थवाद के दो भेद के दो दर्शन हैं—जिनका चिह्न न्यायदर्शन और वैशेषिक दर्शन अभी विद्यमान हैं,—सांख्यप्रवचन के दो सिद्धान्तों के दो दर्शन, जिनके चिह्न वर्तमान योगदर्शन और सांख्यदर्शन में पाये जाते हैं,—और वेद के तीनों काण्डों के अनुसार तीन मीमांसादर्शन यथा—कर्ममीमांसादर्शन, दैवीमीमांसादर्शन और ब्रह्मामीमांसादर्शन,

(वेदान्त),—जो अब भी उपलब्ध है,—ये सातों दर्शनसिद्धान्त प्राचीन आर्यों के विचारानुसार नित्य हैं। सात ज्ञानभूमियों और सात अज्ञान भूमियों का हिसाब ऐसा स्पष्ट रूप से अब भी स्मृतिशास्त्र में पाया जाता है कि, जिसके अनुसार पृथ्वी के सब अवैदिक दर्शनाशास्त्र इन सात ज्ञानभूमियों और सात अज्ञानभूमियों से पृथक् हो ही नहीं सकते। इस कारण प्राचीन आर्यों की यह दार्शनिक प्रणाली सबको स्वीकार करनी ही पड़ती है।

आजकल की ईश्वर ज्ञानविहीन नास्तिक शिक्षा-प्रणाली की भूल-भुलैया में पड़े हुए कोई अहमन्य व्यक्ति यह कहने लगते हैं कि, हिंदू जाति का दर्शनशास्त्र तो कपोल-कल्पना और मनगढ़न्त मात्र है। ऐसे व्यक्तियों का मस्तिष्क इतना दुर्बल हो गया है कि, उसको देखकर दया आती है। यह पहले ही कहा गया है और यह सर्वसिद्धांत है कि, प्रकृति राज्य की नकल करना शिल्प (Art) है। स्थूल प्रकृति पर आधिपत्य करने की विद्या को पदार्थ विद्या (Science) कहते हैं और सूक्ष्म प्रकृति के स्वरूप को बुद्धितत्त्व के द्वारा समझकर प्रकृति राज्य का जहाँ विलय होता है, उस आत्म स्वरूप तक पहुँचने में जिस विद्या के द्वारा सफलता मिलती है, उसे दर्शनशास्त्र का (Philisophy) कहते हैं। इस दार्शनिक विद्या की पराकाष्ठा प्राचीन काल में भारतद्वीप में हुई थी। इस सिद्धांत को युरोपीय विद्वज्जन एक वाक्य होकर कैसे मानते हैं, इसके प्रमाण हम पहले दे चुके हैं। ऐसा होने पर और दर्शनशास्त्र का दरजा सबसे ऊँचा माना जाने पर भी जब नास्तिक, अहम्मन्य, भ्रम में पतित आर्यगण इस प्रकार से वैदिक दर्शनों की निन्दा करते हैं, तो उनकी मस्तिष्क की अधोगति पर दया आ ही जाती है।

पूज्यपाद महर्षियों का यह सिद्धांत है कि, वेद की पूर्णता जिस प्रकार सत्ययुग के प्रारंभ में हो जाती है, अनेक ऋषियों के द्वारा वह नित्य वेद इस मृत्युलोक में प्रकाशित हो जाता है और फिर उसका लोप होते-होते कलियुग में अधिकांश वेद लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार जब व्यासपदधारी देवता द्वापर युग में बदलते हैं, तब वेद के भाष्यरूपी पुराण ग्रंथ भी प्रकाशित हो जाते हैं।[7] इस द्वापर युग में दो इतिहास ग्रंथ, अठारह महापुराण, अठारह पुराण अठारह उपपुराण और अठारह औपपुराण उपलब्ध हुए थे। इसी प्रकार इस वर्तमान चौकड़ी युग में 49 हजार तंतग्रंथ, जिनको आगमशास्त्र कहते हैं और जिनमें सब श्रेणी की विद्याओं का समावेश है, प्रकाशित हुए थे।[8] उनका थोड़ा सा अंश भी इस समय उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार ऋषिप्रणीत अनेक सूत्रगंथ, यथा—गृह्यसूत्र, कल्पसूत्र, शिक्षासूत्र, संगीतसूत्र, स्मार्तसूत्र (धर्मशास्त्र) इत्यादि अनेक सूत्रग्रंथ, और ज्योतिषशास्त्र की अनेक संहिताएँ, आयुर्वेद की अनेक संहिताएँ गंधर्ववेद की अनेक संहिताएँ, धर्मशास्त्र की अनेक संहिताएँ,[9] मंत्रयोग

की संहिताएँ, हठयोग की संहिताएँ, लययोग की संहिताएँ, राजयोग की संहिताएँ तथा इसी तरह की अन्यान्य अनेक संहिताएँ, उपलब्ध थीं।[10] उनका सहस्रांश भी इस समय उपलब्ध नहीं होता। अतः वेद और वेद सम्मत शास्त्रों के आविर्भाव का काल निर्णय करने में जो प्रवृत्त होते हैं, वे स्वतः ही हास्यास्पद होते हैं।

प्राचीन भारतद्वीप का सर्वतंत्र सिद्धांत यह है कि, वेद अक्षरशः शब्दरूप में और वेदसम्मत अन्य शास्त्र भाव रूप से अनादि हैं। काल प्रभाव से विभिन्न काल में उनका केवल आविर्भाव और तिरोभाव इस भारतद्वीप में हुआ करता है; परंतु उनकी नित्यता देवलोक में सदा रहा करती है।

वेद और वेदसम्मत शास्त्रों का स्थिर सिद्धांत यह है कि, जैसी ब्रह्माण्ड की सब कर्मश्रृंखला देवपदधारी व्यक्तियों के द्वारा परिचालित होती हैं, वैसी ब्रह्माण्ड की ज्ञान श्रृंखला देवलोक वासी नित्य ऋषियों के द्वारा परिचालित होती हैं। एक ब्रह्माण्ड जब तक जीवित रहता है, उसकी ज्ञानराशि भी तब तक ऊपर के देवलोक में सुरक्षित रहती है। चारों युगों तथा उनके अंतर्युगों के अनुसार दैवी शास्त्र, आसुरी शास्त्र, अध्यात्म विज्ञान आदि का आविर्भाव और तिरोभाव इस मृत्युलोक में यथा देशकाल हुआ करता है। ज्ञान नित्य है।

संदर्भ

अनादि-निधना निस्या वागुत्सृष्टा स्वयभुवा।
आदौ वेदमयी विद्या मतः सर्वाः प्रवृत्तयः।।

—व्यासः

अग्नेर्वा ऋग्वेदा जायते वायोयेजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः।

—शतपथ ब्राह्मण

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यग्वेदो यजुर्वेदः
सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः।

—वाजसनेयि ब्राह्मणोपनिषदि।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व यो वै वेदाँश्च वेदाः।

—उपनिषादिः

प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि वेदराशिः स्थितः.

—कुल्लूकभट्ट

नैव वेदाः प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि।

—मेधातिथिः

ब्रह्माद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मारका न तु कारकाः।

—स्मृतिशास्त्रे

युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षमः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा।।

—स्मृतिशास्त्रे

अग्निर्वायुविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदाह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्।।

—*मनुः*

प्रत्यक्षेणाऽनुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते।
एनं बदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता।।

—*स्मृतिशास्त्रे।*

2. गुणभावमयत्वाद्भगवद्वाक्यं वेदः। —*दैवीमीमांसा*
वेदार्थस्मरणं स्मृतिः। —*श्रुतौ*

3. सप्तानां ज्ञानभूमीनां प्रथमा ज्ञानदा भवेत्।
संन्यासदा द्वितीया स्यात्तृतीषा योगदा भवेत्।।
लीलोन्मुक्तिश्चतुर्थी स्यात्पञ्चमी सत्पंदा स्मृता।
षष्ठयान्न्दपदा ज्ञेया सप्तमी च परात्परा।।
यावज्जीवैरतिक्रान्ता न सप्ताऽज्ञानभूमयः।
तावन्न प्रथमा भूमिर्ज्ञानस्य ज्ञानदाऽऽप्यते।।
उद्भिजानां चिदाकाशे प्रथमाऽज्ञानभूमिका।
स्वेदजानां चिदाकाशे सा द्वितीया प्रकीर्तिता।।
तृतीयाऽण्ढजजातेञ्चाऽज्ञानभूमिश्चिदाश्रिता।
जरायुजपशुनाञ्च चिदाकाशे चतुर्थ्यसौ।
पञ्चकोषप्रपूर्णत्वाधिकारिष्वेव वै नृपु।
सन्ति शेषा अधिकृतास्तिस्रस्त्वज्ञानभूमयः।।
तिस्रस्ता एव कथ्यन्त उत्तमाधममध्यमाः।
विशदं तां प्रचक्षेऽहं श्रूयतां विप्रपुङ्गवा।।
एता अज्ञानभूमीहिं तिस्र एवं समूलतः।
मूर्तिमन्तः स्वयं वेदा निराकर्तुं समुद्यताः।।
अधमाऽज्ञानभूमि हि यावन्मर्त्यः प्रसज्जते।
कृतऽपराधे दण्डः स्यात्तिर्यग्योनौ तदुद्भवः।।
मध्यमाऽज्ञानभूमेश्च मानवैरधिकारिभिः।
पितृलोकास्तथा विप्राः! नारकाश्च पुनः पुनः।।
प्राप्यन्ते मृत्युलोकञ्च सुखदुःखादिपूरितः।
ददात्यूर्ध्वञ्च स्वर्लोकमुत्तमाऽज्ञानभूमिका।।
अधमाऽज्ञानभूमिश्च प्राप्तामर्त्या भवन्त्यहो।
देहात्मवादिनोऽनार्या नास्तिकाः शौचवर्जिताः।।
मध्यमाऽज्ञानभूमेस्तु मानवा अधिकारिणः।
आस्तिकत्वेन भी विप्राः! सद्विचारपरायणाः।।
देहात्मनोहि पार्थक्यं विश्वसन्तोऽपि सर्वथा।
इन्द्रियाणां सुखे मन्ना नितरामैहलौकिके।।
विस्मरन्ति महामूढ़ाः सुखं ते पारलौकिकम्।
उत्तमाऽज्ञानभूमेर्वै पुण्यवन्तोऽधिकारिणः।।
आत्माऽतिरिक्त में शक्तेर्मत्वाऽस्तित्वं द्विजर्षभाः।
स्वर्गीयस्य मुख्यस्यैव जायन्ते तेऽधिकारिणः।।

—धीशगीता, अ. 3

4. तदा हि दह्यते सर्वं त्रैलोक्यं भूर्भुवादिकम्।
जनं प्रयान्ति तापार्ता महर्लोकनिवासिनाः।।
एकार्णवे तु त्रैलोक्ये ब्रह्मा नाराणात्मकः।
भोगिशय्यागतः शेते त्रैलोक्यग्रास्वृंहितः।।
जनस्थैर्योगिभिर्देवश्चिन्त्यमानोऽजसंभवः।
तं प्रमाणं हि तां रात्रिं तदन्ते सृज्यते पुनः।।

—विष्णुपुराण, प्रथमांश, अ. 3

ततः कालाग्निरुद्रोऽसौ भूत्वा सर्वहरो हरिः।
शेषनिःश्वाससम्भूतः पातालानि वभस्त्यधः।।
पातालानि समस्तानि स दग्ध्वा ज्वलनो महान्।
भूमिमभ्येत्य सकलं बभस्ति वसुधातलम्।।
भुवर्लोकं ततः सर्वं स्वर्लोकञ्च सुदारुणः।
ज्वालामालामहावर्तस्तत्रैव परिवतर्तते।।
अम्बरीषमिवाभाति त्रैलोक्यमखिलं तदा।
ज्वालावर्तपरीवारमुक्षीणं चराचरम्।।
ततस्तापपरीतास्तु लोकद्वयनिवासिनः।
कृताधिकारा गच्छन्ति महर्लोकं महासुने।।
तस्मादपि महातापतप्ता लोकस्ततः परम्।
गच्छन्ति जनलोक ते दशावृत्या परैषिणः।।
एकार्णवे ततस्तस्मिन् शेषशय्यास्थितः प्रभुः।
ब्रह्मरूपधरः शेते भगवानदिकृद्धरिः।।
जनलोकगतैः सिद्धैः सनकाद्यैरभिष्टुतः।
ब्रह्मलोकगतैश्चैच चिन्त्यमानो मुमुक्षुभिः।।
आत्ममायामयीं दिव्यां योगनिद्रां समास्थितः।
आत्मानं वासुदेवाख्यं चिन्तयन् परमेश्वरः।।
यदा जागति विश्वात्मा स तदा चेष्टते जगत्।
निमीलते तदखिलं योगशय्याशयेऽच्युते।।

—विष्णुपुराण, षष्टांश, अ. 3-4

5. अनन्ता वै वेदाः।—श्रुतो।
चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुध भिन्नाः।
एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा समावेदः।
एकविंशतिधा बाह्वृर्च्य नवधा आथर्वणो वेदः।

—महाभाष्ये।

अवतीर्णो महायोगी सत्यवत्यां पराशरात्।
उत्सन्नान्भगवान्वेदानुज्जहार हरिः स्वयम्।।
ऋचः स ऋचमुद्धृत्य ऋग्वेद। कृतवान्प्रभुः।
यजूंषि निगबदाच्चैव तथा सामानि सामतः।।
चतुर्धा व्यभजत्तांश्च चतुर्विंशतिधा पुनः।
शतधा चैकधा चैव तथैव च सहस्रधा।।
कृष्णों द्वादशधा चैव पुनस्तस्यार्थवित्तये।
चकार ब्रह्मसूत्राणि येषां सूत्रत्वमञ्जसा।।

—स्कन्दपुराणत

ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः।
नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज।।
सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप!।
अथर्वस्य तु शाखाः स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे!।।

—मुक्तिकोपनिषद्

स पुनर्देवदेवस्य प्रसादादम्बिकापतेः।
संक्षिप्य सकलान्वेदाँश्चतुर्धा कृतवान्द्विजाः।।
ऋग्वेदः प्रथमः प्रोक्तो यजुर्वेदस्ततः परः।
तृतीयः सामवेदाख्यश्चतुर्थोऽथर्व उच्यते।।
एकविंशतिभेदेन ऋग्वेद् भेदितोऽमुना।
यजुर्वेदो द्विजा एकशतभेदेन भेदितः।।
नवधा भेदितोऽथर्ववेदः साम सहस्रधा।
व्यस्तवेदतया व्यास इति लोके श्रुतो मुनिः।।

—सूतसंहिताः

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

—आपस्तम्भः

तच्चोदकेषु मन्त्राख्याः, शेषे ब्राह्मणशब्दः।

—पूर्वमीमांसा

याज्ञिकानां समाख्यातं लक्षणं दोषवर्जितम्।
तेऽनुष्ठानस्मारकादौ मन्त्रशब्दं प्रयुञ्जते।।

—स्मृतिशास्त्रे

एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता।

—मुक्तिकोपनिषद्

विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः।

—पारस्कर गृह्यसूत्र

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छंदो ज्योतिषमिति।

—मुण्डकोपनिषद्

छंदः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मतम्।।

—वेदाङ्गे

सप्तानां ज्ञानभूमिनां साधकस्याखिलस्य च।
भेदाद्विरोध इत्येवं दर्शनेषु प्रतीयते।।

—व्यासः

6. स वृहतीं दिशमनुष्यचलत् तमितिहासञ्च, पुराणञ्च गाथाञ्च नाराशंसीञ्चानुव्यचलन् इतिहास च वै स पुराणस्य च गाथानाञ्च नाराशंसीनाञ्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।

—अथर्ववेद

महापुराणानि यथा--

अष्टादशपुराणानि पुराणज्ञाः प्रचक्षते।
व्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं भागवतं तथा।
तथान्यं नारदीयञ्च मार्कंडेयञ्च सप्तमम्।
अग्नेयमष्टमञ्चैव भविष्यं नवमं स्मृतम्।।

दशमं ब्रह्मवैवर्त लैङ्गमेकादशं स्मृतम्।
बाराहं द्वादशञ्चैव स्कान्दं चैव त्रयोदशमृ।।
चतुर्दशं वामनञ्च कौमर्म पञ्चदशं स्मृतम्।
मात्स्यं च गारुडञ्चैव ब्रह्माण्डञ्च ततः परम्।।

—*व्यासः*

पुराणानि यथाः—

आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहमथाऽपरम्।
तृतीयं वायवीयं च कुमारेणाऽनुभाषितम्।।
चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीशभाषितम्।
दुर्वाससोक्तमाश्चर्य नारदीयमतःपरम्।।
नन्दिकेश्वरयुग्मश्च तथैवोशनसेरितम्।
कापिलं वारुणं साम्बं कालिकाह्वयमेव च।।
माहेश्वर तथा देवि! दैवं सर्वार्थसाधकम्।
पराशरोक्तमपरं मारीचं भास्कराह्वयम्।।

—*व्यासः*

7. सत्पसप्तसहस्राणि संख्यातानि मनीक्षिभिः।।

—*तंत्रसारे*

8. मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनाऽङ्गिराः।
यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायानवृहस्पती।।
पराशरव्यासशङ्खलिखिता दक्षगौतमी।
शतातपो वशिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः।।

—*व्यासः*

9. योगो हि बहुधा ब्रह्मन्! भिद्यते व्यवहारतः।
मन्त्रयोगां लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः।।

—योगतत्त्वोपनिषद्

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात्।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमान्नोति साधकः।।
तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यशा जायते।
उत्तिष्ठति जन' सर्वोध्यक्षेणैतत्समीक्ष्यते।।
नामरूपात्मकैमावैर्बध्यन्ते निखिला जनाः।
अविद्या ग्रसिताश्चैव तादृक् प्रकृतिवैभवात्।।
आत्मनःसूक्ष्मप्रकृति प्रवृत्तिं चाऽनुसृत्य वै।
नामरूपात्मनोः शब्दभावयोरवलम्बनात!।।
यो योगः साध्यते सोऽयं मंत्रयोगः प्रकीर्तितः।

प्राणाऽपाननादबिंदुजीवात्मपरमात्मनाम्।
मेलनाद्धटते यस्मात्तस्माद्वै घट उच्यते।।
आमकुम्भमिवाम्भस्थं जीर्यमाणं सदा घटम्।
योगानलेन संदह्य घटशुद्धिं समाचरेत्।।
हठयोगेन प्रथमं जीर्यमाणामिमां तनुम्।
द्रढ़यन्सूक्ष्मदेहं वै कुर्याद्योगयुजं पुनः।।
स्थूलः सूक्ष्मस्य देहो वै परिणामान्तरं यतः।

कादिवर्णन् समभ्यस्य शास्त्रज्ञानं यथाक्रमम्।।
यथोपलभ्यते तद्वत् स्थूलदेहस्य साधनैः।
योगेन मनसो योगो हठयोगः प्रकीर्तितः।।

ब्रह्माण्ड पिण्डे सदृशे ब्रह्मप्रकृतिसम्भवात्।
समष्टिव्यष्टिसंबंधादेकसंबंधगुम्फिते।।
ऋषिदेवौ च पितरौ नित्यं प्रकृतिपूरुषौ।
तिष्ठान्ति पिण्डे ब्रह्माण्डे ग्रहनक्षत्रराशयः।।
पिण्डज्ञानेन ब्रह्माण्डज्ञानं भवति निश्चितम्।
गुरूपदेशतः पिण्डज्ञानमाप्य यथायथम्।।
ततो निपुणया युक्त्या पुरुषे प्रकृतेर्लयः।
लययोगाभिधेयः स्यात् प्रोक्तमेतन्महर्षिभिः।।
आधारपद्मे प्रकृतिः सुप्ता कुण्डलिनी स्थिता।
सहस्रारे स्थितो नित्यं पुरुषश्चोपगीयते।।
प्रसुप्तायां कुण्डलिन्यां बाह्यसृष्टिः प्रजायते।
योगांसतां प्रबोध्यैव यदा तस्मिन्विलोपयेत्।।
कृतकृत्यो भवत्येव तदा योगपरो नरः।
पुराविदो तदन्तीतम लययोग सुखावहम्।।

राजत्वात्सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः।
अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनत्मदर्शनम्।।
सृष्टिस्थितिविनाशानां हेतुता मनसि स्थिता।
तत्साहायात्साध्यते यो राजयोग इति स्मृतः।।
अन्तः करणभेदास्तु मनोबुद्धिरहकृतिः।
चित्तञ्चेति विनिर्दिष्टाश्चत्वारों योगपरागैः।।
तदन्तःकरणं दृश्यमात्मा द्रष्टा निगद्यते।
विश्वमेतत्तयोः कार्यकारणत्वं सनातनम्।।
दृश्यद्रष्ट्रीश्च संबंधात्सृष्टिर्भवति शाश्वती।
चाञ्चल्यं चित्तवृत्तीनां हेतुमत्र विदुर्बुधाः।।
वृत्तीजित्वा राजयोगः स्वस्वरूपं प्रकाशयेत्।
तेनोपलब्धिसिद्धिहिं जीवन्मुक्तिः प्रकथ्यते।।
उपलब्धमहाभावा महाबोधान्विताश्च वा।
महालयं प्रपन्नाश्च तत्त्वज्ञानावलम्बतः।।
योगिनो राजयोगस्य भूमिमासादयन्ति ते।
योगसाधनमूर्धन्योः राजयोगोऽभीधीयते।।

—*लययोगसंहिता*

मन्त्रयोगोहठश्चैव लययोगः पृथक् पृथक्।
स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानन्तु त्रिविधं विदुः।।

—*हठयोगसंहिता*

विचारबुद्धेः प्राधान्यं राजयोगसय साधने।
ब्रह्मध्यानं हि तद्ध्यानं समाधिर्निर्विकल्पकः।।

—*राजयोगसंहिता*

8

भारत द्वीप का धर्म और उसकी ज्ञानगरिमा

विश्व धारक धर्म का यथार्थ स्वरूप भारतद्वीपवासी जगत् के आदि गुरु पूज्यपाद महर्षियों ने ही संसार के कल्याण के अर्थ के लिए प्रकाशित किया है। धर्म के सर्वव्यापक और सर्वहितकारी स्वरूप का यथार्थ रहस्य भारतद्वीपवासी अग्रजन्मा ब्राह्मणगण ही अनुभव कर सके हैं। वेद और शास्त्रों में विश्वधारक धर्म को जगज्जननी भुवनेश्वरी जगद्धात्री के रूप से वर्णन किया है।[1] श्री जगदम्बा की जो अलौकिक अचिंतनीय शक्ति ब्रह्माण्ड लेकर पिण्डपर्यन्त और नाना लोकों से लेकर एक परमाणुपर्यन्त जड़-चेतनात्मक यावत् सृष्टि को धारण किये हुए है, उसी अलौकिक दैवी शक्ति को पूज्यपाद महषियों ने 'धर्म' शब्द से अभिहित किया है।

वस्तुतः श्रीजगदम्बा के रजोगुण से सृष्टि होती है और तमोगुणा से उसका विलय होता है। दोनों के मध्यवर्ती स्थित सत्वगुण के द्वारा सृष्टि की रक्षा होती है। वह सत्वगुण ही धर्म का आध्यामिक स्वरूप है। उस धर्म की आधिदैविक मूर्ति के स्वरूप का तंत्र आदि शास्त्रों में ऐसा वर्णन है कि, सत्वगुणमयी जगद्धात्री देवी रजोगुणमय सिंह पर विराजमान है और उस सिंह ने अनायास तमोगुण रूपी मत्त हाथी को वशीभूत कर उस पर एक पैर रखा है। धर्म का आधिभौतिक स्वरूप जड़-चेतनात्मक विश्व में मूर्तिमान है। यही कारण है कि, ब्रह्माण्ड से लेकर पिण्डपर्यन्त और जड़ राज्य से लेकर चेतन राज्यपर्यन्त उसका स्वरूप सर्वत्र सब स्थानों में जाज्वल्यमान रहता है। एक प्रस्तर खण्ड जब बनता है, तो उसके परमाणु रजोगुण से आकर्षित हो जाते हैं। जब प्रस्तर खण्ड नाश को प्राप्त होता है, तो तमोगुण के प्रभाव से उसके परमाणु बिखरकर मिट्टी में मिल जाते हैं। परंतु जब तक वह प्रस्तर खण्ड अपने स्वरूप में विद्यमान रहता है, तब तक सत्वगुण की अवस्था प्रस्तर खण्ड के धर्म की परिचायक होती है। इसी प्रकार जीवों के वासोपयोगी लोकसमूह यथार्थ रूप में जब तक विद्यमान रहते हें, ग्रह-नक्षत्र आदि जब तक अपने स्वरूप

में रहकर अपनी-अपनी कक्षाओं में भ्रमण करते रहते हैं, तब तक धर्म की धारिका शक्ति ही उनके अस्तित्व की रक्षा किया करती है। अग्नि का तेज और उसकी उष्णता शक्ति जब तक विद्यमान है, तब तब अग्नि धर्म और अग्नि का अस्तित्व सिद्ध है। उस धर्म का अभाव होते ही वह कोयला या राख में परिणत हो जाता है। यही प्रत्येक जड़ पदार्थ चाहे वह छोटा हो या बड़ा, उसके वास्तविक स्वरूप को जो शक्ति धारण किये रहती है, वही जगद्धात्री जड़राज्य में धर्म कहाती है।[2]

पूज्यपाद महर्षियों ने चेतन राज्य में जो धर्म शक्ति का अन्वेषण किया है, वह और भी विचित्रता तथा अलौकिकता से पूर्ण है। जड़ राज्य से जब चेतन राज्य का आविर्भाव होता है, जड़ मृत्तिका में जब प्रथम-उद्भिज्ज जीव का प्राकट्य होता है, जब पानी में मिट्टी के संयोग से प्रथम काई जैसा निम्न श्रेणी का उद्भिज्ज उत्पन्न होता है, उस समय से लेकर मनुष्य की मुक्ति की अवस्था तक जो शक्ति जीव को धारण करती है, और उसमें सत्व गुण का क्रमविकास करती हुई उसको पुनः पूर्ण सत्वगुण की अवस्था में पहुँचाकर मुक्त कर देती है, वही शक्ति चेतन राज्य में धर्म कहाती है। उद्भिज्ज की निम्नावस्था में लेकर उद्भिज्ज को नाना योनियों में भ्रमण कराके तदन्तर वही शक्ति जीव को स्वदेज योनियों में पहुँचाती है। पुनः स्वदेज सृष्टि की नाना योनियों में भ्रमण कराके उसमें सत्व गुण का क्रमविकास करती हुई उसको अण्डज योनि में पहुँचाती है। पुनः तीसरी सन्धिरूपी अण्डज योनि में उसको पहुँचाकर क्रमशः जरायुज योनि में पहुँचाती है और तदनन्तर उसको मनुष्य योनि में पहुँचा देती है। पूज्यपाद महर्षियों ने दर्शनशास्त्रों में इस सिद्धांत को स्पष्ट करके दिखा दिया है कि, उद्भिज योनियों में जीव के चार कोष प्रसुप्त रहते हैं और अन्नमय कोष का ही विकास होता रहता है। स्वेदज में अन्नमय और प्राणमयकोष का विकास हो जाता है। अण्डज योनियों में अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोष का विकास हो जाता है और जरायुज योनियों में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय, इन चारों कोषों का विकास हो जाता है। इन चतुर्विध भूतसंघों में जितनी योनियाँ हो सकती हैं, उनका हिसाब पूज्यपाद ऋषियों ने लगाकर चौरासी लाख 8400000 संख्या बतायी है। यह जगद्धात्री महामाया की सत्वगुणमयी धारिका शक्ति है कि, जो इन चौरासी लक्ष योनियों में जीवका हाथ पकड़कर उसको उत्तरोत्तर आगे बढ़ाती रहती है।[3]

पूज्यपाद महर्षियों ने दर्शनशास्त्रों में यह सिद्ध करके बताया है कि, जीव जब अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँचों कोषों की पूर्णता प्राप्त करता है, तब मानवपिण्ड में पहुँच जाता है। जीव की क्रमोन्नति का यह विषय पूर्व अध्याय की टिप्पणी में सप्रमाण द्रष्टव्य है। मनुष्य जब पंचकोषों की

पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, तब वह अपने पिण्ड का अधीश्वर बनकर आहार, निद्रा, भय, मैथुनआदि क्रियाओं को अपनी इच्छा से सम्पादन करने की शक्ति को प्राप्त करता है। अतः पूर्णावयव जीवरूपी मनुष्य जब एक ओर अपनी इच्छा शक्ति पर आधिपत्य करने की क्षमता को प्राप्त करता है, तब इसी प्रकार दूसरी और पाप कर्म और पुण्य-कर्म का भागी बन जाता है। चौरासी लक्ष निम्न योनियों में पाप-पुण्य का भय नहीं है। केवल मनुष्य पिण्ड में ही पाप-पुण्य का अधिकार प्राप्त होता है। अंततः मनुष्य योनि में मानव धर्म के निर्णय का मौलिक सिद्धांत पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियों ने यही बताया है कि, मनुष्य के जिस शारीरिक, वाचनिक, मानसिक और बौद्धिक क्रिया के द्वारा सत्व गुण की क्रमाभिवृद्धि हो, उसी को धर्म कहते हैं और उसी से पुण्य की प्राप्ति होती है और जिस कर्म के द्वारा तमोगुण और रजोगुण की वृद्धि हो, अर्थात् सत्वगुण का नाश हो, उसे अधर्म कहते हैं और उससे पाप की प्राप्ति होती है। इस प्रकार विश्वधारक धर्म के सर्वव्यापक, सर्वजीव हितकारी, महान् दिव्य स्वरूप को भारतद्वीपवासी अग्रजन्मा ब्राह्मणों ने ही यथार्थ रूप से देखा है। इसी कारण भारतद्वीप का सनातनधर्म वेद के सदृश अपौरुषेय है और अन्य लौकिक धर्मों के सदृश किसी व्यक्ति का कहा हुआ नहीं समझा जाता।

कर्मभूमि भारतवर्ष में सत्कर्मों का अनुष्ठान करके धर्म की अभिवृद्धि करने का अवसर और मोक्षभूमि भारतद्वीप में तप, स्वाध्याय, योग, याग और आत्मज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त कर लेने का अवसर जैसा मिलता है, वैसा चतुर्दशलोकों में से और कहीं नहीं मिलता।[4] मनुष्य चाहे शरीरान्त के बाद सप्तपातालरूपी बिलस्वर्ग में चला जाय, चाहे भूः भूवः आदि त्रिलोक दैवी लोकों में चला जाय, चाहे उन्नत से उन्नत और लोकों में चला जाय, वे सब भोगभूमियाँ होने से स्वच्छंदता से कर्म करने का उसे वहाँ अवसर नहीं मिलता। इस मृत्युलोक रूपी भारतवर्ष में ही मिलता है। पूज्यपाद महर्षियों ने मनुष्यादि उन्नत जीवों के लिये धर्मसाधन के चार भेद बताये हैं। यथा—साधारण धर्म, विशेष धर्म, असाधारण धर्म और आपद्धर्म। दान, तप, यज्ञ, सत्य, धृति, क्षमा, इन्द्रिय निग्रह परोपकार आदि जो धर्म के अङ्ग और तपाङ्ग हैं, वे सब साधारण धर्म के अन्तर्गत हैं। क्योंकि साधारण धर्म क्या मनुष्य, क्या देवता, क्या असुर, क्या राक्षस, क्या आर्य, क्या अनार्य, क्या जैन, क्या बौद्ध, क्या ईसाई, क्या मुसलमान सभी के लिए समान रूप से उपकारी और आदरणीय है। संभव है कि, दान, तप और यज्ञादि के सब अङ्ग सबके उपयोगी न हो सकें। जैसे कन्यादान आर्यों में ही प्रचलित है, परंतु वस्त्रदान, अन्नदान आदि सबमें समान

रूप से आदरणीय है। इसी प्रकार वैदिक यज्ञ केवल भारतद्वीप के वर्णाश्रमियों के ही उपयोगी है, परंतु अन्य कई श्रेणी के कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ आदि पृथ्वी की सब मानव श्रेणी के ही उपकारी हैं।[5]

जैनों और बौद्धों में दया का स्वरूप कुछ असाधारण देखने में आता है, परंतु पृथ्वी की सब मानव श्रेणी के धर्म मार्गों में दया का अनादर कहीं भी देखने में नहीं आता। इस कारण चिन्ताशील सत्पुरुषों को यह मानना ही पड़ेगा कि, पूज्यपाद महर्षियों के द्वारा प्रवृत्ति साधारण धर्म ही पृथ्वी के सब धर्ममतों का समान रूप से हितकारी है।

विशेष धर्म उसको कहा गया है, जो विशेष-विशेष अधिकारियों के लिये हितकारी हो, औरों के लिये हितकारी न हो। जैसे कि, कामिनी-कांचन का त्याग संन्यासियों का धर्म है, परंतु गृहस्थों के लिये वह हितकारी नहीं है। इसी प्रकार पुरुष धर्म, नारी धर्म, ब्राह्मण धर्म, क्षत्रिय धर्म, वैश्य धर्म, शूद्र धर्म, शैव धर्म, वैष्णव धर्म, शाक्त धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, आर्य धर्म, ईसाई धर्म, मुसलमान धर्म आदि सब विशेष धर्म के अंतर्गत हैं। पूज्यपाद महर्षियों के इस सिद्धांत पर किसी बुद्धिमान का मतभेद नहीं हो सकता।[6]

जड़-चेतानात्मक जगत को अलग-अलग धारण करनेवाले, सबको अपने-अपने अधिकार सबकी रक्षा करके सबको उत्तम फल पहुँचाने वाले, जगद्धारक धर्म का यथार्थ स्वरूप भारतद्वीप के प्राचीन आर्यो ने ही देखा है। इस कारण मानव धर्म के चारों विभागों की उन्होंने इतनी छानबीन की है। मानव धर्म का तीसरा विभाग आप द्धर्म है। आप द्धर्म केवल आपात्काल के लिये ही विहित है। जिस समय ऐसी विपत्ति उपस्थित हो कि, न साधारण धर्म निभ सके, उस समय श्रेष्ठता और निकृष्टता आवश्यक और अनावश्यक, संभव और असंभव के तारतम्य के अनुसार कर्तव्य का निश्चय करना ही आपद्धर्म का मौलिक रहस्य है। आपद्धर्म में अधर्म भी उस समय के लिये धर्म हो जाता है, जैसे कि, क्षुधा से प्राण जाते समय अभोज्य पदार्थ ग्रहण करके अथवा चोरी करके प्राण की रक्षा करना धर्म हो जायेगा।

असाधारण धर्म का अधिकार कुछ और ही विलक्षण है। क्योंकि वह सर्वसाधारण के उपयोगी नहीं है। साधारण धर्म यथायोग्य व्यक्ति को समान रूप से सहायता करता है। विशेष धर्म विशेष-विशेष अधिकारी का हितकारी है। आपद्धर्म विपत्ति में पतित व्यक्तिमात्र के लिये हितकारी है। इस कारण यह कहना पड़ेगा कि, ये तीनों धर्म मानवमात्र के लिए उपयोगी हैं। परंतु असाधारण धर्म ऐसे नहीं है। असाधारण शक्ति सम्पन्न व्यक्ति ही उसको उपयोग में ला सकता है। पूर्वजन्म की असाधारण

तपस्या से असाधारण शक्ति प्राप्त व्यक्ति ही असाधारण धर्म पालन का अधिकारी बन सकता है। जैसे, राजा विश्वामित्र पूर्वजन्ममार्जित तपस्या में असाधारण शक्ति प्राप्त करके वर्तमान जन्म में योग शक्ति के द्वारा अपने शरीर के परमाणु को बदलकर एक जन्म में ही क्षत्रिय राजा से ब्राह्मण महर्षि बन गये थे।[7]

इस प्रकार से जगत् के आदि गुरु पूज्यपााद महर्षियों ने धर्माधर्म निर्णय के विषय में पूर्ण सफलता प्राप्त की थी। उनकी ज्ञानगरिमा अभी तक भारतद्वीप ही नहीं, अपितु सारे भारतवर्ष को आश्चर्यचकित कर रही है। प्रकृतिराज्य की नकल करने वाला शिल्पशास्त्र (Art) और स्थूल प्रकृति पर आधिपत्य करने वाली पदार्थ विद्या (Science) दोनों के ही आदि शिक्षक होकर भारतद्वीप के अग्रजन्मा ब्राह्मणगण जगत् के आदिगुरु कहते हैं। परंतु उनके दार्शनिक अनुशीलन का ठीक-ठीक पता अभी तक सभ्यजगत् लगा ही नहीं सका है। यदि वर्तमान सभ्यजगत् वैदिक दर्शनशास्त्रों का यथार्थ स्वरूप समझता, तो आजकल के सब दार्शनिक मत नाना नदियों की भाँति बहते हुए वैदिक दर्शन-पारावार में आ मिलते। जिन्होंने वैदिक सप्तदर्शन का यथार्थ रूप से अनुशीलन किया है, वे अवश्य ही हृदयङ्गम कर सकते हैं कि, दर्शनशास्त्र के पूर्ण स्वरूप का विकास भारतद्वीप में ही हुआ है। पृथ्वी भर में जहाँ-जहाँ अन्तर्जगत् प्रकाशक दर्शन शास्त्रों का आविष्कार हुआ है, वहाँ-वहाँ के विद्वान् शृंखलारहित होकर मार्ग भूले पथिक के समान अन्तर्जगत् में भ्रमण करते दिखायी पड़ते हैं। जिस देश में जहाँ जो दर्शनशास्त्र प्रकाशित हुआ है, वहाँ वे सब दर्शनशास्त्र कर्ता के नाम से अलग-अलग अभिहित हुए हैं और उनमें कोई भी सिद्धांत-शृंखला पायी नहीं जाती। भारतद्वीप का दार्शनिक आविष्कार वैसा नहीं है। वैदिक दर्शनशास्त्रों में अधिकार शृंखला है, विचार-शृंखला है और सिद्धांत शृंखला है।

पूज्यपाद महर्षियों ने यह हाथ उठाकर नाना शास्त्रों में प्रकाशित किया है और दार्शनिक सूत्रों द्वारा सिद्ध किया है कि, अज्ञानभूमियाँ सात हैं और ज्ञानभूमियाँ भी सात हैं। अज्ञानभूमिमयों का स्वरूप निर्णय करने के लिये भिन्न से अतिनिम्न अधिकार के जीवों के अन्तःकरणों पर पूर्वाचार्यों ने पहिले अपने अंतःकरण में संयम करके देखा और फिर आगे की पोढ़ियों का पता लगाया है। उद्भिज्ज जीवों के समष्टि चिदाकाश में उन्होंने अज्ञानभूमि का सबसे नीचा स्तर देखा है। अज्ञानभूमि का दूसरा स्तर उन्होंने स्वदेज योनियों के समष्टि अंतःकरणों में देखा है। अज्ञानभूमि का तीसरा स्तर उन्होंने अण्डजयोनि के समष्टि-चिदाकाश में अनुभव किया है। चौथे स्तर का जरायुजयोनि के जीवों के समष्टि अंतःकरण पर संयम करके पता लगाया है। उसके बाद के अज्ञानभूमियों के तीन स्तर अज्ञानसेवी मनुष्यों में पाये

जाते हैं। वे तीनों ये हैं—देह को ही आत्मा समझना अर्थात् देहात्मवाद को प्रथम स्वीकार करना, अज्ञानभूमिका पंचम स्तर है। अनन्तर देहातिरिक्त आत्मवाद के जितने दार्शनिक सिद्धांत हैं, उनको उन्होंने छठी अज्ञानभूमि माना है और दार्शनिक पथ में चलने पर भी लक्ष्य भ्रष्ट आत्मातिरिक्त शक्तिवाद के जितने दर्शनमत संसार में प्रचलित हुए हैं या होंगे, उनको पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियों ने अज्ञानभूमि का सातवाँ स्तर बताया है। इस प्रकार से असाधारण ज्ञानगरिमा का परिचय देकर भारतद्वीप के मनीषियों ने ज्ञानपथ के पथिकों को सावधान कर दिया है। जिससे वे इन अज्ञान भूमियों से बच कर ज्ञान का यथार्थ मार्ग अन्वेषण करने में समर्थ हो सकें।

इसी प्रकार ज्ञानभूमियों की अलौकिकता उन्होंने सप्त दर्शन-सिद्धांत में विशद रूप से त्रितापतप्त जीवों के कल्याणार्थ प्रकाशित की है। पूर्वाचार्यों ने सप्तज्ञान भूमियों के नाम इस प्रकार वर्णन किये हैं—1. ज्ञानदा, 2. संन्यासदा, 3. योगदा, 4. लीलोन्मुक्ति, 5. सत्पदा, 6. आनन्दपदा, 7. परात्परा।

इन्हीं सात ज्ञानभूमियों की सात पौढ़ियों में चढ़कर जीव ब्रह्मानन्द पारावार में उन्मज्जन-निमज्जन कर सकता है।[8] पूज्यपाद महर्षियों के सिद्धांतानुसार वैदिक दर्शनशास्त्र सात श्रेणी में ही विभक्त हो सकते हैं। न इससे न्यून हो सकते, न अधिक ही हो सकते हैं। यद्यपि इन सातों में से प्रत्येक सिद्धांत के आचार्य समय-समय पर अनेक हुए हैं, तथापि वैदिक दर्शन सिद्धांत सात ही माने गये हैं। यथा—दो पदार्थवाद के दर्शन न्याय और वैशेषिक, दो सांख्या प्रवचन के दर्शन—योग और सांख्य और वेद के तीन काण्डों के अनुसार तीन मीमांसादर्शन—कर्मकाण्ड की मीमांसा, उपासनाकाण्ड की मीमांसा और ज्ञानकाण्ड की मीमांसा। दोनों पदार्थवादों में अनुमान द्वारा जगत्कर्ता का अनुसंधान कर स्थूल प्रपञ्च के मौलिक परमाणुओं की नित्यता बतायी गयी है। सांख्य प्रवचन की दोनों भूमियों में यथाक्रम प्रकृति और पुरुष की नित्यता और दोनों का यथार्थ अलग-अलग स्वरूप बताकर तत्त्वज्ञानी को मुक्तिमार्ग में अग्रसर किया है। तीनों मीमांसा दर्शनों में प्रकृति और पुरुष की एकता अपने-अपने ढंग पर सिद्ध पर पहले में जगत् ही ब्रह्म है, दूसरे में ब्रह्म ही जगत् है और अन्तिम मैं ही ब्रह्म हूँ, इस प्रकार के लक्ष्य को स्थिर किया है। इस प्रकार मीमांसा शास्त्रों के द्वारा वैदिक ज्ञान का यथार्थ स्वरूप तत्त्वज्ञानियों के निकट प्रकट करके उनको कृत-कृत्य किया है। जिसका अनुशीलन करके त्रिलोक में ऐसा कोई भी जिज्ञासु नहीं है, जो तृप्त न होता हो और कोई भी ऐसा बुद्धिमान नहीं है, जो चकित न होता हो।[9]

ज्ञानराज्य के अन्वेषण का सबसे बड़ा रहस्य और सबसे बड़ा तत्त्व ईश्वरतत्त्व

है। ईश्वरतत्त्व की भारतद्वीप के जगद्गुरु ब्राह्मणों ने जैसी छानबीन की है, वैसी गवेषणा इस मृत्यु लोक की मनुष्य जाति में न हुई है, न होगी। ईश्वरोपासना के अधिकारों में भूत-प्रेत आदि की उपासना तदनन्तर ऋषि-देव-पितरों की उपासना, तदनन्तर अवतारोपासना, तदनन्तर सगुण पञ्चोपासना और तदनन्तर निर्गुण ब्रह्मोपासना, इस प्रकार से पाँच स्तर जो शास्त्रों में पाये जाते हैं, वे सर्वाङ्गपूर्ण हैं। छोटे-से-छोटे अधिकार से लेकर बड़े-से-बड़े अधिकार के मनुष्यों के लिये पाँचों यथाक्रम सब प्रकार से उपयोगी हैं और साथ-ही-साथ सात्विक, राजसिक और तामसिक इस प्रकार से इनके तीन-तीन अलग-अलग भेद होने से यह पञ्चदश स्तरमीय उपासना प्रणाली संसार भर के उपासक वृन्द की हितकारी है। दूसरी ओर मंत्रयोग की मूर्तिध्यान प्रणाली, हठयोग की ज्योतिर्ध्यान प्रणाली, लययोग की बिंदुध्यानप्रणाली और राजयोग की निर्गुण ब्रह्मध्यान प्रणाली, इस प्रकार से चार ईश्वर ध्यान प्रणालियों के स्तर और उस प्रत्येक के सात्त्विक राजसिक और तामसिक अलग अलग भेद, इस प्रकार से बारह प्रकार की ध्यान प्रणाली योगशास्त्र में विहित हैं, जो सर्वहित कर है। प्राचीन भारतद्वीप की ईश्वरतत्त्व निरूपण प्रणाली में सबसे नीचे के अधिकार की भगवान् यमधर्म राज की धारणा है। वह धारणा इस प्रकार की है कि, यमलोक में सब जीव मृत्यु के अनन्तर जाते हैं और वहाँ उनका विचार होकर कोई प्रेतलोक, कोई नरकलोक, कोई असुरलोक और कोई देवलोक में उनके कर्मों के अनुसार भेज दिये जाते हैं। परलोक के विचारपति भगवान् यमधर्मराज हैं। उनका जेलखाना प्रेतलोक और नरकलोक है, जैसा पहिले कहा गया है। भगवान् यमराज का पद नित्य है, परंतु उसके पदधारी समय-समय पर बदला करते हैं। ईश्वर तत्त्व की इसी धारणा को पृथ्वी के अनेक नवीन धर्ममार्ग ईश्वर की धारणा करके मानते हैं। परंतु सनातन वैदिक विज्ञान में यह धारणा भगवान् यमधर्म राज की धारणा है। भारतद्वीप की ईश्वर संबंधीय दूसरी श्रेणी की धारणा अवतार धारणा है। इसमें यह धारणा की जाती है कि, सर्वव्यापक ईश्वर मानवादि पिण्डों में अवतीर्ण होते हैं। भारतद्वीप में ईश्वर संबंधीय तीसरी धारणा सगुणब्रह्म की है। इस धारण के अनुसार यही माना जाता है, कि सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान ईश्वर अपनी शक्ति का आश्रय कर सगुण रूप धारण करते हुए सगुण लोक में विराजते और सगुण रूप में भक्तों को दर्शन भी दिया करते हैं। जब वे सर्वशक्तिमान है, तो शक्ति के आश्रय से भक्तवात्सल्य के कारण उनका सगुण हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। भारतद्वीप की ईश्वरसंबंधीय चौथी और अंतिम धारणा निर्गुणब्रह्म की धारणा है। वह निर्गुण रूप स्वरूप में ज्ञानी भक्त को उसकी अविद्या, अस्मिता आदि के विलय होने पर अपने आप ही अनुभूत

हांता है। चित्तवृत्तियाँ एक बार ही शान्त हो जाने परमात्मा का वह सर्वव्यापक स्वरूप अपने आप ही प्रकट हो जाता है और तब उपासक का द्वैतभान नष्ट हो जाता है। जब तक सूर्यदेव का बिंब उस जल में दिखायी नहीं देता, केवल उसकी झलमलाहट ही दिखायी देती है; परंतु जल की ऊर्मिमाला द्वारा आलोडित रहता है तब तक सूर्यदेव का बिम्बे उस जल में दिखाई नहीं देता, केवल उसकी झलकबाहर ही दिखाई देती है। परन्तु जल की उर्मिमाला थमकर जल शान्त होते ही सूर्यबिंब अपने आप ही प्रकाशित हो जाता है। इसी उदाहरण पर योगशास्त्र ने सिद्ध किया है कि, केवल योगयुक्त अंतःकरण ही निर्गुण ब्रह्म रूपी परमात्मा का दर्शन करने में समर्थ होता है। तब स्वतः ही वह समुद्र में आकाश-पतित वारि-बिन्दु के समान ब्रह्मसायुज्य का परमाननद प्राप्त कर लेता है। पूज्यपाद महर्षियों के द्वारा प्रकाशित उक्त ईश्वर तत्त्व के भेदों में से प्रत्येक के दो-दो भेद हैं। एक ज्ञानकृत अनुभव और दूसरा अज्ञानकृत अनुभव। इस प्रकार ईश्वरतत्त्व के आठ भेद होते हैं। सुतरां उपासना के पन्द्रह भेद, ध्यान के बारह भेद और तत्त्व के आठ भेद,—इस प्रकार से पैंतीस भेदमयी ईश्वर धारणा, प्रणाली के द्वारा भारतद्वीप का ईश्वरतत्त्व पूर्ण और सर्वजीव हितकारी है; इसको निरपेक्ष विद्वज्जनमात्र को मानना पड़ेगा।

किसी अलौकिक विषय का अथवा किसी अलौकिक ज्ञान गरिमा के विषय का प्रथम आविष्कार करना एक और बात है और आविष्कृत होने पर उसमें कुछ अधिकता करना और बात है। अज्ञात शास्त्रों को सृष्टि की प्रथम अवस्था में प्रकाशित करके जगत् के ज्ञानभाण्डार को भरना सबसे कठिन है। पीछै से उस ज्ञानभाण्डार की कुछ उन्नति करना उतना कठिन नहीं है। अतः सृष्टि की प्रारंभिक अवस्था में बड़े-बडे शास्त्रों का और साइण्टिफिक रहस्यों का मौलिक सिद्धांत प्रकाशित करके भारतद्वीप के अग्रजन्मा ब्राह्मणगण लोकपूजित हो गये हैं। सबसे प्रथम अवस्था में और सृष्टि के आदि काल में गणितशास्त्र के अंकगणित, बीजगणित, भूमिति ज्यामिति आदि, चिकित्सा शास्त्र के वनौषधिशास्त्र, रसायनशास्त्र, शल्यशास्त्र का निदान शास्त्र आदि, ज्योतिष में फलित और गणित आदि, स्थापत्य शिल्प के नाना विभाग, संगीत शास्त्र के गीत, वाद्य, नृत्यादि विभाग, संस्कृत साहित्य के व्याकरण, काव्यकला आदि विभाग, इत्यादि लोकहितकर शिल्प और विज्ञान की गवेषणा सृष्टि के आदिकाल में भारतद्वीप में हुई थी। यद्यपि उन सब शास्त्रों में बहुत सी नवीनता अन्य देशों में की गयी है, परंतु उन सबका प्रथम आविष्कार इसी पूण्यभूमि में हुआ है; जिसको नवीन और प्राचीन इतिहास हाथ उठाकर साक्षी दे रहे हैं। विशेषतः अब इस समय पश्चिमी देशों में जो अन्तर्गत् संबंधी विद्याओं (Claiorvoyance, Possession

Trance, Thought-reading, Double Personality, Verdical choracter of dream) की खोज हुई है, उसके मूल का पता पश्चिमी विज्ञान से कुछ भी नहीं लग सकता; परंतु भारतद्वीप के पञ्चकोषों के दार्शनिक सिद्धांत के द्वारा तुरंत ही लग जाता है। अन्तर्जगत् संबंधी योगशास्त्र और योग के क्रियासिद्धांश समूह की उन्नति और चतुर्दश भुवन और दैवीजगत् संबंधी अलौकिक गवेषण जो कुछ भारतीद्वीप में हुई थी, उसका सहस्रांश भी इस समय उपलब्ध नहीं होता है।[10] उन विषयों के महत्त्व की धारणा भी वर्तमान सभ्य जगत् करने में असमर्थ है।

संदर्भ

1. हे धर्मरूपे! जगतामधीशे!
   कृपाकटाक्षेण तवैव मातः।
   अनन्तःब्रह्माण्ड-कटाहकोट
   उत्पद्यते तिष्ठति लीनमेति।।
   विकर्षणाकर्षणशक्तितोऽम्बिके!
   ताराग्रहोपग्रहधूककेतवः।
   स्थानाच्चयवन्ते न सतामधीश्वरि!
   स्वतः स्वयं ते ननु धर्मरूपिणी।। —*जगद्धात्री स्तोत्रम्*
2. धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति धर्मेण पापमपनुदति धर्मे सर्व प्रतिष्ठितं तसमाद्धर्म्म परमं वदन्ति।

   —*नारायणोपनिषद्!*

   धारणाद्धर्ममित्याहुधर्ममों धारयते प्रजाः।
   यत्स्याद्धारणसंयुक्त स धर्म इति निश्चयः।।

   —*महाभारत*

   योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः।

   —*पातञ्जल-योगभाष्य*

   —*वैशेषिक दर्शन*

   यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।
   वेदप्रणिहितं कर्म धर्मस्तन्मङ्गलं परम्।
   वेदप्रणिहितं कर्म धर्मस्तन्मङ्गलं परम्।
   प्रतिषिद्धक्रियासाध्यः सगुणोऽधर्म उच्यते।।
   प्राप्नुवन्ति यतः स्वर्गमोक्षौ धर्मपरायणे!।
   मानवा मुनिभिर्नूनं स धर्म इति कथ्यते।।
   सत्ववृद्धिकरो योऽत्र पुरुषार्थोऽस्ति केवलः।
   धर्मशीले! तमेवाहुधर्मं केचिन्महर्षयः।।
   या विभूर्त्ति जगत्सर्वमीश्वरेच्छाह्यलौकिकी।
   सैव धर्मो हि सुभगे! नेह कञ्चन संशयः।। —*स्मृतिशास्त्रेः*

धारको धर्मः ।।2।। अभ्युदयकरः सत्वप्राधान्यात्।।3।। निःश्रेयस्करः शक्तिमत्त्वात्।।4।। प्रतीपकर्माऽधर्मः।।5।। समौ शक्तिवैशिष्ठ्यात्।।6।। अहित्वाद्धेय।।7।। धर्माधर्मनिर्णयः सत्त्वतमोभ्यां।।8।।

—*कर्ममीमांसा, धर्मपाद*

प्रकाशकत्वात्सत्त्वस्य ज्ञानहेतुत्वमीर्यते।
लघुत्वादूर्दध्वनेतृत्वं सत्त्वाद्धर्मो हि निर्बभौ।।
उन्नतिं निखिला जीवा धर्मणैव क्रमादिह।
विदधानाः सावधाना लभन्तेऽते परं पदम्।।
श्रुतिस्मृत्युदितो धर्मस्त्वधर्मस्तद्विपर्ययः।
देवाः उद्भावकं सत्त्वतमसोः कर्म कथ्यते।।
धर्मः सत्वप्रधानत्वाद धर्मस्तद्विपर्ययः।
गूढं रहस्यं धर्मस्याऽधर्मस्याप्येतदेवहि हि।।

—स्मृतिशास्त्रे

3. स्थावरे लक्षविंशत्यो जलजं नवलक्षकम्।
कृमिजं रुद्रलक्षञ्च पक्षिजं दशलक्षकम्।।
पश्वादीनां लक्षत्रिंशत् चतुर्लक्षञ्च वानरे।
ततो हि मानुषा जाता कुत्सितादेद्विलक्षकम्।।

—बृहद्विष्णुपुराण

जीवप्रसूर्यदाऽविद्या जनयेत्स्वप्रभावतः।
चिज्जडग्रन्थिर्मेतद्धि वपुः कारणमुच्यते।।
स्थूलैश्च पञ्चभिर्भूतैः स्थूलं निर्मीयते वपुः।
परिशिष्टैस्तत्त्वजातैः सूक्ष्मो देहः प्रजायते।।
एतद्देहत्रयस्यैव देवा! आवरणान्मम।
स्वरूप न प्रकाशेत शुद्धं नित्यमपि स्वयम्।।
एतदेवास्ति वेदेषु वर्णितञ्च क्वचित् क्वचित्।
पञ्चकोषाभिधानेन देवाः! आवरणं ननु।।
पञ्चभ्यः स्थूलभूतेम्भ्यः कोषों ह्यन्नमयो भवेत्।
कोषादन्नामयादेव स्थूलमुत्पद्यते वयुः।।
कोषादत्ररमयकोषः पतेन्मृत्युक्षणे सुराः।
केवलोडन्नमयस्यैव निरीक्ष्य परिवर्तनम्।।
अज्ञासत जीववर्गस्य मृत्युमाहुर्विनाशकम्।
मिलिताः पञ्चप्राणा में सूक्ष्मशक्ति स्वरूपिणः।।
पञ्चकर्मेन्द्रियैः सार्द्ध कोषः प्राणमयो भवेत्।
असावेव सुपर्वाणः! कोषः प्राणामयी महान्।।
युष्माकं खुल लोकस्य संबंधी मृत्युलोकतः।
अवस्थापयते नूनं द्वयोर्हि सॊलसूक्ष्मयोः।।
मिलित्वा मनसा सार्द्ध पञ्चज्ञानेन्द्रियाण्य हो।
नाम्ना मनोमयं कोषं जनयन्तेतरां सुराः!।।
स्याद्विज्ञानमयाः कोषो बुद्धिर्जनेन्द्रियैः समम्।
देवाः! मनोमयः कोषः कोषः प्राणमयस्तथा।।
विज्ञानम्रयकोषोऽपि सम्भूयैतत्त्रयं सह।
शरीरं प्राणिनां सूक्ष्मं समुत्पादयतेतराभ।।
शरीरं सूक्ष्ममेवाहों दशामेत्यातिवाहिकीम्।

अधिलोकांतरं सर्वं शक्नुयाद भ्रमितृं सुराः!।।
कारणाख्यवपुर्भूतऽविद्यायां नन्वस्थितः।
प्रियमोदप्रमोदैहि भावैरभिः समन्वितः।।
आत्मस्वरूपावर को देवाः! मलिनसत्वकः।
नाम्नाऽऽनन्दमयः कोषः कथ्यते वेदपारगैः।।
एतदेवास्ति जीवानां शरीरं कारणं ध्रुवम्।
चतुर्विंशतितत्त्वानामयं हेतुर्यतोऽस्त्यहो।।
ऽविद्याऽऽवरणादेव मत्प्रधानस्वरूपयोः।
स्वरूपं न प्रतीयेत कैश्चिज्जीवगणैरिह।।

—शक्तिगीता, अ. 6

पञ्चकोषजननम्।।29।। शरीरत्रयहेतुश्च।।30।। कोषाःपञ्च।।128।।अन्नमयप्राणमयौ स्वेदजे द्विभज्जननर्हत्वम्।।129।। त्रयोऽण्डजे तस्मात्रतः स्वेदजोद्विभजौ।।130।। चत्वारो जरायुजे ततोण्डजस्वेदजोद्भिजाः।।131।। सर्वप्राणिप्रसवो मानवः पूर्णत्वात्।।132।। पिण्डेश्वरोऽसौ।।133।। अत ऐशीविकासार्हत्वमस्य।।134।। निःश्रेयसाधिगमश्च।।135।। लौकिक्यलौकिकी च शक्तिः।। 136।। जीत्वजनिरुद्भिदः।।140।।

—कर्ममीमांसा, क्रियापाद

उद्भिज्जमाजरायुजं चतुष्कोषक्रमोन्मेषः।।58।। सर्वविकाशोऽन्तिमें।।59।। क्षित्येकाश्रयत्वमुद्भिदः।।60।। ब्रह्माण्डपिण्डयोत्तथादर्शनात्।।61।। स्वेदजो जलाग्निवाय्वाकाशाश्रयः।62।। गुणभेदादनेकधा।।63।। ब्रह्माण्डपिण्डयो रोगारोग्यप्रदः।।64।। अतीन्द्रिया अपि।।65।। योनेरानन्येऽपि पञ्चधा।।66।।उद्भिदेककलः।।67।।स्वेदजे द्विकलः।।68।।अण्डजस्त्रिकलः।।69।।चतुष्कलो जरायुजः।।70।। तत्र गोसिंह मर्कटतो मानवो गुणभेदात्।।71।। पञ्चकलः सः।।72।। तद्धर्मसंबंधत्वात्पूर्णकलत्वमस्य।।73।। तद्विकाशो विशेषतः।।74।। उद्भिदन्नमयविकाशः।।75।। तस्य जलमन्नम्।।76।। एक्समादन्यत्।।77।। स्वेदजे विकास उभयोः।।80।।तसमाद्दृश्यते उभयम्।।81।। ब्रह्माण्डपिण्डयोरधिकारः प्राणशक्तिमत्वात्।।82।। कोषत्रयविकाशोऽण्डजे।।83।।तस्मादुपलभ्यते मनः।।84।।चतुष्कोषविकासो जरायुजे।।85।।तत्राल्पविकासो बुद्धेः।।86।।सोस्यलक्षणः पञ्चकोषविकासो मानवे।।87।।आनन्दमयस्य पूर्णकलौपयोगित्वं चन्द्रवत्।।88।। कलाविकाशतः कैवल्यम्।।81।।

—कर्ममीमांसा, संस्कारपाद

4. गायन्ति देवाः किल गीतकानि।
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते।
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।।
कर्माण्यसङ्कल्पिततत्फलानि।
संन्यस्थ विष्णौ परमात्मभूते।।
अवाप्य तां कर्ममहीमनन्ते।
तसिमल्लंय ये त्वमलाः प्रयान्ति।।
जानीम नैतक्क वयं विलीने।
स्वर्गप्रदे कर्मणि देहबन्धम्।।
प्राप्स्याम धन्याः खलु ते मनुष्याः।
ये भारते नेन्द्रियविप्रहीनाः।।

—विष्णुपुराण

5. द्रव्ययज्ञास्त्पेयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।
अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधदृष्टां य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः।।
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ! तं यज्ञं विद्धि राजसम्।।
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणम्।।
देवद्विजगुरूप्राज्ञपूजनं। शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीरं तपन उच्यते।।
अनुद्वेगकारं वक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनञ्चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्त्पो मानसमुच्यते।।
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते।।
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिहि प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।।
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।।
दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्।।
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।।

—गीतोपनिषत्स

6. यं पृथग् धर्मचरणाः पृथग् धर्मफलैषिणः।
पृथग् धर्मैः समर्चन्ति तस्मैं धर्मात्मने नमः।।

—महाभारत

7. मानवधर्मश्चतुविधो विशेषाऽसाधारणाऽपत्साधारणभेदात्।।22।। अधिकारप्राधान्यहेतु को विशेषधर्मः।।23।। शक्तिप्राधान्यनिमित्तोऽसाधारणधर्मः।।24।। आपन्मूलक आपद्धर्मः।।25।। तत्राऽधर्मोऽपि धर्मो भावशुद्धिमत्वात्।।26।। अयमाश्रयः कालाऽन्यथाभावे।।27।। सर्वकल्याणसाधकः साधारण धर्मः।।28।।

—कर्ममीमांसा, धर्मपाद

सर्वेषां रक्षको धर्मः सर्वजीवहितप्रदः।
निखिलव्यापकश्चास्ति सर्वेभ्योऽभ्युदयप्रदः।।
तत्सनातनधर्मस्य पदाश्चत्वार आसते।

साधारणविशेषौ हिं तथाऽसाधारणापदौ।।
ब्रह्मचर्यञ्च दाम्पत्यं निवासी निर्जने वने।
त्यागो ह्यध्यापनञ्चैव पठनञ्च प्रतिग्रहः।।
धर्मयुद्धं प्रजारक्षा वाणिज्यं सेवनादयः।
विशेषस्यापि धर्मस्य सन्तीमाः खलु वृत्तयः।।
यदा कश्चिद्विशेषस्तु धर्मः शक्तिमवाप्नुयात्।
असाधारणधर्मस्याधिकार लभते वहन्।
कदाचित एवालमापद्धर्मस्व निर्णये।।
अधर्मेणापि धर्मस्य स्वरूपे परिणम्यते।
धीर्विद्यासत्त्यमक्रोध औदार्य समदर्शिता।।
परोपकारनिष्कामभावप्रभृतयः शुभाः।
साधारणस्य धर्मस्य विद्यन्ते वृत्तयो ध्रुवम्।।
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

—स्मृतिशास्त्र

8. अधमाऽज्ञानभूमिर्वै तमोमुख्या विजृम्भते।
तमोरजःप्रधाना च मध्यमाऽसौ प्रकीर्तिता।।
उत्तमाऽज्ञानभूमिश्च रजःसत्त्वप्रधानिका।
शुद्धसत्त्वविकासस्य स्थले नूनं यथाक्रमम्।।
पुण्यभाजां मनुष्याणां चित्ताकाशे यतो ध्रुवम्।
सप्तानां ज्ञानभूमीनामधिकाराः क्रमेण हि।।
समुद्यन्ति ध्रुवं देवदुर्लमानां स्वभावतः।
ज्ञानभूम्यश्च सप्तैताः साधकान्तर्हृदि क्रमात्।।
शुद्धं सत्वगुणं सम्यग्वर्द्धयन्त्यो निरंतरम्।
निःश्रेयसपद नित्यं गुणातीतं नयन्त्यलम्।।
यत्किञ्चिदासीज्ज्ञातव्यं ज्ञातं सर्व मयेति धीः।
आद्याया भूमिकायाश्चाऽनुभवः परिकीर्तितः।।
त्याज्यं त्यक्तं मयेत्येवं द्वितीयोऽनुभवो मतः।
प्राप्ता शक्तिर्मया लब्धाऽनुभवो हि तृतीयकः।।
मायाविलसितं चैतद् दृश्यते सर्वमेव हि।
न तत्र मेऽभिलाषोऽस्ति चतुर्थोऽनुभवो मतः।।
जगद्ब्रह्मेत्यनुभवः पञ्चमः परिकीर्तितः।
ब्रह्मैवेदं जगत् षष्ठोऽनुभवंः किल कथ्यते।।
अद्वितीयं निर्विकारं सच्चिदानन्दरूपकम्।
ब्रह्माहमस्मीति मतिः सप्तमोऽनुभवो मतः।।
इमां भूमिं प्रपद्यैव ब्रह्मासारूप्यमाप्यते।

—राजयोगसंहिता

9. सप्तदर्शनविज्ञानं विज्ञेयं विधिपूर्वकम्।
समीक्षणार्थकत्वाद्धि दर्शनं वै हितप्रदम्।।

सप्तज्ञानात्मकभुवः परं तत्त्वावलोकनम्।
कथं भवति वेदैश्च शास्त्राद्यैरधिगम्यताम्।।
निमित्तकारणीभूतं स्रष्टेर्ब्रह्मेति बोधनम्।
षोडशानां पदार्थानां तत्त्वाप्तिर्ज्ञानतः स्फुटम्।।
परमाणोश्च नित्यत्वं प्रथमं भूमिदर्शनम्।
धर्माधर्मौ विनिर्णीय षट्पदार्थ विचार्य वै।।
परतत्त्वापेलब्धिश्च द्वितीयं भूमिदर्शनम्।।
वृत्तयो जगतो मूलं रुद्ध्वा ता यत्नपूर्वकम्।
परतत्त्वोपलब्धिर्हि तृतीया भूमिका मता।
विदित्वा प्रकृति सम्यक् परतत्त्वावबोधनम्।।
कथयन्ति बुधा एतत्तुरीयं भूमिदर्शनम्।
प्राधान्यात्कर्मणो ब्रह्म जगदेवेति निश्चयः।।
पञ्चमी भूमिका सेयं निर्दिष्टा तत्त्ववेदिभिः।
भक्तेः प्रधानता हेतोर्ब्रह्मैव निखिलं जगत्।।
येयं बुद्धिविनिर्दिष्टा सा षष्ठी भूमिका मता।
ज्ञानाधिक्यादहं ब्रह्मास्मति धीः सप्तमी भवेत्।।

—राजयोगसंहिता

10. एतद्दकशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।

—मनुः

9

राजानुशासन-विज्ञान

भारतद्वीप के प्राचीन आर्यों का ऐतिहासिक विचार कुछ विलक्षण था। इतिहास के साथ राजानुशासन-विज्ञान का बहुत घनिष्ट संबंध होने के कारण प्राचीन आर्यों की ऐतिहासिक विचारशैली का अन्वेषण कर तदनन्तर उनके राजानुशासन-विज्ञान की तुलनात्मक गवेषण करना ठीक होगा। महाभारत के महायुद्ध से पहिले के समय तक अर्थात् कलियुग के प्रारंभ से पहिले तक का जो ऐतिहासिक विवरण मिलता है, उससे यही प्रतीत होता है कि प्राचीन आर्यगण लौकिक इतिहास लिखने के लिए पक्षपाती ही नहीं थे। वे लौकिक इतिहास का लिखना अनावश्यक समझते थे। क्योंकि वे अपने नित्य के सङ्कल्प में इस ब्रह्माण्ड के विराट् देह और काल के विराट् स्वरूप को नेत्रों के सामने प्रतिदिन रखा करते थे।[1]

इसके अतिरिक्त वे देवलोक और मनुष्यलोक दोनों का संबंध सदा एक सूत्र में बांधे रखना चाहते थे। उन्होंने पुराणों में जो लोकचरित्र अथवा ऐतिहासिक घटनाएँ प्रकाशित की हैं, वे सब देवलोक और मनुष्यलोक दोनों की मिली-जुली हैं। उनको गाथारूप से परकीय-भाषा में और रूपक-रूप से लौकिक भाषा में प्रकााशित करके उन्होंने मनुष्य समाज की आध्यात्मिक उन्नति, आधिदैविक उन्नति और आधिभौतिक उन्नति का मार्ग सरल कर दिया है। इस कारण प्राचीन आर्यों के पुराण और इतिहास ग्रंथ लौकिक ग्रंथ नहीं, धर्मग्रंथ हैं। प्राचीन आर्यों की राजानुशासन पद्धति भी दैवीजगत् के आश्रय से ही बनायी गयी थी।

प्राचीन आर्यों के इतिहास और राजानुशासन के साथ दैवीजगत् का इतना संबंध देखकर तुलनात्मक विचारशील व्यक्तियों के मन में कई प्रकार की शङ्काएँ हो सकती हैं उन शङ्काओं का यथासम्भव समाधान करना प्रथम आवश्यक है। जैसे कि, यदि यह शङ्का हो कि, देवलोक के राजाओं के साथ मनुष्यलोक के राजाओं का संबंध स्थापित होना कैसे सम्भव है? देवपिण्डधारियों और मानवपिण्डधारियों के उपादन

में बड़ा अंतर होने के कारण देवताओं का मनुष्य लोक में और मानवों का देवलोक में जाना-आना कैसे संभव है? देवलोक के राजाओं और मनुष्यलोक के राजा तथा प्रजा का किन-किन विषयों में संबंध स्वीकार किया जा सकता है? मनुष्यलोक के राजानुशासन के साथ देवलोक के राजाओं तथा वहाँ के राजानुशासन का संबंध होने का रहस्य क्या है? इस श्रेणी की शङ्काओं का समाधान इस प्रकार है। हम पहिले प्रकाशित कर चुके हैं कि, चतुर्दश भुवनों का 1/1176 वाँ अंश हमारा यह मृत्युलोक अर्थात् भारतवर्ष है, बाकी सब देवलोक है। देवलोक के देवता मृत्यु लोक के जीवों के कर्मों के चालक हैं। वहाँ के ऋषि यहाँ के ज्ञान के चालक हैं और वहाँ के नित्यपितृगण स्थूल सृष्टि के चालक हैं। अतः मृत्युलोक का सब कुछ दैवी जगत के ही अधीन है। इस कारण मृत्यु लोक के जो सच्चे और सच्चारित्र राजा होंगे, देवलोक के राजन्यगण अर्थात् देवलोक के लोकपालगण उनमें अपनी प्रेरणा चलाकर, उनको अपना प्रतिनिधि बनाकर समग्र ब्रह्माण्ड के मङ्गलार्थ धर्मस्थापन में सहायक बना सकते हैं, इसमें संदेह नहीं। यही प्राचीन आर्यों का सिद्धांत था। यद्यपि देवपिण्ड तैजस और मानवपिण्ड पार्थिव होता है, तथापि यदि किसी उपाय से तैजसपिण्ड पार्थिव कर लिया जाय, तो तैजसपिण्डधारी देवता पृथिवी लोक में दृश्यमान ही नहीं होते, किंतु पाण्डवों की उत्पत्ति की तरह सृष्टि भी उत्पन्न कर सकते हैं। इसी प्रकार यदि एक ओर मानवपिण्डधारी व्यक्ति की कठिन तपस्या हो और दूसरी और देवपिण्डधारी व्यक्ति की प्रबल इच्छा हो, तो थोड़े अथवा अधिक समय के लिए मानवपिण्ड का पार्थिकत्व बदल कर उसमें तैजसत्व आ सकता है, यह आर्यों का योगशास्त्र सिद्ध करता है। अब शङ्का समाधान के लिये कहा जाता है कि, जैसे अर्जुन अपने तपःप्रभाव से एक समय स्वर्ग पहुँचे थे और वहाँ अपने पितृदेव के स्थान पर ठहरे थे। परंतु शरीर छोड़ते समय उन्हें हिमालय के महाप्रस्थान में गलना पड़ा था और तब वे देवलोक में जा सके थे। उनका पहिले स्वर्ग जाना नैमित्तिक था और दूसरी बार स्वर्ग जाना स्वाभाविक था। इसी प्रकार असुरों का देवासुर संग्राम के संबंध से स्वर्ग जाना नैमित्तिक और नित्य शरीर छोड़कर स्वर्ग जाना स्वाभाविक होता है। अब यह शंका हो सकती है कि, असुरों के लिये यह नैमित्तिक और नित्य स्वर्गगमन सम्भव हो सकता है, क्योंकि वे देवपिण्डधारी हैं; परंतु मानव पिण्ड में स्वर्गगमन कैसे संभव हो सकता है? इसका समाधान यह है कि, दैवीजगत् के साथ मनुष्य का संबंध स्थापित होना और स्थूल शरीर रहते हुए मनुष्य का देवलोक में पहुँचना तभी संभव है, जब एक ओर देवपदधारिगण उसकी इच्छा करें और दूसरी ओर वह मानवपिण्डधारी जीव अपनी तपस्या के द्वारा उसका अधिकारी बन सके। ऐसे निमित्त को पाकर मानवपिण्ड के परमाणुओं में परिणाम होकर मनुष्य शरीर

धारी जीव का नैमित्तिक रूप से देवलोक में पहुँचना संभव है। जब तक ये दोनों बातें न हों, तब तक असंभव है। यही कारण है कि, आजकल ऐसी बातें देखने में नहीं आतीं।

देवलोक के राजा जो देशव्यापी राज्य के अधीश्वर होने से लोकपाल कहते हैं, उनका साक्षात् संबंध मानवपिण्ड में सब समय हो सकता है, यदि वह मानवपिण्ड उनके पीठ बनने के उपयोगी हो जाय। परंतु काल के राजा होने के कारण मनु का संबंध इस प्रकार से स्थापित नहीं हो सकता। इसी कारण राजा मनु का संबंध काल के संशोधन के संबंध से देखने में आता है, अन्यथा साधारण तौर पर देखने में नहीं आता। चतुर्दश भुवनों में त्रिलोक प्रधान है। यह प्रधानता ज्ञान औ आनंद की नहीं है, बल्कि कर्म और अनुशासन-व्यवस्था की है।

दैवी अनुशासन-व्यवस्था का प्रधान केन्द्र भूः भुवः स्वः ये तीन लोक हैं और ये ही त्रिलोक कहाते हैं। जब त्रिलोक की राजानुशासन व्यवस्था यथावत् रहती है, तब मनुष्यलोक में भी धर्म की सुश्रृंखला और ज्ञान की अभिवृद्धि बनी रहती है। जब देवताओं का प्रभाव ठीक रहने से असुरगण अपने ही लोकों में बने रहते हैं और देवलोक में उत्पात नहीं मचा सकते तथा अष्टलोकपाल अपनी-अपनी राजधानियों में रहकर अपने अधीनस्थ नाना देवताओं से दैवी कार्यों की यथावत् निष्पत्ति कराया करते हैं और ब्रह्माण्ड की देवीश्रृंखला को ठीक रखते हैं, तब हमारे इस मृत्युलोक में भी अतिवृष्टि-अनावृष्टि का प्रकोप, महामारी आदि की विपत्ति, धर्मत्याग की उच्छृङ्खलता और देश, काल, पात्र में अस्वाभाविक घटनावली नहीं होने पाती। काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष सबके अधिकार अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं। इन्द्रिय सुख को छोड़कर प्रजा ब्रह्मानन्द की ओर अग्रसर होती है और चारों ओर सुख और शान्ति विराजती रहती है। अतः प्राचीन आर्यों का यह स्थिर विश्वास था कि, देवलोक का राजनुशासन और मृत्युलोक का राजानुशासन एक सूत्र में सुकाल में ही आबद्ध रहता है। जब वह सूत्र दुर्बल हो जाता है, तो मृत्युलोक के राजा और प्रजा यथार्थ सुख से वञ्चिच हो जाते हैं और जब वह सूत्र छिन्न हो जाता है, तो महामारी, महायुद्ध आदि से उसको पवित्र किया जाता है। अथवा खण्ड प्रलय से उसकी मलिनता धो बहायी जाती है। यह प्राचीन आर्यों के देवलोक के राजानुशासन के साथ मनुष्यलोक के राजानुशासन के संबंध का संक्षिप्त रहस्य है और यही कारण है कि, प्राचीन आर्यों के राजानुशासन के साथ मनुष्यलोक के राजानुशासन के संबंध का संक्षिप्त रहस्य है और यही कारण है कि, प्राचीन आर्यों के राजनुशासन का विज्ञान वर्तमान राजनुशासन से विलक्षण है।

भारतद्वीप का प्राचीन राजधर्मविज्ञान बहुत ही सुदृढ़ दार्शनिक भित्ति पर स्थित

था। भारत के आर्यगण केवल लौकिक सुख को लक्ष्य करके राजनीति के नियम नहीं मानते थे। प्रकृति राज्य के अकाट्य नियमों को सामने रखकर उन्होंने राजधर्म विज्ञान का निर्णय किया था। उनका सिद्धांत यह था कि, यह संसार शक्ति का ही विकासरूप है। सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिरूपिणी महामाया दोनों में अभेद होने पर भी ब्रह्म तो केवल इस प्रपञ्चमय संसार के साक्षीरूप हैं और स्थूल एवं सूक्ष्म दृश्यरूपी यह जगत् शक्ति का ही विकास है। जिस प्रकार एक अतिक्षुद्र बटबीज में महान् वटवृक्ष शक्तिरूप से निहित रहता है और पुनः कालान्तर में पृथिवी की सहायता से उसी छोटे से वट-बीज से अतिबृहत् वटवृक्ष प्रकट हो ज़ाता है; ठीक उसी प्रकार सृष्टि के पूर्ववर्ती समष्टिसंस्काररूपी सृष्टिबीज से कालान्तर में जड़चेतनात्मक यह स्थूल-सूक्ष्म संसार प्रकट हुआ करता है। अंततः यह संसार शक्ति का ही विकासमात्र है।

स्थूल दृष्टि से जगत् प्रसविनी महाशक्ति की तीन दशाएँ अनुभव करने में आती हैं। एक आकर्षण और विकर्षण शक्ति की समता की दशा, दूसरी केवल आकर्षण की दशा और तीसरी केवल विकर्षण की दशा। इन तीनों दशाओं को उदाहरण की सहायता से समझाने का यत्न किया जाता है। अनंत-ग्रह उपग्रह से पूर्ण इस सौरजगत् के सूर्य्य, ग्रह और उपग्रह सबमें ही स्वतंत्र-स्वतंत्र रूप से आकर्षण शक्ति और विकर्ष शक्ति विद्यमान है। आकर्षण शक्ति दूसरे ग्रह-उपग्रह को अपनी ओर खींचती है और विकर्षण शक्ति दूसरों को अपनी ओर से दूसरी ओर फेंकने के लिए धक्का देती है। अपने-अपने अधिकार के अनुसार सूर्य, ग्रह और उपग्रह तीनों में ही ये दोनों शक्तियाँ नियमित रूप से कार्य कर रही हैं। जब तक आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्ति समान रूप से कार्य करती रहेगी, तब तक यथानियम घूमते रहेंगे, न एक-दूसरे से टकरावेंगे और न अपनी-अपनी कक्षा से बाहर जा सकेंगे। इस दशा में उन्हीं दोनों आकर्षण और विकर्षण शक्तियों की समता से सौर-जगत् की स्थिति बनी रहेगी और प्रलय नहीं होने पावेगा। दूसरी दशा केवल आकर्षण की है और तीसरी दशा केवल विकर्षण की है। जब ये शक्ति की पिछली दोनों दशाएँ प्रकट होने लगती हैं, तो आकर्षण की दशा में परमाणुपुश्च एकत्रित होकर सृष्टि उत्पन्न करते हैं। परंतु स्थिति का कार्य इस दशा में नहीं होता। इसी तरह केवल विकर्षण की दशा में ग्रह और उपग्रहगण अपने-अपने पथ को छोड़कर बाहर निकल जाते हैं और क्रमशः अनियम के कारण या तो आपस में टकराकर और नहीं तो दूसरे सौरजगत् के अधिकर में घुसकर प्रलय का कारण बनते हैं दूसरी ओर परमाणुपुश्च बिखरकर प्रलय कर डालते हैं। सोर जगत् के दृष्टान्त पर मनुष्य

समाज में इन दोनों शक्तियों का विकास और इन दोनों शक्तियों का कार्यक्रम उदाहरण द्वारा समझने योग्य है।

गुरु, माता पिता आदि गुरुजनों में श्रद्धा के द्वारा, स्त्री, पति, मित्र आदि में प्रेम के द्वारा, कन्या, शिष्य आदि में स्नेह और कृपा के द्वारा आकर्षण शक्ति का और शत्रु आदि में विरुद्ध मनोवृत्ति द्वारा विकर्षण शक्ति का विकास स्पष्ट रूप से प्रकट होता है; परंतु मनुष्य समाज की समता मनुष्य समाज में शान्ति और मनुष्य समाज की धर्मोन्नति तभी हो सकती है, जब इन दोनों विरुद्ध शक्तियों की समता मनूष्य समाज में बनी रहे। यदि आकर्षण और विकर्षण शक्तियों की समता बनी न रहती, तो मनुष्य समाज में माता, की और कन्या का भेद कभी नहीं बना रह सकता। यदि आकर्षण और विकर्षण इन दोनों शक्तियों की यथार्थ समता मनुष्य समाज में विद्यमान नहीं रहती, तो शिष्य में गुरुभक्ति और गुरु-सुश्रूषा के लक्षण, गुरु में शिष्य पर कृपा करने की प्रवृत्ति, पुत्र में माता-पिता पर श्रद्धा के सदाचार, माता-पिता में पुत्र-कन्याओं के साथ निःस्वार्थ स्नेह का व्यवहार, अपराधी के साथ राजा के न्याय का बर्ताव और शत्रु के साथ नीतिका व्यवहार कदापि इस संसार में दिखाई नहीं देता। अतः पूर्व कथित विचार से यह सिद्ध हुआ कि, आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्ति दोनों की अलग-अलग क्रिया इस संसार के स्थूल से स्थूल राज्य से लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्म राज्य तक समान रूप से विद्यमान है और जहाँ इन दोनों की समता है, वहीं सत्व गुण विद्यमान है और वहीं जगत् रक्षा का कारण भी विद्यमान है। जब कभी इन दोनों शक्तियों में से कोई एक शक्ति अधिक प्रबल हो जाती है, तब ही प्रलय होने लगता है। यदि दोनों शक्तियों की समता नष्ट होकर सौर-जगत् में कोई शक्ति अपनी प्रधानता को लेकर कार्य करने लगती है, तो उस सौर-जगत् का क्रमशः प्रलय हो जाता है। यदि दोनों शक्तियों की समता नष्ट होकर किसी गृहस्थ के स्त्री-पुरुषों में कोई एक शक्ति प्रबल होकर कार्य करने लगती है, तो उस गृहस्थ के स्त्री-पुरुष में से धर्माधर्मविचार नष्ट हो जाता और घर की शान्ति नष्ट हो जाती है। गृह की शान्ति का ज्वलन्त दृष्टान्त भारतवर्ष पारिवारिक संयुक्त-कुटुम्ब पद्धति है। जहाँ आकर्षण या विकर्षण दोनों में से एक ही शक्ति विद्यमान रहती है, कहाँ के स्त्री-पुरुष उच्छ्रङ्खल होकर कदाचारी और अनार्थ हो जाते हैं और यदि दोनों शक्तियों की समता नष्ट होकर किसी मनुष्य समाज अथवा किसी राजा के राज्य में कोई एक ही शक्ति प्रबल होकर कार्य करने लगता है, तो धर्म भाव के अभाव से वह मनुष्य समाज अथवा वह राज्य नष्ट भ्रष्ट हो जाता है।

राजधर्म और प्रजाधर्म में दोनों में ही इन दिनों शक्तियों की समता समान

रूप से विद्यमान रहनी चाहिये, नहीं तो राजा और प्रजा दोनों ही धर्महीन होकर नष्ट हो जायेंगे। फलतः प्राचीन राजधर्म विज्ञान में धर्ममूलक राजसत्ता और प्रजासत्ता दोनों का समान रूप से समावेश किया गया था ओर दोनों की अपने ढङ्ग पर स्वाधीनता भी रखी गयी थी। दूसरी और त्रिकालदर्शी, तपस्वी, केवल जगत् हित में रत ब्राह्मणों के द्वारा जो धर्मशास्त्र (कानून) बनाये जाते थे, उसी से मनुष्य समाज की राजनीति और समाज नीति दोनों उच्छ्ङ्खल होने नहीं पाते थे। निःस्वार्थ व्रतधारी, विद्वान, दूरदर्शी ब्राह्मणों का जब राज-ऐश्वर्य से कोई संबंध ही नहीं था और जब उनकी वृत्ति इन्द्रियसुख से विमुख ही रहती थी, तो उनमें स्वार्थपरता का कलंक न आने से उनके द्वारा जो समाजरक्षक और राजरक्षक कानून बनते थे, उनमें पक्षपात की सम्भावना नहीं रहती थी और दैवीजगत् से उनके अंतःकरण की तंत्री एक स्वर में मिली रहने के कारण उसमें भ्रम-प्रमाद की संभावना नहीं रहती थीं। वे जो कुछ करते थे, वह दैवी जगत की प्रेरणा से ही करते थे। अतः जहाँ पक्षपात, स्वार्थ और अहंकार नहीं है और शुद्ध आत्म ज्ञानमूलक चेष्टा है, उस केन्द्र से चालित होने से राजा और प्रजा दोनों ही निर्भय और अपने-अपने ढंग पर स्वाधीन होकर परस्पर को सहायता देते हुए मनुष्य समाज की श्रृंखला को विशुद्ध और शान्तिमय रखा करते थे। जब से कालप्रभाव के कारण ब्राह्मणों की दशा दुर्बल हो गयी, तब से भारत की राजनीति और समाजनीति भी दुर्बल हो गयी।

पूज्यपाद महर्षिगण अपने योगयुक्त अंतःकरण से सदा दैवीजगत से संबंधयुक्त रहने के कारण उनके हृदय में विशुद्ध दैवी प्रेरणा हुआ करती थी। उसी के द्वारा भ्रमरहित धर्मशास्त्र प्रकाशित होते थे। दैवीजगत् के साथ इस मृत्युलोक का घनिष्ट संबंध बना रहने के कारण सब तरह से दैवी सहायता भी उस समय सुगम थी, इसका प्रमाण पुराण शास्त्र में भली-भांति मिलता है। यहाँ तक कि, उस समय के राजवंशों की जो वंशावली पुराणों में मिलती है, उससे ही सिद्ध होती है कि, देवलोक के राजाओं के साथ इस मृतयुलोक के राजाओं का वंश संबंध मिलता-जुलता था। सुतरां एक ओर निष्कामव्रतधारी विषय रागरहित तपस्वी ब्राह्मणों के द्वारा परिचालित और दूसरी ओर दैवीजगत के देवपदधारियों के द्वारा सुरक्षित होने से और उनकी शिक्षा आत्मसंयममूलक होने से प्राचीन कल के भारतद्वीप वासी राजन्मार्ग निरंकुश और विपथगमी होने नहीं पाते थे।

इसी प्रकार से पूज्यपाद महर्षियों के द्वारा परिचालित और दैवीजगत पर पूर्ण विश्वास रखने वाली आस्तिक और श्रद्धालु प्रजा वर्णाश्रम की पवित्र शृंखला से ऐसी जकड़ी रहती थी कि, न वह अपवित्र होकर उच्छ्ङ्खल हो सकती थी और न स्वाधीनचेता होकर राजभक्ति से रहित ही हो सकती थी। इसी कारण पूर्वकथित राजसिक और

तामसिक शक्ति का कुप्रभाव न राजा पर और न प्रजा पर ही पड़ सकता था। राजा और प्रजा दोनें पिता पुत्र के समान एक गृहस्थ के रूप में अपने जीवन-पथ में अग्रसर होते हुए विद्याशक्ति, धनशक्ति, बल और बुद्धि से युक्त होकर निरंतर धर्ममार्ग पर चलते रहते थे।

पूज्यपाद महर्षियों ने राजानुशासन को दो शक्तियों के द्वारा सुरक्षित किया था। एक राजदण्ड, दूसरी समाज दण्ड। राजा का राजतंत्रवाद और प्रजा का प्रजातंत्रवाद दोनों एक-दूसरे के सहायक बने रहते थे। राजन्यगण पूज्यपाद महर्षियों के बनाये हुए शास्त्रों के द्वारा परिचालित होकर राजदण्ड द्वारा प्रजा की पवित्रता की रक्षा करते थे और प्रजावर्ग भी उन्हीं शास्त्रों के द्वारा परिचालित होकर अपने-अपने गृहों में प्रजातंत्रवाद की पञ्चायती शक्ति उत्पन्न करके समाज की पवित्रता और समाज के स्वास्थ्य की रक्षा किया करते थे। इस सुव्यवस्था के द्वारा न राजा ही निरंकुश होकर स्वेच्छाचारी बन जाते थे, न प्रजा ही निरंकुश होकर राजा से विमुख हो सकती थी। यही प्राचीन राजानुशासन का रहस्य था और यही राजशक्ति और प्रजा शक्ति का समन्वय था।

भारतद्वीप के राजन्यवर्ग और प्रजावर्ग की रीति-नीति और जीवनयात्रा की पर्यालोचना पुराणा शास्त्र के पाठ करने से भली-भांति हो सकती है। वर्तमान समय के 'हिस्ट्री' नामक इतिहास के ढङ्ग पर उस समय इतिहास लिखने की शैली प्रचलित नहीं थी और न हो सकती थी। पूज्यपाद महर्षियों का यह सिद्धांत था कि, जब काल अनन्त है, जब काल के अङ्गविशेष रूपी सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग, कलियुग तथा मन्वन्तर और कल्प आदि बराबर होते रहते हैं और कालचक्र घूमता ही रहता है, तो लौकिक इतिहास का लिखना व्यर्थ है। दूसरी ओर काल अनंत होने के कारण ऐसे इतिहासों का लिखना व्यर्थ ही नहीं, असंभव भी है। एक ही युग के इतिहास का लिखना जब संभव नहीं, तब युगयुगान्तर और कल्पकपान्तर का इतिहास कैसे लिखा जा सकता है? इन्हीं अलङ्घनीय कारणों से प्राचीन भारतद्वीपवासी बुधजन ने लौकिक इतिहास लिखने की शैली को एक बार ही छोड़कर राजा और प्रजा दोनों की सत्-शिक्षा के अभिप्राय में जिन-जिन गाथाओं, जिन-जिन चरित्रों और जिन-जिन चरित्रों और जिन-जिन घटनावलियों को प्रकाशित करना आवश्यक समझा, वे सब कल्पकल्पान्तर की होने पर भी, उनको यथावश्यक मार्कण्डेय, भागवत आदि पुराण शास्त्रों और रामायण, महाभारत आदि इतिहास शास्त्रों में प्रकाशित किया था। यही कारण है कि, महाभारत से पूर्व का यहाँ तक कि, बौद्ध युग के पूर्व का, लौकिक इतिहास उपलब्ध ही नहीं होता।

प्राचीन भारतद्वीप की राजशासन प्रणाली और समाज संघटन प्रणाली तथा उस

समय की राजदण्ड प्रणाली और समाज दण्ड प्रणाली की पर्यालोचना करके वर्तमान समय के भारतवर्ष अर्थात् दुनिया की राजशासन प्रणाली और समाज-संघटन प्रणाली की तुलनात्मक पर्यालोचना करने पर दिन और रात का सा अंतर देखने में आता है। दोनों की पर्यालोचना करके तदनन्तर प्राचीन भारतद्वीप के राजानुशासन विज्ञान को समझने की चेष्टा करने पर दूरदर्शिता का मार्ग दिखायी दे सकता है।

वर्तमान समय की राजनीति और समाजनीति जो जगत् भर में प्रचलित हो रही है, उसका बीजारोपण रोमन साम्राज्य के समय में हुआ था। उच्छृङ्खलतामय प्रजातंत्रवाद, लोकमतप्रधान कानून बनाने की रीति, स्त्रियों और पुरुषों की सामाजिक स्वतंत्रता, राजभक्ति की हीनता, राजा की आवश्यकता और अनावश्यकता के विषय में उदासीनता, लोकमत के निर्णय करने में किसी धर्म अथवा धार्मिक की अनावश्यकता इत्यादि सिद्धांत प्रतापशाली रोमन साम्राज्य से ही चलाये गये हैं। राजा को नष्ट कर केवल प्रजा के अधिकार से प्रजातंत्र के स्थानपन करने की रीति रोमन साम्राज्य से ही चली है। धर्म और अन्तर्दष्टि को छोड़कर केवल लोकमत को देखकर कानून बनाने की रीति उसी समय से चली थी। स्त्रियों और पुरुषों का उस समय सामाजिक स्वातन्त्र्य इतना बढ़ गया था कि, पुरुषों की तो बात ही क्या है, राजमहिलाएँ भी अर्थलोभ से जो चाहतीं, सब कुछ कर लेती थीं। राजा के प्रति जो धार्मिक दृष्टि से एक विशेष प्रकार की भक्ति की रीति जगत् में प्रचलित थी, उसका समूल उच्छेद उसी समय हुआ था। राजशासन प्रणाली में राजा की आवश्यकता है ही नहीं, इस प्रथा का बीजारोपण उसी समय हुआ था। उसका क्रमपरिणाम अब रूस राज्य में प्रकट होने लगा है। रोमन साम्राज्य के अनन्तर राजतंत्र, प्रजातंत्र दोनों राजशासन प्रणालियों का घात प्रतिघात होता रहा। उससे कई प्रकार की राजशासन प्रणालियाँ वर्तमान जगत में बन गयीं। राजा को किसी राज्य की केन्द्रशक्ति मानना न मानना लोगों की इच्छा पर निर्भर हो गया। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि, राजतंत्र प्रणाली सबसे श्रेष्ठ है। परंतु राजा यदि धार्मिक, कर्तव्यपरायण, निर्लोभ और अन्तर्दृष्टि सम्पन्न हो, तभी राजशासन प्रणाली में सामाजिक उत्कृष्ट प्रणाली शृंखला और राजनीतिक शृंखला की पूर्णता हो नहीं सकती; क्योंकि केन्द्रीभूत शक्ति के अभाव से प्रजा का कालांतर में उच्छृंखल हो जाना स्वाभाविक है और सब मनुष्यों में एक प्रकार की आध्यात्मिक बुद्धि न होने से पंचायती विचार में ज्ञानराज्य की पूर्णता का विकास होना असंभव है। फलतः वर्तमान जगत में प्रजा की उच्छ्रङ्खलता दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई ही दिखायी दे रही है। इसके स्वाभाविक विषमय फल से मनुष्य समाज इन्द्रियलोलुप, विषयी, स्वार्थी तथा आध्यात्मिक लक्ष्य शून्य होता जाता

है और पूर्व कथित आकर्षण और विकर्षण शक्ति के सामंजस्य के प्रभाव से प्रजा दिन-प्रतिदिन लक्ष्य-भ्रष्ट और निरंकुश होती जाती है। साथ-ही-साथ राजा का भी उच्च आदर्श वर्तमान जगत से नष्ट होता जाता है।

अब राजधर्म और प्रजाधर्म को सुरक्षित करने के अर्थ आज-तक जितने प्रकार की राज्य शासन-प्रणालियाँ और राजनीतियाँ संसार में प्रचलित हुई हैं, उन पर कुछ प्रकाश डालना उचित होगा। संसार में इस समय निम्नलिखित राज्यशासन प्रणालियाँ प्रचलित हैं—(क) प्रजातंत्र राज्य शासन प्रणाली (Republicatn form of Government) (ख) वर्त्तमान युरोपीय राजतंत्र राज्यशासन प्रणाली (Limited monorchy), (ग) स्वेच्छाचारी राजतंत्र राज्यशासन प्रणाली (Despitic Monirchy), (घ) स्वेछाचारी प्रजातंत्र राज्यशासन प्रणाली, जो आजकल रूस में प्रचलित हुई है और (ङ) हिंदुओं की प्राचीन राजप्रजातंत्र राज्यशासन प्रणाली। इन पांचों के लक्षण ये हैं—प्रजातंत्र राज्यशासन प्रणाली के अनुसार प्रजा ही राजा और प्रजा दोनों का कार्य करती है; उसमें राजा का नाममात्र नहीं रहता। उसके नियमानुसार प्रजा ही अपनी प्रतिनिधि सभा नियत करती है। प्रतिनिधि सभा के चुनाव में उच्च नीच सभा एक नियमित समय के लिये प्रधान सभापति रूप से प्रेसिडेण्ट चुन लिया करती है। वही प्रेसिडेण्ट उसी नियमित समय के लिये राजा के कुछ अधिकार प्राप्त कर लेता है। प्रजा ही प्रतिनिधि सभा के द्वारा अपने राज्य के राजकीय नियम (राजानुशासन की नियमावली) अर्थात् कानून निर्माण कराती है। इस राज्यशासन प्रणाली के अनुसार यदि राजनैतिक योग्यता हो, तो प्रजा का एक अति निकृष्ट मनुष्य ही उन्नति करता हुआ कालांतर में उस प्रजातंत्र राज्य का प्रेसिडेण्ट बन सकता है। यद्यपि इस प्रजातंत्र राज्य शासन प्रणाली के अनुसार कोई भी स्थायी राज्यपद नहीं प्राप्त कर सकता, स्थायी राजा बनने की कोई इच्छा भी करे, तो वह राजद्रोही समझा जाता है, परंतु प्रजा की शक्ति को नियमबद्ध करने के लिये कई उपाय रखे गये हैं। प्रथम तो प्रेसिडेण्ट को ही कुछ वर्षों के लिये सर्वप्रधान शक्ति राजशक्ति रूप से प्रदान की गयी है। दूसरे, मंत्रि समाज-संघटन, निम्न-प्रतिनिधि सभा और उच्च-प्रतिनिधि सभा-संघटन—इन तीनों के अधिकार भी ऐसे रखे गये हैं, जिससे प्रजा उच्छ्रङ्खल न हो सके। प्रकारान्तर से इस प्रजातंत्र राज्यशासन प्रणाली में राजा के अधिकारों को भी रखा गया है और प्रजा को उच्छ्रङ्खल होने से बचाया गया है। इस प्रकार से प्रजा को सब प्रकार का अधिकार देने पर भी राजा और प्रजा दोनों के पद की असीम शक्ति को समीम बद्ध करके आकर्पण और विकर्षण शक्ति की यथासम्भव समता स्थापन करते हुए राज्यरक्षा की एक नयी प्रणाली बनाने की चेष्टा की गयी है। दूसरी, वर्तमान यूरोपीय राजतंत्र राज्यशासन प्रणाली में राजा का सम्मान रखा गया है। इस राज्य शासन

प्रणाली के अनुसार प्राचीन राज्यकुल का ही एक व्यक्ति अपने कुलपरंपरागत नियम के अनुसार राजा होता है और जीवनपर्यन्त राजा रहता है। परंतु उसके अधिकार और क्षमता प्रायः उतनी ही होती है, जितनी प्रजातंत्र राज्यशासन प्रणाली के प्रेसिडेण्ट की हुआ करती है। मंत्रि समाज संघटन, निम्न-प्रतिनिधि सभा और उच्च-प्रतिनिधिसभा-संघटन प्रणाली, सभी प्रायः वैसी ही होती है, जैसी प्रजातंत्र राज्यशासन प्रणाली में होती है। केवल राजभक्ति का अंश इस राज्यशासन प्रणाली में राजाज्ञा द्वारा स्थायी रखा जाता है। इस राज्यशासन प्रणाली में राजा सम्मान के विचार से सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। और शक्ति के विचार से प्रजा के हाथ में ही सब कुछ होता है और दोनों के अधिकार विभक्त रहते हैं। उदाहरणास्थल पर समझ सकते हैं कि, कानून बनाने का अधिकार प्रजा की प्रतिनिधि सभा के हाथ में रहने पर भी उस कानून को स्वीकार करने का अधिकार राजा को रहता है। उसी प्रकार युद्धाज्ञा प्रचार की क्षमता और और सेना को युद्ध में नियुक्त करने का अधिकार राजा के हाथ में रहने पर भी धन व्यय करने का अधिकार प्रजा के हाथ में रहता है। इस प्रकार से राजा और प्रजा दोनों की उच्छ्रंङ्खलता को नियमबद्ध प्रणाली से रोकने का प्रबन्ध रखकर आकर्षण और विकर्षण शक्ति की समता स्थापन करने का प्रयत्न किया गया है। तीसरी, स्वेच्छाचारी-राजतंत्र राज्यशासन प्रणाली, जो कि बौद्ध राजाओं के समय से प्रचलित हुई थी, जिसका नमूना अभी तक तुर्क देश और चीन देश में उपस्थित था और जो रीति अभी तक भारत के देशी राज्यों में भी कहीं-कहीं प्रचलित है, उसका पूरा नमूना हिंदुस्थान के पठान और मुगल सम्राटों के राज्य में प्रकट हुआ था। इस स्वेच्छाचारी राजतंत्र राज्यशासन प्रणाली के अनुसार राजा ही सब कुछ समझा जाता है। राजा की निरंकुशता का दमन करने के लिये प्रजा के निकट कोई बल नहीं रहता। राजा की राजाज्ञा ही कानून है और राजा की राजाज्ञा ही धर्म है। इस राज्यशासन प्रणाली राजधर्म में और प्रजाधर्म में आकर्षण और विकर्षण शक्ति की समता स्थापन करने या न करने का अधिकार एकमात्र राजा की इच्छा पर निर्भर करता है। चौथी, स्वेच्छाचारी प्रजातंत्र राज्यशासन प्रणाली का नमूना इस समय रूसराज्य में प्रकट हुआ है। इसमें छोटा-बड़ा, स्त्री-पुरुष, विद्वान्, मूर्ख धनी दरिद्र सबको ही समान अधिकार दिया गया है। राज्य की सब भूमि तथा ऐश्वर्य पंचायती समझा जाता है। लोकमत की अधिकता पर सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक सब नियम बनना निर्भर रहता है। प्रजा की उच्छ्रङ्खलता की पराकाष्ठा होने का पूरा अवसर इस प्रणाली में सब प्रकार से रखा गया है और आकर्ष्मण-विकर्षण की उभय शक्तियों के समन्वय का कोई भी प्रयत्न इस प्रणाली में आवश्यक नहीं समझा गया है। पांचवीं, भारतद्वीपवासियों की प्राचीन राज प्रजातंत्र

राज्यशासन प्रणाली है। वह इन पूर्वकथित चारों से कुछ विलक्षण थी, जैसा कि ऊपर दिग्दर्शन कराया गया है। भारतद्वीपवासियों की इस प्राचीन राजतंत्र राज्यशासन प्रणाली में एकमात्र धर्म ही अनुशासन रूप से राजधर्म और प्रजाधर्म दोनों के अधिकारों को विभक्त करके आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्ति की समता स्थापना करता है।

पूर्वकथित पांच प्रकार की राज्यशासन प्रणालियों में राजा और प्रजा का जिस प्रकार संबंध बाँधा गया है, उन सब नियमों को भलीभाँति अन्वयव्यतिरेक के साथ विचार करने से यह सिद्धांत होगा कि, स्वेच्छाचारी राज्यतंत्र राज्य शासन प्रणाली जिसका उदाहरण प्राचीन तुर्क और चीन साम्राज्य था, उसमें एकमात्र राजा को ही पूर्ण शक्तिमान् बनाया गया है। उसी प्रकार सावधानता के साथ विचार करने से यह सिद्धांत होगा कि, प्रजातंत्र राज्यशासन प्रणाली–जिसके उदाहरण यूरोपीय फ्रांस राज्य और अमेरिका के राज्य हैं, उसमें एकमात्र प्रजा को ही सर्वशक्तिमान् बनाया गया है। इन दोनों राज्य शासन प्रणालियों में से प्रथम में तो राजा की ओर और दूसरी में प्रजा की ओर आकर्षण शक्ति झुकी हुई है। यद्यपि इन दोनों में से प्रथम में एकमात्र राजा चाहे, तो आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्ति की समता अपने सद्विचार के द्वारा स्थापित कर सकता है और दूसरी प्रणाली में यदि प्रजा चाहे, तो आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्ति की समता अपने सद्विचार के द्वारा स्थापित कर सकती है; यथापि दोनों ही अपने-अपने अधिकार के अनुसार पूर्ण शक्तिमान होने के कारण यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि, राजा या प्रजा दोनों सदा के लिये सद्विचारवान तथा निरपेक्ष रहेंगे। अतः इन दोनों राज्यशासन प्रणालियों में प्रमाद बढ़कर राज्यविप्लव और आकर्षण शक्ति तथा विकर्षण शक्ति की समता नष्ट होकर राज्य के नष्ट-भ्रष्ट होने की पूर्ण संभावना रहती है। पृथ्वी के नाना देशों के इतिहास से स्पष्ट ही प्रतीत होगा कि, जिन-जिन देशों में जब-जब स्वेच्छाचारी राजतंत्र राज्य शासन प्रणाली प्रचलित रही, उस समय में जब तक उक्त राज्यकुल में धर्मभीरु प्रजापालक संयमी और न्यायवान् राजा उत्पन्न होते रहे, तभी तक उक्त राज्यों में आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्ति की समता रहकर विद्या, बल, धन और धर्म सब कुछ बना रहा। राजवंश में पूर्वकथित गुणों का नाश होते ही वह राज्य नष्टभ्रष्ट हो गया। यदि हिंदुस्थान के इतिहास पाठक पठान और मुगल साम्राज्य की प्रथम स्थिति, मध्यम स्थिति और अंतिम स्थिति पर विचार करेंगे, तो वे इस वैज्ञानिक सिद्धांत की सत्यता को भली-भांति समझ सकेंगे। इसी प्रकार पृथ्वी के नाना देशों और विशेषतः यूरोपीय देशों के इतिहास पाठकों को स्पष्ट ही प्रतीत होगा कि, जबतक किसी प्रजातंत्र राज्य में प्रजा धार्मिक, न्यायवान्, विद्वान् और नीतिज्ञ बनी रहती है, तभी तक उक्त प्रजातंत्र राज्य में आकर्षण शकित और विकर्षण

शक्ति की समता यथासंभव स्थापित रहकर उस देश में विद्या, बल, धन और धर्म की स्थिति बनी रहती है। प्रजातंत्र राज्य शासन प्रणाली बहुत प्राचीन नहीं है। यही कहा जा सकता है कि, यह प्रणाली यूरोपीय रोम-साम्राज्य से ही निकली हुई है। प्राचीन भारतद्वीप की राजानुशासन व्यवस्था में प्रजातंत्र के अनुशसन की व्यवस्था सम्मिलित थी। इसी कारण राजदण्ड और समाजदण्ड दो अलग-अलग विधानों की शैली अतिप्राचीन काल से भारतद्वीप में चली आयी है। प्राचीनकाल की अनुशासन व्यवस्था में राजा अपराधी को राजदण्ड द्वारा जिस प्रकार संशोधित करता था, उसी प्रकार प्रजा अपनी प्रजातंत्र व्यवस्था से अपराधी को सामाजिक पञ्चायत द्वारा समाजदण्ड की सहायता से पवित्र कर लिया करती थीं। उस समय राजतंत्र व्यवस्था और प्रजातंत्र व्यवस्था दोनों साथ ही मिलकर प्रजा को धर्मानुकूल पथ पर चलाने में सहायता किया करती थी। वर्तमान समय की तरह एक बार ही राजा का संबंध छोड़कर जो प्रजातंत्र व्यवस्था चली है, यह सर्वथा नवीन है। अभी तक जिस प्रकार स्वेच्छाचारी राजतंत्र राज्य शासन प्रणाली के दोष पृथ्वी के इतिहास ने बार-बार प्रमाणित करके दिखाये हैं, उस प्रकार पृथवी के इतिहास को अभी तक इस प्रजातंत्र राज्य शासन प्रणाली के दोषों को सिद्ध करके दिखलाने का अवसर नहीं मिला। परंतु इतिहास में इस पूर्व कथित वैज्ञानिक सिद्धांत की पुष्टि में कोई प्रमाण ही नहीं मिल सकता, यह बात नहीं है यूरोपीय रोमन-साम्राज्य के इतिहास को जिन्होंने भलीभांति पाठ किया है, वे स्पष्ट ही जान सकेंगे कि, इस प्रकार से प्रथम रोम-राज्य में प्रजातंत्र राज्य शासन प्रणाली की सृष्टि हई और जब रोमन-साम्राज्य की प्रजा घोर विलासी, निरंकुश, नीतित्यागी और अधार्मिक बन गयी, तो अपने आप ही रोमन प्रजातंत्र महाशक्तिशाली राज्य का ही नहीं, किंतु उस रोमन जाति का नाश हो गया। आज दिन यूरोप के उस इटाली देश में, जहाँ रोमन-साम्राज्य का केन्द्र था, जो अब नयी इटालियन जाति बनी है, उस जाति से प्राचीन रोमन जाति का कोई साक्षात् संबंध नहीं रहा है। वर्तमान यूरोप के राजनीति तरङ्गों के घात-प्रतिघात से इटाली देश में वर्तमान इटालियन जाति ने थोड़ी ही शताब्दियों से जन्म लिया है। अतः स्वेच्छाचारी राजतंत्र राज्य शासन प्रणाली और प्रजातंत्र राज्य शासन प्रणाली दोनों में स्वभावतः आकर्षण शक्ति और विकर्ष शक्ति की समता स्थापित रहने के लिये चिरस्थायी अवसर पर न रहने के कारण दोनों राज्यशासन प्रणालियाँ भयरहित नहीं हैं। तीसरी अर्थात् स्वेच्छाचारी प्रजातंत्र राज्य शासन प्रणाली,—जिसका ढंग अब यूरोप के रूप राज्य में चलने लगा है, वह तो आकर्षण शील शक्ति और विकर्षण शक्ति दोनों को अति दुर्बल करने वाली है और प्रजा तथा राष्ट्र दोनों का इससे पतन होना अवश्यंभावी है।

वर्तमान ब्रिटिश राजतंत्र राज्य शासन प्रणाली (Limited monoarchy) और हिंदुओं की प्राचीन राजतंत्र राज्य शासन प्रणाली, दोनों कुछ अंश में एक ही जाति की राज्य शासन प्रणालियाँ हैं, ऐसा समझा जा सकता है। वर्तमान ब्रिटिश राजतंत्र राज्य शासन प्रणाली में प्रत्येक प्रजा को अपने राजा की भक्ति होने पर भी राजा के अनुशासन कार्य को नियमबद्ध करने के अर्थ अपने देश के प्रतिनिधि सभा संघटन करने में पूर्ण अधिकार प्राप्त रहता है। प्रत्येक प्रजा स्वतंत्र स्वतंत्र सम्मति देती है और सब प्रजा की समवेत सम्मति के मताधिक्य के विचार से उस राज्य की प्रतिनिधि सभा का चुनाव होता है। ब्रिटिश राज्यशासन शृंखला में दूसरी जो बड़ी प्रतिनिधि सभा है, उसमें केवल ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्तियों का चुनाव होता है कि, जो वंशानुगत रीति पर राजसन्मान के अधिकारी हैं। इस शैली से जन्मगत और वंशानुगत मर्यादा की भी प्रतिष्ठा रखी गई है। ब्रिटिश जाति के राजशासन में यह मर्यादा हिन्दुस्थान के कारण ही सुरक्षित है, ऐसा ऐतिहासिकों का मत है। प्रजा की उक्त दोनों प्रतिनिधि सभाएँ राजानुशासन की व्यवस्था करती हैं। इन्हीं में से मंत्रिसमाज का संघटन होकर राज्यकाग्र चलाया जाता है। अतः इस राजानुशासयन शैली में राज भक्ति, वंशानुगत मर्यादा आदि के साथ-ही-साथ प्रजा की यथेष्ट शक्ति विद्यमान है और राजशक्ति और प्रजाशक्ति दोनों में आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्ति की समता चिरस्थायी रखने के लिये बहुत कुछ बाहरी यत्न किया गया है। धर्म के सहारे से ये बातें हिंदुओं की प्राचीन राजतंत्र राज्य शासन प्रणाली में स्वाभाविक रीति से उपस्थित थी। शास्त्रों के पाठ करने से सबको भलीभांति प्रतीत हो सकेगा कि, हिन्दुओं की ग्रामपंचायत प्रणाली, नगर-प्रान्त-जनपद-आदि की पंचायती व्यवस्था और सम्राट् के मंत्रि समाज-संघटन की व्यवस्था में आकर्षण और विकर्षण शक्ति की समता की व्यवस्था पूर्णरीत्या रखी गयी है। राजा को साक्षात् भगवान का अवतार मानने की रीति जिस प्रकार हिंदुशास्त्र में है, वैसी पृथ्वी के अन्य किसी देश के किसी शास्त्र में नहीं पायी जाती। ऐसा मानना किस प्रकार दैवी सहायता से संभव है, यह पहिले सिद्ध किया गया है। राजा को भी प्रजा के लिये स्वार्थ त्याग करने की ओर प्रजा को अपने पुत्रवत् प्रतिपालन करने की जिस प्रकार की आज्ञा हिंदूधर्म शास्त्र में पायी जाती है, वैसी प्रबल आज्ञा ओर कहीं नहीं पायी जाती। एक ओर प्रजा में राजभक्ति की पूर्णता और दूसी ओर राजा में प्रजावात्सल्य की पूर्णता हिन्दूशास्त्र में अतुलनीय है। पारिवारिक सदाचाररूपी धर्म में एक गृहस्वामी ही हिंदूशास्त्र के अनुसार एक छोटा सा राजा समझा गया है। प्रथम तो प्रजा का पारिवारिक सुप्रबंध ही व्यष्टि रूप से राज्य को सुरक्षित करता है। इस प्रकार धर्मरज्जु से बंधा हुआ पारिवारिक अनुशासन पृथ्वी की किसी जाति में विद्यमान नहीं है। द्वितीयतः हिंदू

समाज के सामाजिक नेताओं के मानने के सदाचार हिंदू समाज से शास्त्र द्वारा संरक्षित हैं। क्योंकि ज्ञानबृद्ध, तपोवृद्ध, शीलबृद्ध, पर्यायबृद्ध, वयोबृद्ध आदि कई प्रकार के बृद्धों की पूजा शास्त्रों में विहित है। उक्त दोनों व्यवस्थाओं के द्वारा राजानुशासनप्रणाली में स्वतः ही बड़ी भारी सहायता मिलती है। प्रवृत्तिरोधक वर्ण-धर्म और निवृत्ति-पोषक आश्रम धर्म, दोनों का प्राचीन आर्य जाति के साथ जो घनष्टि संबंध है, उसके द्वारा एक वर्ण अन्य वर्ण का, एक आश्रम अन्य आश्रम का पोषण करता हुआ समाज और राज्य को पूर्णरूप से आकर्षण शक्ति और विकर्षणा शक्ति की समता स्थापन करने में सहायता करता है। वर्णधर्म और आश्रमधर्म की शैली ऐसी अपूर्व और दैवीविज्ञान से जकड़ी हुई है कि, इसके द्वारा स्वतः ही न प्रजा अपनी मर्यादा को छोड़ सकती है और न राजा अपनी मर्यादा को छोड़ सकता है। वर्णगुरु ब्राह्मण जिस प्रकार वर्ण को नियमबद्ध रखते हैं, उसी प्रकार आश्रमगुरु संन्यासी अपने आध्यात्मिक उपदेश द्वारा वर्ण और आश्रम दोनों में किसी प्रकार का विप्लव होने नहीं देते और ये दोनों वर्ण और आश्रम की विभूतियाँ राजा को अपने राजधर्म से कदापि निरंकुश नहीं होने देती। साथ-ही-साथ ये दोनों प्रजा को अपने धर्मपालन कराने के लिये स्वतः ही भार प्राप्त हैं। राजा की दिनचर्या, राजा का आचार, राजा का प्रजा पालन, राजा की मंत्रि-समाज-संघटन-प्रणाली, राजा की राजनीति, राजा की युद्धनीति और राजा की धर्मनीति आदि जिस प्रकार वेद और शास्त्र के द्वारा सुदृढ़ और सुरक्षित कर दी गयी हैं, उसके द्वारा आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्ति की समता स्थापन में कभी विप्लव हो ही नहीं सकता। वर्तमान ब्रिटिश-राजतंत्र राज्यशासन प्रणाली और प्राचीन हिंदु राजतंत्र राज्यशासन प्रणाली, दोनों में विलक्षणता इतनी ही है कि ब्रिटिश-राजतंत्र राज्यशासन प्रणाली में केवल प्रजाशक्ति अपने विचार के फलको राजा मुख से कहलवाकर आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्ति समता चिरस्थायी रखने का यत्न करती है और प्राचीन हिंदू राजतंत्र राज्य शासन प्रणाली में पूर्वकथित सब सिद्धांत वेदाज्ञारूप से धर्मशास्त्रद्वारा धर्मत्वरूपेण जकड़े हुए थे। यूरोपीय राजतंत्र राज्य शासन प्रणाली मानवीय विचारानुसार परिवर्तनशील है; परंतु प्राचीन भारतद्वीप की राजतंत्र राज्य शासन प्रणाली के नियम अपरिवर्तनीय और चिरस्थायी थे। यद्यपि उक्त पश्चिमी राजानुशासन प्रणाली केवल राजनीति की भित्ति पर स्थित है और भारतद्वीप की राजानुशासनप्रणाली केवल धर्मनीति की भित्ति पर स्थित थी; तथापि दोनों में कुछ सादृश्य विद्यमान है, ऐसा यदि माना जाय, तो कोई हानि नहीं है।

दैवी जगत् पर विश्वास रखने वाले और दैवीजगत् प विश्वास न रखने वाले दोनों के सिद्धांतों में बड़ा भारी अंतर है। इस कारण शंका-समाधान के लिये कहा

जाता है कि, वर्तमान दैवी राज्य पर श्रद्धा न रखने वाले युग में जो युद्धनीति बरती जाती है, या जो विचार नीति का, आश्रय कर न्याय किया जाता है इन सब कार्यों में दैवीजगत् पर श्रद्धाहीन व्यक्तियों के सिद्धांतानुसार चाहे कुछ ही समझा जाये, परंतु भारतद्वीप के प्राचीन सम्प्रदाय के आस्तिक व्यक्तियों का यही स्थिर विश्वास है कि, जहाँ कहीं लोकक्षय अथवा लोक मङ्गलकर विग्रह या सन्धि होती रहती है अथवा जहाँ कहीं न्यायालय में अनुकूल और प्रतिकूल न्याय दिखायी देता है, सबके मूल में दैवीप्रेरणा विद्यमान है। वह प्रेरणा जिम्मेवार व्यक्तियों और पदधारियों के मनोमयकोष के आश्रय से हुआ करती है। वेदोक्त दार्शनिक सिद्धांत यह है कि, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय, ये पांचों कोष सर्वव्यापक हैं। देवताओं में और देवपदधारियों में तथा मनुष्यों में और मनुष्यपदधारियों में, सब में पांचों कोष व्यापक हैं। जहाँ-जहाँ जिस प्रकार का पिण्ड है, वहाँ-वहाँ पंचकोषों की शक्ति में तारतम्य होता है। देवताओं की दैवीशक्ति के अनुसार उनके मनोमय कोष से प्रेरणा उत्पन्न होकर मनुष्य लोक के व्यक्तियों के अंतःकरणों में प्रेरणा उत्पन्न होकर मनुष्य लोक के व्यक्तियों के अन्तःकरणों में वह प्रेरणा कार्यकारिणी हो जाया करती है और उसी के अनुसार विवश होकर दैवीराज्य पर अनास्था रखने वाले व्यक्ति भी दैवी इच्छा के अनुसार ही कार्य कर डालते हैं।

वर्तमान जगत् के आचार और विचारों की उच्छ्रंखलता, उसकी केवल बहर्मुिख प्रवृत्ति उसकी इन्द्रियसुखेच्छा, उसकी ईश्वरज्ञानविहीनशिक्षा प्रणाली, उसके धर्म-मोक्ष के विचारों को छोड़, केवल अर्थ और काम के लिये तृष्णा, इत्यादि कारणों में उसकी धार्मिक और सामाजिक उच्छ्रंङ्खलता के साथ-ही-साथ राजनीतिक उच्छ्रंङ्खलता भी दिन-दिन चारों ओर दिखायी पड़ती है। इस समय ब्रिटिश साम्राज्य में जो सुनियंतित्र राजतंत्रशासनप्रणाली अभी तक प्रचलित है, वैसा दृष्टांत अब सिवा एशिया खण्ड के जापान देश के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं दीख पड़ती। ऐतिहासिकों का मत है कि, बृद्ध ब्रिटिश जाति की शिक्षाग्रहण करके ही युवक जापान उन्नत हुआ है। इस अपेक्षाकृत उत्तम राज्यशासन प्रणाली का प्रायः वर्तमान जगत् से लोप ही होता जा रहा है।

इस मृत्युलोकरूपी भारतवर्ष को हम पाँच महादेशों में विभक्त कर सकते हैं। यथा—एशिया खण्ड—जिसमें भारतद्वीप सम्मिलित है, यूरोप—जिसमें ब्रिटिश द्वीप सम्मिलित है, अफ्रीका, उत्तर अमेरिका और दक्षिण अमेरिका इन दोनों महादेशों में अब कहीं भी राजानुशासनप्रणाली प्रचलित नहीं है। दोनों महादेशों के सब विभिन्न राज्यों में सर्वत्र प्रजातंत्रप्रणाली ही दृढ़मूल हो गयी है। केवल उत्तर अमेरिका का थोड़ा सा भाग, जो ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत माना जाता है, वहाँ औपनिवेशिक

स्वराज्य स्थापित है, जो प्रजातंत्र के समान ही माना जाता है। अफ्रीका महादेश का प्रायः सब भाग दूसरी राजसत्ताओं के अधीन है। यूरोप महादेश में भी ब्रिटिश साम्राज्य के अतिरिक्त तीन-चार देशों में ही नियंत्रित राजतंत्रप्रणाली प्रचलित है। बाकी सब देशों से प्रजातंत्र शासन प्रणली दृढ़मूल हो गयी है। युरोप के जिन अन्य देशों में अभी राजतंत्र शासन प्रणाली की प्रचलित है, वे सभी ब्रिटिश-राजतंत्र शासन प्रणाली की ओर से प्रजातंत्र शासन प्रणाली ओर आगे बढ़े हुए हैं। दूसरी और यूरोप का आधा अंश जो रूस राज्य कहाता है, उसमें तो अब एक ऐसी प्रजातंत्र राज्य शासन प्रणाली चलायी गयी है, जो एक बार ही उच्छ्रंङ्खल है, ऐसा कहने में अत्युक्ति नहीं होगी। इस उच्छ्रंङ्खलतता की नकल सब महादेशों की प्रजा करने लगी है और उसकी छाया कहीं-कहीं भारतद्वीप में भी पड़ने लगी है। पृथ्वी का एशिया खण्ड—जो सदा धर्म और समाज नीति का केन्द्र माना गया है, इस खण्ड में भी राजतंत्र शासन प्रणाली का अभाव हो चला है। एशिया खण्ड में भारतद्वीप के अतिरिक्त दो सबसे बड़े महादेश हैं—एक चीन, दूसरा रूस। जो युरोप के रूस राज्य की दशा है, वही एशिया के रूस राज्य की दशा है। चीन-साम्राज्य तो अब राजतंत्र राज शासन प्रणाली का एकबारगी लोप होकर प्रजातंत्र राज्यशासनप्रणाली मूल दृढ़ हो गया है। एशिया खण्ड के चीन और तुर्क, दोनों देशों में राजतंत्रशासनप्रणाली की कट्टर स्थिति अभी थोड़े दिन पूर्व विद्यमान थी। परंतु अब दोनों देशों में राजतंत्रप्रणाली का नाम तक नहीं रहा है। इन सब बड़े-बड़े राज्यों के अतिरिक्त एशिया खण्ड के और जो छोटे-छोटे राज्य हैं, उनमें भी प्रजातंत्र की मात्रा बढ़ती हुई दिखायी देने लगी है। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि, वर्तमान जगत् की गति राजतंत्र शासन प्रणाली से हटकर प्रजातंत्र शासन प्रणाली की ओर द्रुत वेग से बढ़ रही है। दूसरी ओर उच्छ्रंङ्खल प्रजा के अंतकरण की गति उच्छ्रंङ्खलतामूलक निरंकुश नवीन साम्यवाद (कम्युनिज़म) नामक प्रजातंत्रराज्यशासनप्रणाली की ओर झुकती हुई दिखायी देती है। यदि यह उच्छ्रंङ्खल गति दिन-दिन बढ़ती गयी, तो भारतद्वीप के दार्शनिक सिद्धांत के अनुसार वर्तमान जगत् की सभ्यता नष्ट होकर पुनः असभ्यता के रूप में परिणत हो जायेगी ओर उच्छ्रंङ्खल मनुष्य समाज में से सामाजिक पवित्र शृंखला नष्ट होकर अपवित्रता बढ़कर मनुष्य की अधोगति हुए बिना न रहेगी।

महाभारत के महायुद्ध के पूर्व की सभ्यता और पूर्वकाल की घटनावली का जो पता मिलता है, वह सब सनातनधर्मावलम्बियों के वेद और शास्त्रों में मिलता है। उस समय के राजा और प्रजा दोनों किस प्रकार से अपने आपको देवाधीन मानते थे और उन्नत कालप्रभाव से दैवीजगत् के साथ उस समय भारतद्वीप का कैसा संबंध बना रहता था, इसका कुछ दिग्दर्शन पहिले आ चुका है। इस समय राजा के शरीर

में दैवीजगत् के अष्ट दिक्पाल—दैवीराजा—अपना केन्द्र बनाकर लोकरक्षा किया करते थे। इसके प्रमाण स्मृतिशास्त्र में अनेक पाये जाते हैं।[2] उस समय का इतिहास दैवीजगत् की घटनावली और दैवीजगत् के संबंध में पूर्ण था। आजकल के इतिहास की तरह स्वार्थपूर्ण मिथ्या घटनावलियों से कलङ्कित नहीं हुआ था।[3] प्राचीन काल का शास्त्रोक्त इतिहास केवल कल्प-कल्पान्तर के आदर्श-चरित्रों के संग्रह से दोषरहित था। प्राचीन काल में महान् काल के कल्प, मन्वन्तर, युग आदि बड़े-बड़े विभाग आर्य जाति के प्रतिदिन के सङ्कल्प में सामने रहने के कारण, उस समय के इतिहास का स्वरूप आज कल के इतिहास से कुछ विचित्र ही था, जिसका दिग्दर्शन पहिले किया गया है। उस समय के इतिहास में अनादि अनन्त सृष्टि के विशेष-विशेष विभागरूपी मन्वंतर आदि का वर्णन बताकर इतिहासपाठकों की दृष्टि काल की अनन्त सत्ता की ओर आकृष्ट की जाती थी। उस समय के इतिहास में वंशवर्णन और चरित्रवर्णन, देवता ओर मनुष्य दोनों के र्निविशेष से करने की शैली थी; जिससे मनुष्य दैवीजगत् की और सर्वदा आकृष्ट रहे और बाहरी सृष्टि में आकृष्ट होकर पतित न हो जाय। अन्ततः उस समय के राजानुशासन की दशा ऐसी विलक्षण थी कि, उसे नवशिक्षित लोग अपनी कल्पना में भी नहीं ला सकते। इन सब कारणों से भारतद्वीप के प्राचीन समय के राजन्वर्ग स्वभाव ही वेद और शास्त्र पर दृढ़ विश्वास रखने वाले, तपःस्वाध्यायनिरत, निवृत्तिसेवी ब्राह्माणों की आज्ञा से चलने वाले, अपनी अप्रमादी, निर्लोभ, दानशील, वीर और दैवीजगत् पर स्थिर लक्ष्य रखनेवाले होते थे और दूसरी ओर उस समय की आर्यप्रजा भी स्वभाव से ही शान्तिप्रिय, वर्णश्रमशृंखला सेवी धर्मभीरु, राजभक्त, स्वदेशप्रेमी, पञ्चमहायज्ञनिरत, निरलस, धर्म के लिये सर्वस्व त्यागनेवाली, आस्तिक और सदाचारी हुआ करती थी। इस प्रकार धर्म के आश्रय से राजा और प्रजा मिलकर मनुष्य समाज की आकर्षण और विकर्षण शक्ति के समन्वय की स्थापना कर स्वयं धन्य होते थे और त्रिलोक को भी धन्य किया करते थे।

सात्विक प्रवृत्ति और तामसिक प्रवृत्ति का अन्तःकरण में युद्ध होना जैसा स्वाभाविक है, अंतर्जगत में द्वंद्वशक्तियों में युद्ध होना जैसा स्वाभाविक है, उसी प्रकार राजशासन के मिष से मनुष्य समाज में युद्ध होना भी स्वाभाविक है। युद्ध क्रिया, जो प्रकृतिराज्य का स्वाभाविक वैभव है, उसको एकबारगी प्रकृति राज्य से दूर करने का जो प्रयत्न करते हैं, वे भ्रम में ही पतित नहीं होते, किंतु कालांतर में अपनी पवित्र पुरुषार्थ शक्ति को नष्ट करने की तैयारी करते हैं। प्राचीन भारतद्वीपवासियों के राजन्यवर्ग तथा प्रजावर्ग वर्तमान सम्य-जगत् की तरह युद्ध व्यापार के उठा देने की कल्पना स्वप्न में भी नहीं करते थे। युद्ध राजानुशासन का एक प्रधान अंग है, ऐसा प्राचीन भारतद्वीपवासी माना करते थे। और आकर्षण तथा विकर्षण शक्ति

का धर्मयुद्ध से मनुष्य समाज में समन्वय होता है ऐसा समझते थे। यही कारण है कि, क्षत्रियजाति का युद्ध करना वर्णाश्रम धर्म के अनुसार प्राचीन भारतद्वीप में एक बड़ा धर्म समझा जाता था।[4] परंतु प्राचीन भारतद्वीप की राजनीति में केवल धर्मस्थापन के लिये ही युद्ध करना विहित था, स्वार्थमूलक अधर्म-युद्ध अति अपमानजनक समझा जाता था। प्राचीन क्षत्रिय राजन्वर्ग की जो राजनीति थी, उसके दो विभाग भारतद्वीप में पाये जाते हैं। यथा—सरल राजनीति और कूट राजनीति। सरल राजनीति में कुटिलता की छाया तक नहीं थी और कुटिल राजनीति में उसके नाम के अनुसार कुटिलता का स्वरूप पूर्ण रूप से विद्यमान रहता था। सरल-राजनीति सब समय बरती जाती थी और केवल आपात्काल में अथवा अधार्मिक के साथ युद्ध करते समय अपने बल को न्यून समझने पर कुटिल राजनीति का आश्रय लिया जाता था। साम, दान दण्ड और भेद इन चारों के बरतने की रीति भारतद्वीप के शास्त्रों में पायी जाती है। प्राचीन आर्यों के राजशासनविज्ञान के अंतर्गत युद्धनीति का यह संक्षिप्त रहस्य है।

अनुशासन तीन प्रकार का होता है, ऐसा पूज्यपाद महर्षियों दर्शनशास्त्रों में सिद्ध किया है। यथा—योगानुशासन, शब्दानुशासन और राजानुशासन। योगानुशासन योगयुक्त अंतःकरण में प्रकट होता है, जो अभ्रान्त होता है। क्योंकि योगशक्ति द्वारा जब सात्त्विक अधिकारियों का अंतःकरण इष्टदेव के चरणारविन्द में तल्लीन होता है अथवा दैवीजगत् के साथ युक्त होता है, तब जो प्रेरणा होती है, वह विशुद्ध और अभ्रान्त होती है। वह अनुशासन दैवीजगत् के साथ एकतान से स्थित रहता है। वह विशुद्ध योगानुशासन प्राचीन काल के ब्राह्मणों में विद्यमान था। शब्दानुशासन शब्द के द्वारा प्रकट होता है। इस कारण उसके आधार वेद, शास्त्र, गुरु और आचार्य हैं। प्राचीनकाल में भारतद्वीप की प्रजा वर्णाश्रमसेवी होने के कारण और जगद्गुरु ब्राह्मण जाति तप-स्वाध्याय और ब्रह्मध्यान से युक्त होने के कारण शब्दानुशासन का प्रभाव स्वभाव से ही भारतद्वीप में स्थित था और पूर्वकथित गुणसमूह राजा और प्रजा दोनों में विद्यमान रहने के कारण प्राचीनकाल का राजानुशासन भी आदर्श स्वरूप था।

काल परिणामशील है। चारों युगों का बार-बार हेरफेर और हरएक युग में हरएक युग का अन्तर्भाव होता रहता है। इस कारण जब तक पहिले जैसा शुभकाल फिर न उपस्थित हो, तब तक राज-विरहित-राजानुशासन की प्रणाली चिरमङ्गलकर नहीं हो समती, यह लक्ष्य में रखना चाहिये। राजनुशासन चाहे किसी प्रणाली का हो, उससे प्रजा की धर्मरक्षा को स्वतंत्र रखना ही उचित है। ऐसा होने पर राजा और प्रजा दोनों का मङ्गल होगा और धार्मिकों को दैवी सहायता मिलती रहेगी। वर्तमान समय में प्राचीन राजानुशासन की छाया इसी में प्राप्त हो सकती है।

संदर्भ

1. ॐतत्सत् अस्य श्रीमन्महाभगवतः सच्चिदानन्दस्वरूपस्य श्रीमदादिनारायणस्य अचिन्ताऽपरिमितशक्त्याऽऽश्रयमाणानां महाजलौवमध्ये परिभ्रममाणानां अनेककोटिब्रह्माण्डानां एकतमे अव्यक्तमहदहंकार पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाद्यावरणैरावृते अस्मिन् महित ब्रह्माण्ड कटाहकरण्डै सकलजगद् धारकशक्तिकूर्म्मवराहानन्तैरावतपुण्डारीकवामनकुमुदाञ्जन-पुष्पदन्तसार्व्वभौमसुप्रतीकाष्टदिग्गजोपरिप्रतिष्ठितस्य अस्य अतलवितलसुतलतलातलरसातलमहातलपाता लाख्यसप्तलोकोषट्कस्य अधोभागे भूर्लोके महाकालायमानफणिराजशेषसहस्रफणामण्डलविधृते दिग्दन्तिशुण्डादण्डस्तम्भिते बहिरन्धतमसावृतेन अन्तःसूर्यप्रकाशितेन लोकालोकाचलेन वलयिते लवणे-क्षुसुरासर्पिदधिक्षीरस्वादुदकाख्यसप्तसमुद्रविराजिते जम्बुप्लक्षशाककुशक्रौञ्चशाल्मलपुष्करद्वीपसहिते भूमण्ड ले तुहिनाचलहेमकूटनिषधनीलश्वेतशृंङ्गिगन्धमादनपारियात्राख्याऽष्टसीमाचलैर्विभक्ते तन्मध्य वृत्ति भारतकिंपुरुषहरिवर्षेलावृतरम्भ्यक हिरण्मयकुरुभद्राश्वकेतुमाला ख्यनववर्षशोभिते जम्बूद्वीपै इन्द्रद्वीपक शेरुमानूताम्रवर्णोगभस्तिमानूनागद्वीपसौम्यगान्धवेवाचारुणार्यावर्तोपद्वीपसहिते भारतवर्षे नानावर्ण केसराचलशिखररत्नबीजाञ्छिभूसरोरुहकर्णिकायमानस्य मेरोर्दक्षिणदिग्भागे दक्षिणोदधिहिमाचलयोर्मध्यप्रदेशे निखिलवेदोदितकर्म्म फलसाधनगंगासलिलवाहिनि प्राचीनसंन्याससिम्पादिततपोराशि हुताशिनाशिनि अतः-स्थितऽत्यन्तसन्तापसन्ततिकृतान्तवेदान्तवृत्तान्तश्रुतिस्मृतिपापश्चान्तस्वान्तशान्तिविधायिनि वेदविन्मुनिगण-चरणविहरणतपश्चरणमृतवर्षिणि असिमन् पुण्ये भारतद्वीपे साम्यवर्तिकुरुक्षेत्रादिभूमध्यरेखायां, अयोध्यामथुरामायाकाशीकाञ्च्यवन्तिद्वारा वत्सयादिनमुक्तिक्षेत्रवत्यां अस्यां कर्म्मभूसौ भागीरथीविन्ध्याचलयोः उत्तरदिग्भागे श्रीशेलहे मकूट किष्किन्धागगरुड़ाचलव्यङ्कटञ्चचलहस्ति गिरीप्रभुतिपुण्यशैलवति सकलभ्नूमण्डलशिरोवर्तिनिगिरिजागिरिजा पतिराजिराजिते आर्य्यावर्तै कदेशे अविमुक्तवाराणसी क्षेत्रे महास्मशान ने असीमवरूणयोर्मध्ये आनंदवने गौरीमुखे त्रिकण्डकविासजिते उत्तरवा हिन्याः भागीरथाः पश्चिमे तीरे अन्नपूर्णादुर्गा के दारेश्वरविश्वनाथभैरबढर्फढिराजादिदेवमण्डलमण्डितं जन्हुतनयापरमपावनवनवाहिनि परमसुन्दरतरूजिविराजिते शैवशाक्तसौरवैष्णवगाणपत्यादिपरम भक्तगणविहरणस्वस्वोपास्य देवमधुरनाम कीर्त्तनपवित्री कृते परमानन्दनिकेतने बधुजनमानसानन्दविधायिनि श्रीकाशीधामनि श्रीविश्वेश्वर चरणप्रितहृदयस वित1प्रकाशकप्रकाशमाननभोमण्डले श्रीभारतधर्ममहामण्डले श्रीमदनेक की टिब्रह्माण्डघटनायाः सरोमविवरस्य विराड्रूपिणो भगवतो महापुरुषस्य शेषपर्यङ्कशायिनः श्रीविष्णोराज्ञया प्रवर्त्तमानस्य तन्नभिस्थ्ज्ञानसरोरुहादुत्पन्नस्य सकलवेदनिधेजगत्स्रष्टुःपराद्ध द्वियजीविनो ब्रह्मणः प्रथमपराद्र्धपञ्चाशदतीतायां द्वितीयपराद्र्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे प्रथमवर्षे प्रथममासे प्रथमपक्षे प्रथमदिवसे उदयादित्रयोदशघटिकासु अतीतासु स्वायम्भुवस्वारोचिषोत्तमतामसरैवतचाक्षुषाख्येषु षट्सु मनुषु व्यतीतेषु उपरिवतनघटिकायां सप्तमें वैवस्वतमन्वन्तरे सप्तविंशतिमहायुगेषु गतेषु अष्टाविंशतितमें महायुगे पुरुहूतनामेन्द्रसमये कृतत्रेताद्वापरेषु गतेषु चर्तमाने कलियेगु बौद्धावतारे विक्रमशके बार्हस्पत्यमानने......नामसंवत्सर. .....अयने........ऋतौ........मासे.......पक्षे.......तिथौ.....वासरे.........नक्षत्रे..........योग.............करणे.. ....राशिस्थिते सूर्य्ये........राशिस्थिते..........चन्द्रे........भोमे........राशिस्थिते शनौ.............राशिस्थिते राहौ........राशिस्थिते कैतो एवं ग्रहगुणविशेषणविशिष्टाषां शुभपुण्यतिथौ..........लग्ने............गोत्र....... ..शर्म्मा श्रीभारतधर्ममहामण्डलप्रतिनिधितयाऽखिलब्रह्माण्डजनपालनसंहरणकारिण्यः मूलमकृतेः ब्रह्माण्डभाण्डोदर्य्याः त्रिलोकपालिन्याः चतुःशक्तिधारिण्याः त्रिदेवजनन्याःब्रह्ममय्याःदेव्याः प्रसादार्थ वर्त्तमानभारतीयत्रिविध दुःखनिवारणार्थ अध्यात्मविद्यायाः पुनः प्रचारार्थ जगति सद्विद्याविस्तारार्थ देवर्षिपितृणां सम्बद्र्धनार्थ धर्मस्य सार्वभौमिकयथार्थ स्वरूपांद्घाटनार्थे ब्रह्माण्डस्य त्रिविधमङ्गलसाधनार्थ विविधभाषा भूषितश्रुतिस्मृति पुराणेतिहासदिधर्मग्रन्थप्रणयनप्रकाशनादिशुभकार्य्योनतिसावनार्थ वर्णाश्रमसंरक्षार्थ नारीजातिषु परमपुनीतपाति व्रत्यधर्म्मप्राचारार्थ आर्य्यजातीनों ऐहिकपरमाम्युदयपूर्वकनिःश्रेयसात्मकपरमपुरुषार्थ सिद्ध्यर्थ च श्री..... देवप्रसादलब्धये.........कर्मेण.......यज्ञमंह करिष्ये। तत्रादौ गणपतिपूजन।......वसोर्द्धारासहितं

गौर्यादिषेडशमातृकापूजनं नान्दीमुखं आचार्य्यादिवरणं च करोमि। (यह संकल्प काशीधाम का है और महामण्डल के धर्मकार्यों के लिये बना है। थोड़े से परिवर्तन से सब जगह काम में आ सकता है।)

2. इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः।।
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा।।
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम्।।
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः सा महेन्द्रः प्रभावतः।।
जङ्गमस्थावराणां च हीशः स्वतपसा भेवत्।
भागभग्रक्षणे दक्षो यथेन्द्रो नृपतिस्तया।।

—स्मृतिशास्त्रे

3. ""History is nothing but a pack of lies" Sir Robert Walpole in Morley's Life of Walpole.

4. द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनो।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः।।
शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्य युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।

—गीतासु

10

प्राचीन भारतद्वीप की शिक्षा-प्रणाली

प्राचीन भारतद्वीप में धर्म स्वातन्त्र्य और अन्यान्य स्वातन्त्र्य की तरह प्रजा को शिक्षा स्वातन्त्र्य भी था। शिक्षा देने का एकमात्र अधिकार जगद्गुरु ब्राह्मण जाति पर ही निर्भर था। उस समय के ब्राह्मणगण एकान्तसेवी, विषय वैराग्य-सम्पन्न, निर्लोभ, तपः स्वाध्याय-निरत और राजसिक सुख से विमुख रहकर केवल अध्यात्म-चिन्तन और कर्मयोगपरायण होकर लोक-शिक्षा में ही निरत रहते थे और सदा योगयुक्त अन्तःकरण रहने के कारण उनका अन्तःकरण देवलोक से संबंधयुक्त रहता था। देवलोकवासी ऋषियों की प्रेरणा से वे सदा लोककल्याणार्थ शास्त्रप्रणयन और शास्त्राध्यापन करते हुए इस मृत्युलोक को धन्य किया करते थे। विद्याप्रचार और लोकशिक्षा ही उनके जीवन का व्रत था।

विशेषतः उस समय देश धर्मवान्, बलवान् और ऐश्वर्यसम्पन्न तथा स्वाधीन होने के कारण राजा और प्रजा दोनों निश्चिन्त और दानी होते थे और इसी से विद्यार्थियों का निर्वाह अनायास होता था। दूसरी ओर देश में अन्न और फल आदि की प्राप्ति आवश्यकता से अधिक होने तथा वनों की विपुलता और वनों की स्वच्छन्दता रहने में निवृत्ति सेवी ब्राह्मणगण वनों में वास करते हुए भी यथेष्ट गोसेवा और उंछवृत्ति से धान्यसंग्रह, वनों से फलसंग्रह आदि से बिना किसी के अधीन हुए अपनी जीविका का स्वच्छन्दता से निर्वाह करते थे और प्रायः उनको किसी का मुखापेक्षी होना नहीं पड़ता था। चाहे योगानुशासन हो, चाहे शब्दानुशासन हो, चाहे राजानुशासन हो, तीनों की भित्ति लोकशिक्षा पर निर्भर करती है। पूज्यपाद महर्षियों का यह सिद्धांत था कि, अज्ञान जननी अविद्या और ज्ञानजननी विद्या है। अविद्या का प्रभाव जितना घटाया जाय, उतनी ही विद्या की ज्योति विकसित होती है। विद्या लाभ का प्रथम लक्ष्य इहलौकिक अभ्युदय और पारलौकिक अभ्युदय तथा अंतिम लक्ष्य मोक्ष है, ऐसा त्रिकालदर्शी महर्षिगण मानते थे। इस समय जैसी स्त्री-पुरुष, योग्य-अयोग्य,

ज्ञानी-अज्ञानी, पवित्र-अपवित्र, ऊँच-नीच आदि सबको एक ही प्रकार की शिक्षा देने की प्रणाली जगत में प्रचलित है, उस प्रथा को पूज्यपाद महर्षिगण अमङ्गलकर समझते थे। प्राचीन भारतद्वीप के बुधजन का सिद्धांत यह था कि, वर्णाश्रम शृंखला रखते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, पुरुष, यहां तक कि, जैसी प्रकृति और प्रवृत्ति व्यक्ति विशेष में स्वभाव से ही प्रकाश पाती हो, उसी के अनुसार उसको विद्याभ्यास कराने से जीव का बाधारहित अभ्युदय हो सकता है और उसके पतन की संभावना नहीं रहती। इस विषय को इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि, वर्णभेद, स्त्रीपुरुषभेद और पूर्वसंस्कार आदि के कारण जिस व्यक्ति में बीजरूप से जैसी शक्ति निहित है, उसकी पर्यालोचना करके उसको उसी ढङ्ग की शिक्षप्रणाली में चलाने पर उस जीवन का ऐहलौकिक और पारलौकिक मङ्गल होना अवश्यम्भावी होता है।

प्राचीन भारतद्वीप में ज्ञान प्राप्त करने की शैली केवल बाहर की ओर से ही नहीं थी, जैसी आजकल देखने में आती है; परंतु उसका अवलम्बन सूक्ष्मातिसूक्ष्म भीतरी ज्ञान था। जगत के आदिगुरु ब्राह्मणगण पहिले सदाचार, सद्विचार और उपासना के अवलम्बन से अपने अंतःकरण की शुद्धि करते हुए योगयुक्त होकर अन्तर्दष्टिसम्पन्न होते थे और योगसाधना द्वारा अलौकिक-प्रत्यक्ष को प्राप्त करके क्या अतीन्द्रिय विषयों और क्या स्थूल विषयों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करते थे। उदाहरण रूप से कहा जाात है कि, योगदर्शन के विभूतिपाद में जो संयम के द्वारा चतुर्दश भुवन का ज्ञान प्राप्त करने की शेली की शिक्षा पायी जाती हे, उस शिक्षा के अवलम्बन से सूर्य आदि में संयम करते हुए, वे प्रथम त्रिभुवन और तदन्तर चतुर्दश लोकों का ज्ञान प्राप्त करते थे। इसी शिक्षा का अवलम्बन करके जगत् के आदिगुरु ब्राह्मणगण आनुश्रविक दिव्य लोकों का ही पता नहीं लगा गये हैं, किंतु नाना ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र, राशिचक्र आदि का पता लगाकर गणति ज्योतिष और फलित ज्योतिष का मार्ग सरल कर गये हैं। अब दृग्गणित द्वारा नया आविष्कार कुछ ही हो, आदि गुरुओं का आदि आविष्कार योगसाधन की संयम क्रिया द्वारा ही हुआ था। जिस प्रकार अन्तर्जगत् में योग के संयम की क्रिया द्वारा विभिन्न ज्ञान राशि का संग्रह उन्होंने किया था, उसी प्रकार स्थूल जगत् में भी उन्होंने योग की संयम क्रिया की त्रिदोष का ज्ञान, शरीरस्थ सहस्रों नाड़ियों का ज्ञान, इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना आदि अतीन्द्रिय दिव्य नाड़ियों का ज्ञान, नाना रासायनिक क्रियाओं का ज्ञान और सब स्थूल पदार्थों तथा औषधियों के द्रव्य गुण आदि का ज्ञान भी सबसे पहिले योगयुक्त अन्तःकरण से ही भारतद्वीप के विद्वानों को प्राप्त हुआ था। यद्यपि इस समय शरीर तत्त्व ज्ञान (अनाटमी) की बहुत कुछ उन्नति देखने में आती है, तथापि सूक्ष्मातिसूक्ष्म शारीरिक क्रियाओं और नाड़ियों का सम्यक् ज्ञान प्राचीन काल में कैसा हुआ था,

उसको योगशास्त्रवेत्ता विद्वज्जन अवश्य ही जान सकते हैं। 'अनाटमी विद्या' यद्यपि इस समय बहुत उन्नत हुई है, तथापि 'माइन्यूट अनाटमी' (सूक्ष्मदेह-तत्त्वज्ञान) कभी पूर्ण होकर योग शास्त्रोक्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाडियों का पता लगा सकेगी, इसकी आशा भी कोई नहीं कर सकता। यहां तक कि, बड़े-बड़े शरीर-तत्त्ववेत्ता साइण्टिस्टगण इस समय इसी सिद्धांत को मानने लगे हैं।[1]

प्राचीन भारतद्वीप के त्रिकालदर्शी महर्षियों ने ब्रह्माण्ड के ज्ञान के अन्वेषण में योगयुक्त अन्तःकरण से देखा था कि, जैसे अण्डे में अण्डज-जीवशरीर की उत्पत्ति होती है, जैसे जरायु के भीतर जरायुजपिण्ड उत्पन्न होता है, ठीक उसी प्रकार एक विराट् अण्ड के भीतर सृष्टि के आदि में चतुर्दशलोकमय ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है और जिस प्रकार अण्डज शरीर अण्ड को अथवा जरायुज शरीर जरायु को तोड़कर बाहर निकल आता है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड का विराट् देह भी आदि सृष्टि के सयम परमाणुपुञ्ज से बनकर बाहर निकल आता है।[2] उन्होंने योगदृष्टि से देखकर यह सिद्धांत निश्चय किया है कि, मानवपिण्ड जो सब पिण्डों में पूर्णावयव पिण्ड है, उसके पिण्ड में और ब्रह्माण्ड में पूरा सादृश्य है। मनुष्य पिण्ड का शिरोभाग चेतनता का आधार है, इसी तरह चतुर्दशभुवन में ऊपर के तीन लोक ब्राह्मस्वर्ग कहाकर उपासना और ज्ञान के सर्वोत्तम लोक माने गये हैं। जिस प्रकार नाभि से उद्ध्र्व और कण्ठ के नीचे का मनुष्य के शरीर का भाग सब शारीरिक क्रियाओं का केन्द्रभूत समझा जाता है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड भूः भुवः स्वः रूपी त्रिलोक सब श्रेणी की दैवी क्रिया निष्पत्ति का केन्द्र है। उन्हीं तीनों में सब दिक्पालों देव राजधानियाँ हैं। जिस प्रकार नाभि के नीचे का अङ्ग अधोअङ्ग कहलाता है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड के अतल-वितलादि सप्त लोक अधोलोक कहते हैं। जिस प्रकार मनुष्य शरीर में मेरुदण्ड सबको धारण किये हुए है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड में दैवीपर्वत सुमेरु ब्रह्माण्ड को धारण किये हुए है, जैसा पहिले कहा गया है। अतः प्राचीन भारतद्वीप के आचार्यगण अपनी शिक्षा शैली में पिण्ड से ब्रह्माण्ड ज्ञान और ब्रह्माण्ड से पिण्ड ज्ञान और उभ्य में समता ज्ञान कराते हुए सद्विद्यासेवियों का अंतःकरण आत्मोन्मुख कर दिया करते थे। उस आमोन्मुखक्रिया के लिये वे जिस व्यक्ति में जो शक्ति निहित है, उसी की अभिव्यक्ति कराया करते थे। प्राचीन आर्य जाति की शिक्षा का यह सिद्धांत था कि, जिस व्यक्ति की प्रकृति में जो शक्ति बीजरूप से निहित है, शिक्षा द्वारा वही शक्ति उसकी प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार पल्लवित होकर ठीक-ठीक विस्तार को प्राप्त हो सकती है। सबको एक प्रकार की शिक्षा देने से अनवस्था प्रसंग उपस्थित होता है और उत्तम फल की प्राप्ति असंभव हो जाती है। मनुष्य पिण्ड की अन्तर्निहित मौलिक शक्ति का अन्वेषण करना अति कष्टसाध्य होने से वर्ण-व्यवस्था के अनुसार

अलग-अलग शिक्ष की शैली उस समय प्रचलित थी। क्योंकि वैदिक दर्शनों के द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करके दिखाया था कि, रज और वीर्य के द्वारा पिता और माता से अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ये तीन भाव और सत्य, रज और तम ये तीन गुण यथासंभव आकृष्ट हो जाया करते हैं। इसी वैज्ञानिक दृष्टि से उन्होंने जन्मगत-जाति की व्यवस्था की थी और उसी के अनुसार शिक्षा की भी मर्यादा बाँधी थी।

प्राचीन आर्यों को भूगोलसंबंधी लौकिक ज्ञान पूर्ण था। आजकल के भौगोलिक ज्ञान के साथ उसका मेल समझ में न आता हो, परंतु भौगोलिक ज्ञान का उन्हें पता था, इसमें संदेह नहीं। हाँ, थोड़े समय में परिवर्तन होने वाले विषयों की ओर उनकी उपेक्षा अवश्य थी। ब्रह्माण्ड ज्ञान और तदन्तर्गत खगोल ज्ञान का जो अलौकिक आविष्कार उन्होंने किया था, वह शास्त्रों में प्रतिफलित है; जैसा कि, पहिले कहा गया है। साधरण बुद्धि से ही यह समझ में आ सकता है कि, जिन्हेंने अपनी अलौकिक योगशक्ति से ब्रह्माण्ड के विराट् देह और तदन्तर्गत खगोल का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लिया था, उनके लिये लौकिक भूगोल का ज्ञान प्राप्त कर लेना कौन बड़ी बात है? हम पहिले कह चुके है। कि, लौकिक इतिहास के ज्ञान की ओर उनकी उपेक्षा थी। क्योंकि देश काल-पात्र की आवश्यकता के अनुसार वह समय-समय पर अपने आप ही प्राप्त हुआ करता है। उन लौकिक इतिहासों को शास्त्रों के स्थायी साहित्य में लिपिबद्ध करना वे अनावश्यक समझते थे। दूसरी ओर जिससे सत्शिक्षा में यथार्थ सहायता मिल सके, जिससे मानवसमाज में आधिदैविक और आध्यात्मिक तथा आधिभोतिक और नैतिक उन्नति हो सके, इसके लिए पुराण और इतिहास शास्त्रों में उन्होंने अलौकिक इतिहासों का ऐसा संग्रह किया है, जिसका रहस्य वे ही जान सकते हैं, जिन्होंने श्रद्धापूर्वक उन शास्त्रों का अनुशीलन किया हो। दैवीजगत् को सम्मुख रखकर और दैवीजगत् से संबंध बांध ाकर भारतद्वीप के अग्रजन्मा जगद्गुरु ब्राह्मणगण ने लोकोपकारी सब विद्याशैलियों को अग्रसर किया था। उदाहरणा रूप से कहा जाता है कि, उनकी गन्धर्व विद्या की शैली एक ओर जैसा उत्तम शिल्प (आर्ट) है, वैसा उत्तम विज्ञान (साइन्स) भी है। उसका प्रारंभ और उपसंहार दैवीजगत् के साथ रखा गया है। प्राचीन आर्यशास्त्र के संगीत में रागगिनियों के ध्यान, उनके अधिदैव और उनकी सिद्धियां तक मानी गयी हैं। इसी प्रकार प्राचीन भारतद्वीप की चिकित्साविद्या में वातापित्तकफन की समता से मुक्ति तक होना सिद्ध किया गया है और उसकी काष्ठौषधि और रसौषधि दोनों में अधिदैव संबंध पूरा दिखाया गया है। प्राचीन भारतद्वीप की शास्त्रास्त्र विद्या के साथ अधिदैव संबंध कैसा था, वह महाभारत और रामायण जैसे इतिहासों के पाठ से जाना जा सकता है।

प्राचीन भारतद्वीप की शिक्षा प्रणाली में यही मौलिक भित्ति पायी जाती है कि, मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन अविद्या दूर करके विद्याभ्यास करने में लगा रहे। केवल ब्रह्मचर्याश्रम धारण करके बाल्यावस्था में ही प्राचीन आर्यगण विद्याध्ययन नहीं करते थे, किंतु चारों वर्णों और चारों आश्रमों के आचारों में ही क्रमशः विद्याध्ययन की शैली रखी गयी थी। उदाहरणार्थ, गृहस्थों की तीर्थयात्रा की शैली और यहाँ तक कि, संन्यासियों की कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस इन अवस्थाओं के प्राप्त करने की शैली, भारतद्वीपवासी आर्यों के आजीवन विद्याभ्यास करने का ज्वलन्त दृष्टान्त है।

प्राचीन भारतद्वीप राजप्रबंध में प्रजा के शिक्षा संबंधी विभाग के सब सूत्र प्रजा के ही हाथों में थे। न तो इस स्वतंत्रता में राजा बाधा करता था और न कुछ नियंत्रण ही रखता था। स्थान-स्थान पर और जहाँ पवित्र संस्कार विद्यमान हो, जहाँ का जलवायु उत्तम हो, वहाँ ऋषि-मुनियों के आश्रम अथवा विद्यापीठ थे और वहीं त्रिवर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रि, वैश्य) शिक्षा पाते थे। कलाकौशल और सेवा का कार्य शूद्र करते थे। उन्हें परंपरा से नगरों, खेतों, खानों या कारखाने में व्यावहारिक शिक्षा मिलती थी। त्रिवर्णों में से किस-किस प्रकार की शिक्षा देनी चाहिए, इसका निर्णय ज्ञानसम्पन्न जगत्-हितकारी तपस्या-व्रत-परायण ब्राह्मणगण ही करते थे। इसमें राजा का हाथ नहीं रहता था। लोकाश्रय और राजाश्रय से उनकी जीविका का निर्वाह होता था, इसी से उन पर किसी का किसी प्रकार का दबाव नहीं था। निःस्पृहता से लोभरहित होकर वे शिक्षा का कार्य करते थे। राजपुत्रों अथवा सरदारों के कुमारों के लिये स्वतंत्र पाठशालाएँ नहीं थीं। सब छोटों-बड़ों को एक ही विद्यापीठ में शिक्षा मिलती थी। अध्यापकरण किराये के टट्टू नहीं होते थे। शिष्यों की सेवा और आज्ञापालन से प्रसन्न होकर निर्लोभता के साथ वे उनको विद्या सिखाते थे। इससे सभी विद्यार्थी विद्या-विनयसम्पन्न होकर अपनी परंपरा बनाये रखते हैं। विद्यापीठ नगरों में नहीं, किंतु प्रशान्त वनों में होते थे। इससे नागरिक विलासिता और दुर्व्यसन शिष्यों के पास फटकने नहीं पाते थे। आजकल जैसी स्कूल-कालेजों और विश्वविद्यालयों में राजप्रासाद जैसे भवनों का वैभव देखने में आता है, उसका उस समय नाम भी नहीं था। गुरु और शिष्यों में पितापुत्र जैसा संबंध था।

आजकल की तरह उस समय विद्यापीठ से उत्तीर्ण होकर घर लौट आने पर विद्यार्थियों को जीविका की चिन्ता नहीं होती थी। क्योंकि वर्णाश्रम का बन्धन दृढ़ होने से हर एक विद्यार्थी अपने-अपने परंपरागत कामों में लग जाता था। ब्राह्मणों पर अध्यापन और पौरोहित्य का प्रधानतः भार था ही; इसके अतिरिक्त राजमंत्री जैसे पदों पर भी वे प्रतिष्ठित होते थे। परंतु उनके वैतनिक होने का कहीं उल्लेख

नहीं है। क्योंकि ब्राह्मणों के लिये धनी होना भूषण नहीं था। तप और स्वाध्याय ही उनका भूषण था। उनकी जीविका का निर्वाह प्रतिग्रह से भी होता था, परंतु राजा के हाथ वे अपनी सद्सद्विवेकबुद्धि को बेच नहीं देते थे। प्रायः ब्राह्मणगण वनवासी और निवृत्तिसेवी होते हुए फल-मूल-नीवारादि, जो वनों में अनायास उत्पन्न होते थे, उनके द्वारा जीवन धारण करना परम सुखकर समझते थे। रामायण से प्रमाणित है कि, सुमन्त, वशिष्ट जैसे अगाध-बुद्धिसम्पन्न मंत्री और पुरोहित पूर्ण स्वतंत्र थे और निर्भीक होकर राजा के सम्मुख अपना अभिमत प्रकट करते थे। नगरों में भी कुछ ब्राह्मण निवास करते थे; परंतु उनकी स्वतंत्रता में कोई बाधा नहीं होती थी। ज्ञान के द्वार सब वर्णों को खुले थे। जनक जैसे राजर्षि ज्ञान मार्ग में पहुँचे हुए थे और सुरथ नामक वैश्य ने धन-ऐश्वर्य न माँगकर जगदम्बा से ज्ञान ही माँग लिया था। यह अवश्य था कि, अन्य वर्ण ब्राह्मणों की तरह प्रतिग्रह नहीं करते थे। गुहक के दिये हुए फल-मूल भी रामचन्द्र ने ग्रहण न कर आदर के साथ लौटा दिये थे; परंतु तपश्चरण, अध्ययन यज्ञ, दान आदि करने में उन्हें कोई रुकावट नहीं थी।

वेद और वेदसम्मत शास्त्रों में कहा गया है कि, आत्मज्ञान प्रकाशिनी ब्रह्मशक्ति को विद्या कहते हैं और आत्मा के स्वरूप को आवृत करके जो शक्ति भ्रम में फँसावे और विपरीत ज्ञान उत्पन्न करे, उसको अविद्या कहते हैं। मुक्ति का कारण विद्या है और बंधन का कारण अविद्या है। ज्ञान प्रसविनी शक्ति को विद्या कहते हैं और अज्ञानप्रसविनी शक्ति को अविद्या कहते हैं, जैसा कि, ऊपर कहा गया है। उसी दार्शनिक सिद्धांत को सम्मुख रखकर प्राचीन काल में पूज्यपाद महर्षियों ने विद्याध्ययन-प्रणाली का निर्णय किया था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास, इन चारों आश्रमों में; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों में; पुरुष धारा और स्त्री धारा, सृष्टि की इन दो धाराओं में; प्रवृत्ति धर्म और निवृत्ति धर्म इन दोनों के आचार-विचार-निर्णय में; सब स्थलों पर सबके लिये जो-जो विद्याध्ययन-प्रणाली निर्णीत की गयी थी उसमें यही लक्ष्य रखा गया था कि, अपने-अपने अधिकार के अनुसार जीवन पथ में चलते हुए जीव के अन्तकरणों में स्वभाव से ही उत्पन्न अविद्या-प्रभाव का नाश होता रहे और ज्ञानप्रदायिनी विद्याशक्ति का उत्तरोत्तर विकास होता रहे। प्राचीन शिक्षाप्रणली में यही मौलिक सिद्धांत रखा गया था।

पूज्यपाद महर्षियों का यह सिद्धांत है कि, मनुष्य चाहे किसी अधिकार का हो, आजन्म उसको अपनी विद्योन्नति का ध्यान रखना उचित है। इसी कारण विद्योन्नति की नाना प्रणालियाँ शास्त्रों में तथा वर्णाश्रम सदाचार में पायी जाती हैं। ब्रह्मचर्यव्रत धारणा करके गुरुगृहवास करता हुआ ब्रह्मचारी विद्या की प्राप्ति के

लिये आचार्य-सेवा और शास्त्रसेवा करता और सर्वशास्त्रज्ञ आचार्य उस ब्रह्मचारी शिष्य के अधिकार के अनुसार उसको विद्या के मार्ग में ले जाकर यथाधिकार विद्वान बनाता था। गृहस्थाश्रम में गृही अपनी उद्दाम प्रवृत्तियों को रोककर वृत्ति में रहते हुए निवृत्ति का अर्जन करता, अपने भावों का संकोच करके बहुकुटुम्बी होने पर भी वृद्धों के प्रति श्रद्धा, समान के साथ प्रेम और छोटों के साथ स्नेह करता था गार्हस्थ्य धर्म के यावत् विद्योन्नतिकारी आचरणों को पालन करके विद्या के मार्ग में ही क्रमशः अग्रसर हुआ करता था। वानप्रस्थाश्रमी तप की कठिनता को साथ लेकर संन्यासाश्रमी त्याग की आलौकिकता को साथ लेकर उसी ज्ञानजननी विद्या के मार्ग का अनुसरण किया करता था।[3] ब्राह्मण का तप, स्वाध्याय और धनादि ऐश्वर्यों का त्याग, क्षत्रिय का पुत्रवत् प्रजा-पालन, धर्म के लिये युद्ध में प्राण पर तिलाञ्जलि देना, अर्थ को तुच्छ समझकर दान में अभिरुचि, वैश्य का कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य द्वारा देश की समृद्धि के लिये और अपनी धर्मवृद्धि के लिये धनोपार्जन और शूद्र का अलौलिक सेवाधर्म और प्रभुभक्ति, ये सब वर्णधर्म के प्रकृति राज्य से मिले हुए स्वाभाविक आचार अपने ढङ्ग पर उस विद्या के मार्ग में ही ले जाने वाले बनाये गये हैं। वर्णाश्रम धर्म की इस सुकौशलपूर्ण आचार प्रणाली का रहस्य यही है कि, जीव में ही अविद्या प्रभाव का क्रमशः नाश हो और विद्याशक्ति की वृद्धि हो। पुरुष जाति का धर्म यज्ञ पधान होने से और स्त्री जाति का धर्म पतःप्रधान होने से उनके लिये जिस स्वतंत्र-स्वतंत्र आचार विचारों और शिक्षा प्रणाली का वर्णन शास्त्रों में है, वह सब इसी वैज्ञानिक भित्ति के आधार पर किया गया है और प्रवृत्ति धर्म में प्रवृत्ति रोककर विद्या की अभिवृद्धि और निवृत्ति धर्म में शरीर का मल, मन का विक्षेप और बुद्धि का आवरण क्रमण दूर करके विद्या की सहायता से स्वरूप की उपलब्धि करने की जो शैलियाँ भारतद्वीप में बाँधी गयी थीं, वे सब इसी अलौकिक-विज्ञान-सम्भूत हैं। यही कारण है कि, पूज्यपाद महर्षियों की बताई हुई जो प्राचीन विद्याध्ययन प्रणाली थी, उसमें आधिभौतिक लक्ष्य गौण और आध्यात्मिक लक्ष्य ही मुख्य था।

विद्यार्जन के साथ धर्म का अतिघनिष्ट संबंध है। धर्म की शिक्षा प्राप्त करके मनुष्य जितना धार्मिक होता जाता है, उतना ही उसको मनुष्यत्व प्राप्त होता है। पशु और मनुष्य में यही भेद है कि, पशु में धर्माधर्म ज्ञान नहीं है और मनुष्य में धर्माधर्म ज्ञान है। अतः धर्मज्ञान के साथ मनुष्यत्व का घनिष्ट संबंध है। भारतद्वीप के जगत के आदि गुरु ब्राह्मणों की सम्मति में धार्मिक शिक्षा का स्थान सबसे उच्च रखा गया है और धार्मिक शिक्षा के संबंध से ही वे मनुष्य को सब वर्ण, सब आश्रम और सब अवस्थाओं में ही उस शिक्षा के अधिकारी मानते थे। ब्रह्मचारीगण आचार्य के निकट यथायोग्य विद्याभ्यास के साथ-ही-साथ यथायोग्य धर्म का ज्ञान प्राप्त करते

थे। गृहस्थगण अपने-अपने गुरु और पुरोहित के उपदेश से धर्म की शिक्षा प्राप्त करते थे। यहाँ तक कि, वानप्रस्थ-अवस्था और संन्यास-अवस्था में भी अपने-अपने गुरुजनों से धर्मज्ञान की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि करने की विधि थी। चातुर्वर्ण्य के व्यक्तियों की यथायोग्य धर्मशिक्षा तो पहले से ही बालकों को दी जाती थी। धर्मप्राण भारतद्वीप के प्राचीन आर्यों में धार्मिक शिक्षा का स्थान सब श्रेणी के विद्याभ्यास के साथ रखा गया था। प्राचीन भारतद्वीप के आर्यों का धर्मज्ञान कितना सर्वव्यापक, कितना सर्वजीवहितकारी और कितना सब अङ्गउपाङ्गों से पूर्ण है, उसका वर्णन पहले हो चुका है। प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में साधारण-धर्म की कैसी शिक्षा दी जाती थी, वह शिक्षा किस प्रकार पृथ्वी के सब श्रेणी के नर-नारी के लिये हितकारी होती थी और किस प्रकार संसार के सब धर्म मार्ग तथा सब जाति और सब श्रेणी के मनुष्यों के लिये समान रूप से फलदायी होती थी, उसके दिग्दर्शन के अर्थ शास्त्रों में एक औपनिषदिक दृश्य का वर्णन किया गया है। शक्तिगीता में जगज्जननी महादेवी ने देवताओं को उपदेश दिया था, उसका तात्पर्य निम्नलिखित है--

हे अमरगण! मैं ही धर्मकल्पद्रुम का बीज हूँ, मूल हूँ और आधार भी हूँ, इसमें कुछ संदेह नहीं है। उस वृक्ष का स्कन्ध विश्वधारक धर्म ही है।[4] उसकी प्रधान तीन शाखाएँ हैं। यथा--यज्ञ, तप और दान। अर्थदान, ब्रह्मदान और अभयदान के त्रिगुणात्मक होने से दान की नौ प्रतिशाखाएँ हैं, हे देवगण! इसमें संदेह नहीं है। शारीरिक तप, वाचनिक तप और मानसिक तप के त्रिगुणात्मक होने से तपो-धर्म की नौ प्रतिशाखाएँ हैं। यज्ञशाखा से उत्पन्न प्रतिशाखाएँ अनेक हैं। नित्य, नैमित्तिक, काम्य और अध्यात्म, अधिदैव, अभिभूत, से कर्म्मयज्ञरूपी प्रशाखाओं के भेद हैं। इनके त्रिगुणात्मक होने से कर्मयज्ञ की मनोहर अठारह प्रतिशाखाएँ हैं। उपासना यज्ञ की आसुरी उपासना, ऋषि-देवता और पितरों की उपासना, अवतारों की उपासना, पुञ्च सगुण ब्रह्मरूपों की उपासना और निर्गुण ब्रह्मोपासना, ये पाँच भक्तिसंबंधी भेद हैं और योग के अनुसार उपासना के मंत्र, हठ, लय, राज ये चार भेद हैं। इस प्रकार से इन्हीं नौ भेदों के त्रिगुणात्मक होने से हे देवगण! उपासना की सत्ताईस प्रतिशाखाएँ हैं। ज्ञानयज्ञ के श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ये तीन भेद त्रिगुण संबंध से नवधा विभक्त होकर नौ प्रतिशाखाएँ होती हैं। हे देवतागण! इस प्रकार से मैं ही बहत्तर शाखा और प्रतिशाखाओं में धर्मकल्पद्रुम रूप से अपने ज्ञानी भक्त के हृदेश में निःसंदेह विराजमान हूँ। उस धर्मकल्पद्रुम के पत्र-पुष्परूपी उपाङ्गों की तो संख्या ही किसी से कभी नहीं हो सकती। वे अतिमनोहर और विचित्र हैं। उस रम्यच वृक्षराज पर जगन्मुग्धकारी दो पक्षी सदा अनन्त काल से निवास करते हैं। उनमें से एक पक्षी अभ्युदय के दो कच्चे फलों का स्वाद ग्रहण करता है और दूसरा चतुर पक्षी

निःश्रयसपदरूपी सुपक्क और सुस्वादु अमृत फल का आस्वाद न करके हे देवगण! ब्रह्मानन्दसमुल्लास की चरितार्थता को निश्चय ही प्रकाशित करता है। इस प्रकार से शास्त्रोक्त इस औपनिषदिक अतिमनोहर चित्र को नेत्रों के सामने देखने में ज्ञानवान् व्यक्तिमात्र ही समझ सकेंगे कि, किस श्रेणी की धार्मिक शिक्षा प्राचीन पूज्यपाद महर्षिगण लोककल्याणार्थ दिया करते थे और उस शिक्षा का कैसा जगन्मङ्गलकर उच्च स्थान था; जिसको आजकल के शिक्षा-गुरुगण एक बार ही में भूल गये हैं। इस मनोहर आध्यात्मिक दृश्य की दार्शनिक नेत्रों से पर्यालोचना करने से यह स्वतः हो जान पड़ेगा कि, भारतद्वीप का साधारण धर्म जगत् के स्त्री पुरुष मात्र के लिये और जगत् के सब धर्म-मार्गों के लिये समान रूप से हितकारी है। बौद्ध और जैन धर्म का पूर्णावयव मनुष्यरूपी अवतारवाद और सनातन धर्मियों की अवतारोपासना सबका अधिकार इस धर्मकल्पद्रुम की शाखाओं में मिलेगा। गुणभेद से अवतारवाद में इनका अधिकार खोजने से मिल जायेगा। इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्मोपासना के सात्त्विक राजसिक और तामसिक अधिकर के अनुसार भारतद्वीप की निर्गुण ब्रह्मोपासना के अधिकारों से लेकर अरब देशवासियों के ईसाई धर्म और महम्मदीय धर्म की निर्गुण ब्राह्मोपासना के अधिकारों तक का स्थान इस धर्म कल्पद्रुम की शाखाओं में उपलब्ध होगा। इसी प्राकर शान्तचित्त होकर अनुसंधान करने पर यही सिद्ध होगा कि, जगत् में जितने धर्मसम्प्रदाय हैं और होंगे और जितने धर्ममत हैं और होंगे, सबका आश्रयस्थल इस धर्मकल्पद्रुम की वहत्तर शाखाओं में से किसी-न-किसी शाखाओं में मिल जायेगा। प्राचीन भारतद्वीपवासियों की धार्मिक शिक्षा का यह निरूपम चमत्कार है।

आजकल के पाश्चात्य विद्वानों की जो विद्याध्ययन प्रणाली है, वह ऊपर लिखित आध्यात्मिक लक्ष्य से शून्य है। उनकी विद्याभ्या शैली में पूर्वकथित विद्या और अविद्या का विचार रखा ही नहीं गया है। यथार्थ मुनष्यत्व को प्राप्ति, धर्म और मोक्ष का स्थिर लक्ष्य आदि उद्देश्य जैसा प्राचीन भारतद्वीप की विद्याध्ययन प्रणाली में था, वह प्राश्चिमात्य देश की नवीन विद्याभ्यास शैली में रखा ही नहीं गया है। पाश्चात्य देशों में विद्याभ्यास का लक्ष्य इहलौकिक सुखप्राप्ति मात्र है। उनकी पदार्थ विद्या (साइन्स) के आश्चर्यजनक आविष्कार समूह सब इहलौकिक उन्नति के लिये ही नियोजित होते हैं। उनकी भाषा शिक्षा, उनकी नाना शास्त्र शिक्षा, उनकी पदार्थ विद्या की उन्नति, उनकी शिल्पोन्नति, उनकी युद्ध विद्या के निर्मित नाना यंत्रों की उन्नति, उनका आकाशयान, रेलयान, जलयान, आश्चर्यजनक शृंङ्खलाप्रणाली (ऑर्गानिज़ेशन), समाजनीति, राजनीति और यहाँ तक कि, उनकी धर्मनीति सब इहलौकिक सुखप्राप्ति के निर्मित ही नियोजित हैं, ऐसा देखने में आता है।

यथार्थ विधाध्ययन के लिये सबको एक मार्ग में चलाना संभव नहीं है। इसको

तो अब पश्चिमी चिंताशील विद्वन्मण्डली भी मानती जाती है। स्वतंत्र-स्वतंत्र अधिकार के अनुसार शिक्षा देने से ही कल्याण हो सकता है। क्योंकि प्रकृति का वैचित्र्य होना निश्चित है। ज्ञानाधिकार सबमें समान होना असंभव है; इस कारण उन्नत तत्त्वज्ञान के प्रदान करने में अधिकारी का विचार करना अत्यावश्यक है। यही प्राचीन भारतद्वीपवासियों का सिद्धांत था। पुरुष बी:जरूप है और स्त्री क्षेत्ररूपा है। इस कारण पुरुष और स्त्री की शिक्षा प्रणाली में भी अवश्य ही भेद रहना उचित है। यद्यपि अर्थ और काम भी प्रयोजनीय हैं, उनके अर्जन के निमित्त शिक्षाप्रणाली रहनी चाहिए, परंतु धर्म और मोक्ष का उन्नति लक्ष्य सर्वथा विद्याध्ययन प्रणाली में सम्मुख रखना चाहिए। इहलौकिक ज्ञान ही यथेष्ट नहीं है। केवल इहलौकिक ज्ञान का प्रचार नास्तिक्य उत्पन्न करता है। ईश्वर ज्ञान विहीन शिक्षा प्रणाली का कुफल जैसा पाश्चात्य देशों को मिला है, वैसा ही भारतद्वीप को भी अब मिल रहा है। इस कारण ईश्वर तत्त्व विचार, परलोक-तत्त्व विचार और धर्माधर्म तत्त्व-विचार का संबंध जब तक विद्याभ्यास प्रणाली के साथ नहीं रखा जायेगा, तब तक जगत का यथार्थ कल्याण होना असंभव है। इसके बिना शिक्षा प्रणाली की पूर्णता भी नहीं हो सकती तथा जगत् में जो दुःख और अशान्ति दिन-दिन बढ़ती जाती है, वह बढ़ती ही रहेगी। इस समय स्त्री और पुरुष में, पिता और पुत्र में राजा और प्रजा में जाति-जाति में जो विरोध दिखायी पड़ता है, इसी विरुद्ध विद्याभ्यासप्रणाली का ही दुःखजनक फल है।

प्राचीन भारतद्वीप में शिक्षाप्रणाली का मौलिक सिद्धांत यह था कि, बुद्धिमान, बुद्धिहीन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, पुरुष, शिल्प के विशेष विशेष अधिकारवाले, जिनकी जातिगत शिक्षा परंपरा से चली आयी हो, विशेष-विशेष प्रवृत्ति वाले और विशेष-विशेष शक्तिसम्पन्न व्यक्ति सबका विचार करके अलग-अलग शिक्षा प्रणाली के चलाने की रीति प्रचलित थी। आज कल ठीक उससे विपरीत प्रणाली जगत् में चल रही है। आजकल के साइन्स के विद्वानों ने तुलनात्मक विचार करके यह सिद्ध करके दिखलाया है कि, चूहे या न्योले आदि को शिक्षा देकर उनसे जो काम लिया जाता है, उसके लिये उनको कम से कम 300 बार शिक्षा देनी पड़ती है और शिक्षित-माता-पिता के बच्चों को 20-25 बार शिक्षा देने से ही काम चल जाता है। जैसा हम पहिले कह चुके हैं इससे यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि, वंश परंपरा से आकृष्ट शक्ति शिक्षा में बहुत सहायक होती है, परंतु साइन्स द्वारा यह सिद्ध होने पर भी वर्तमान शिक्षा प्रणाली के सुधार करने में वर्तमान जगत् में इस प्रकार सिद्धांत को उपयोग में नहीं लाया गया है, जिससे जगत की शिक्षा प्रणाली अधूरी रह गयी है। योग्य, अयोग्य, अनुकूल प्रकृति, विरुद्ध प्रकृति, बुद्धिजीवी, बुद्धिहीन, स्त्री, पुरुष

सभी को एक ही शिक्षाप्रणाली में ले जोने के प्रयत्न जो वर्तमान जगत में हो रहे हैं, वे सभ्यता के नाशकारी है और प्रजा की आध्यात्मिक क्रमोन्नति के बाधक हैं। इससे मनुष्य-जाति का पतन होना अवश्यंभावी है। वर्तमान भारतद्वीप में जो उच्च शिक्षा प्रणाली के प्राप्त करने में राष्ट्रभाषा या मातृभाषा का सहारा न लेकर विदेशी भाषा का सहारा लिया जाता है, यह भी समय और शक्ति का दुरुपयोग करने वाला है। शिक्षा में शुल्क लेने की रीति प्राचीन काल में नहीं थी। शिक्षा दान को ब्रह्मदान कहा जाता और यह दान सबसे श्रेष्ठ समझा जाता था। शुल्क-ग्रहणपूर्वक शिक्षा प्रणाली के प्रचलित करने से राजा का तपोनाश और प्रजा की मेधा का अपलाप होता है, ऐसा प्राचीन भारतद्वीपवासी मानते थे और प्राचीन भारतद्वीप में शुल्क लेकर विद्यादान करना पापजनक समझा जाता था। यूरोप के कुछ सभ्य देशों में लोग इस प्रथा का दोष अब अनुभव करने लगे हैं।

भारतद्वीप की प्राचीन शिक्षा-शैली का आदर्श अवश्य ही इस समय के शिक्षाशैली-प्रवर्तक विद्वानों को ध्यान में रखना उचित है। यह तो प्राचीन इतिहास और नवीन इतिहास दोनों ही हाथ उठाकर साक्षी दे रहे हैं कि, अन्तर्जगत् संबंधी सब गंभीर तत्त्वों का सफलताजनक आविष्कार भारत की प्राचीन शिक्षाप्रणाली के परिणाम से ही उत्पन्न हुआ था, जैसा पहले प्रमाणित हो चुका। यह भी सर्ववादिसम्मत है कि, सब बड़े-बड़े विद्याविभागों का प्रथम आविष्कार उसी देश में हुआ था, जहाँ यह प्राचीन शिक्षा प्रणाली प्रचलित थी। विद्या में कुछ नवीन उन्नति करना कुछ और बात है औ उस विद्या का प्रथम आविष्कार करना और बात है। ज्योतिष, चिकित्साशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि की अब नूतन उन्नति बहुत कछ हुई है, परंतु उन सब शास्त्रों का आदिगुरु इस प्राचीन विद्याप्रणाली द्वारा शिक्षित भारतद्वीप ही है, जिसने विराट् ब्रह्माण्ड को करतलामलकवत् कैसे देखा था, सो हम पहले कह चुके हैं। प्राचीन भारतद्वीप की शिक्षा प्रणाली की यदि भलीभांति पर्यालोचना की जाय, तो निरपेक्ष विचारशील बुधजन इसी सिद्धांत पर पहुँचेंगे कि, जब तक शिक्षागुरु आचार्यगण निर्लोभ होकर विद्या दान करना अपना परमधर्म नहीं समझेंगे, जब तक जगत् के सब प्रकार के दानों में विद्यादान सर्वश्रेष्ठ नहीं माना जायेगा, जब तक सदाचार, त्याग और तपस्या विद्या के आचार्यों को सुशोभित नहीं करेगी, जब तक विद्यादान के स्थान राजभवन सदृश अट्टालिकाओं से हटकर सुरम्य वन-उपवनों में प्रधानतः नहीं आ जायेंगे, विद्यार्थियों को विद्याभ्यास के समय तप, त्याग, ब्रह्मचर्य गुरुसेवा, विलासविमुखता, शीलता और संयम आदि का उपदेश दृढ़तापूर्वक नहीं दिया जायेगा, जब तक स्त्री-पुरुष भेद और अधिकार भेद से शिक्षा देने की शैली नियमपूर्वक प्रचलित नहीं की जायेगी, जब तक प्रशान्त और महाशक्तिशाली

अतविस्तीर्ण दैवीजगत का लक्ष्य शिक्षा में सन्निविष्ट करके सर्वशक्तिमान भगवान और उनकी दैवीशक्तियों की महिमा विद्या के आचार्यगण अपने विद्यार्थियों के अन्तःकरण में खचित नहीं करेंगे, जब तक आर्ट (शिल्प), साइन्स (पदार्थविद्या) और फिलॉस्फी (दर्शनशास्त्र) तीनों की अलग-अलग शिक्षाप्रणाली स्थिर करते हुए उत्तरोत्तर तीनों की यथाक्रम महिमा स्थापित नहीं की जायेगी, जब तक विद्या और अविद्या का विवेक शिक्षादान प्रणाली में नहीं किया जायेगा, जब तक विद्याा के आचार्यों के उपदेशों में और उनके पाठ्यक्रम में काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष का यथार्थ स्वरूप और काम तथा अर्थ से धर्म और मोक्ष की विशेषता नहीं प्रतिपादित की जायेगी, जब तक पितृ मातृभक्ति, गुरुभक्ति, गुरुजनभक्ति, देशभक्ति और ईश्वरभक्ति की नियमित शिक्षा विद्यार्थियों के आचार-पालन के साथ-ही-साथ न दी जायेगी, जब तक राजनीतिक कौटिल्य ओर स्वार्थ के कलंक से लोकशिक्षा को बचाकर वह दानधर्म की विशुद्धता के रूप में परिणत न की जायेगी और जब तक धर्मशिक्षा की महिमा स्थापित न की जोयगी, तब तक भारतद्वीप के प्राचीन आर्यों की शिक्षा प्रणाली का अनुकरण वर्तमान काल में हो ही नहीं सकता। इन सब लोकपवित्रकारी प्राचीन भारतद्वीप के विद्यादान संबंधी रहस्यों का पूर्ण रीति से अनुसरण इस समय यद्यपि न भी हो सके, तथापि यथासंभव इन सिद्धांतों को ध्यान में रखने से अब भी जगत् का बहुत कुछ कल्याण हो सकता है।

संदर्भ

1. सार्द्धत्रिकोटिनाडभ्नामालयञ्च कलेवरम्।
लोम्निकूपे सपादार्द्धकोटयश्चैव सुन्दरि।।
हस्तास्ये च तथा पादेऽग्निलक्षनाडयः स्थिताः।
उदरे च तथा पायौ पञ्चलक्षाः प्रकीर्तिताः।।
हृदादिसर्वगात्रेषु नवलक्षाः प्रकीर्तिताः।
अथ पार्श्वे तथा चर्मे तथैव सर्वसन्धिषु।।
रुद्रा न्यूनं स्थितं लक्षं शरीरे नाड़यः प्रिये!।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना चित्रिणी तथा।।
ब्रह्मानाडी च यन्मध्ये पञ्चनाडयः प्रकीर्तिताः।
कुहूश्च शङ्खिनी चैव गान्धारी हस्तिजिह्विका।।
नर्दिनी च तथा निद्रा रुद्रसंख्या व्यवस्थिता।
एता नाड्यः परेशानि! सुपुम्नायाः प्रजायते।।
सार्द्धत्रिकोटयो नाड्यो हि स्थूलाः सूक्ष्माश्च देहिनाम्।
नाभिकन्दनिबद्धासतास्तिर्यगूर्दध्वमधः स्थिताः।।
द्विसप्तिसहस्रन्तु तासां स्थूलाः प्रकीर्तिताः।
देहे धमन्यो धन्यास्ताः पञ्चेन्द्रिय गुणावहाः।।
आपादतः प्रततमात्रमशेष मेषा—

मामस्तकादपि च नातिपुरःस्थितेन।
एतन्मृदङ्ग इव चर्मचयेन नद्धं
कायं नृणामिह शिराशतसप्तकेन।।

—तोडलतन्त्रे, अष्टमोल्ला से

2. आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः।।
सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।।
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः।।
तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा।।
ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमि च निर्ममे।
मध्ये व्योमं दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम।।

—मनुः, अध्याय 1

तस्येहावयवैर्लोकान्कल्पयन्ति मनीषिणः।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्द्ध्वं जघनादिभिः।।

—विष्णुभागवत, स्कं. 5

3. संन्यासाश्रमभेदाश्च चत्वार इह ईरिताः।
कुटीचकस्तु प्रथमो द्वितीयस्तु बहूदकः।।
हंसः परमहंसश्च द्वाविमावन्तिमौ स्मृतौ।
संन्यासदीक्षामादाय कामिन्यादीन्विहाय च।।
कुटीचकः स संन्यासी नगरप्रान्तसीमनि।
क्वचिन्मनोरमे स्थाने कुटीं निर्माय संवसेत्।।
योगोपनिषदध्यायैः कुर्यादाध्यात्मिकोन्नतिम्।
बहूदकस्तु संन्यासी न वसेदधिकं क्वचित्।।
दिनत्रये प्रतिस्थानं स्थित्वान्यत्रसुखं व्रजेत्।
तीर्थादिकं परिभ्रम्य यथावत्साधनादिभिः।
आत्मोपलब्धौ सततं यतेताऽयं महामनाः।।
संन्यासी ज्ञानवान् हंसो विधाय भ्रमणं मुदा।
संसारे ज्ञानविस्तारं कुयदिव प्रयत्नतः।।
पूज्यः परमहंसः स संन्यासी विगजज्वरः।
कुर्वन्नकुर्वन्वा किञ्चिदसौ नारायणः स्मृतः।।
कौपीनं गौरिकं वस्त्रं दण्डञ्चापि कमण्डलुम्।
सततं यत्नतः सम्यक् गृह्णीरन् प्रथमास्त्रयः।।
अस्मिन्परमहंसस्य नियमो नास्ति कश्चन।
ध्रुव विधिर्निषेघश्च तदिच्छाधीनतामितः।।
पञ्चधा सगुणोपास्तावधिकारी कुटीचकः।
सुयोग्यःकीर्तितः सम्यग् ज्योतिर्ध्याने बहूदकः।।
हंसो बिन्दू पासनायामधिकारी निगद्यते।

पुण्यः परमहंसोऽसौ ब्रह्मोपास्तौ स्वतः क्षमः।।
वस्तुतोऽधिकृतिप्राप्तौ सर्वे संन्यासिन सुखम्।
ब्रह्मोपास्ति सदा कर्तुमर्हन्तीतरथा न हि।।

—*संन्यासगीता, अ. 6*

4. अहमेवास्मि भो देवाः! धर्मकल्पद्रुमस्य च।
बीजं मूलं तथाऽऽधारो नात्र कश्चन संशयः।।
स्कन्धस्तस्य द्रुमस्यास्ते धर्मो वै विश्वधारकः।
मुख्यं शाखात्रयञ्चास्य यज्ञो दानं तपस्तथा।।
ब्रह्मार्थाऽभयदानानि देवाः त्रैगुण्ययोगतः।
दानस्य प्रतिशाखा : स्युर्नवधा नात्र संशयः।।
तपोऽपि त्रिविधं ज्ञेय कार्यवाणीमनोभवम्।
त्रैगुण्ययोगेनास्यापि प्रतिशाखा नवासते।।
प्रतिशाखा अनेकाः स्युर्यज्ञशाखासमुद्भवाः।
काम्याध्यात्माधिदैवाधिभूतनैमित्तनित्याकाः।।
कर्मयज्ञप्रशाखाया भेदास्त्रैगुण्ययोगतः।
त एवाष्टादशास्य हि प्रतिशाखा मनोहराः।।
पितृदेवर्षिवृन्दानामवतारगणस्य च।
पञ्चानां सगुणब्रह्म-रूपाणां निर्गुणस्य च।।
ब्रह्मणश्चासुरौधाणामुपास्तेः पञ्च भक्तितः।
मन्त्रो हठो लयो राज एते योगेन च ध्रुवम्।।
अस्या भेदाश्च चत्वारो भेदा एवं नवासते।
एते भेदा नवैवाहुः देवाः! त्रैगुण्ययोगतः।।
उपास्तेः प्रतिशाखाः स्युः सङ्ख्यया सप्तविंशतिः।
श्रवणं मननञ्चैव निदिध्यासनमेव च।
त्रयोऽमी ज्ञानयज्ञस्य भेदास्त्रैगुण्ययोगतः।
नवधा सम्विभक्ता हि प्रतिशाखा नवासते।।
द्विसप्तत्या प्रशाखाभिः शाखाभिश्चैवमेव भोः।
निजानां ज्ञानिभक्तानां धर्मकल्पद्रुमात्मना।।
विराजे स्वान्तदेशेऽहं निर्ज्जराः! नात्र संशयः।
धर्मकल्पद्रुमस्यास्य पत्रपुष्पात्मकान्यहो।।
उपाङ्गानि न सख्यातुमर्ह्याणि कैरपि क्वचित्।
विचित्राणि मनोज्ञानि सन्ति तानि ध्रुवं सुराः।।
पक्षिणौ द्वौ सदा तत्र जगतां महाकारिणौ।
मनोज्ञे वृक्षराजे स्तो वसन्तो शाश्वतीः समाः।।
स्वादतेऽभ्युदयस्यैको ह्यपक्वे द्वे फले तयौः।
अपरश्चतुरः पक्षी सुपक्वं त्वमृतं फलम्।।
सुस्वाद्यास्वाद्य गीर्वाणाः! नून निःश्रेयसं पदम्।
ब्रह्मानन्दसमुल्लास-सार्थकत्व प्रकाशयेत्।।

11

रामायण

वेद में जो इतिहास और पुराणों के नाम आते हैं और अब भी भारतद्वीप के साहित्य का सहस्रांश रह जाने पर भी जो पुराण और इतिहासग्रंथ प्राप्त होते हैं, उनके अनुशीलन द्वारा यही सिद्ध होता है कि, दैवीजगत् के चरित्र जिस ग्रंथ में अधिक हों, वह पुराण है और लौकिक जगत् के चरित्र जिसमें अधिक हों, वह इतिहास है। जैसा कि, पहिले कहा गया है। दूसरी ओर इस समय उपलब्ध होने वाले प्राचीन भारतद्वीप के ऐतिहासिक ग्रंथों में से दो ही महाग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। एक रामायण और दूसरा महाभारत। इस कारण उन दोनों में से लौकिक इतिहास के रहस्य का अनुसंधान करना युक्तियुक्त होगा। सबसे पहिले रामायण में से देश, काल और पात्र तथा राजनीतिक श्रृंखला और सामाजिक शृङ्खला की खोज करना उपकारी होगा।

रामायण से यह बात स्पष्ट होती है कि, भगवान् रामचन्द्र का अवतार आदर्श-मानव जीवन बिताने के लिये और भगवती सीता का आदर्श नारी जीवन का दृष्टांत संसार में स्थापन करने के लिये हुआ था। रामावतार से पूर्व परशुराम के द्वारा इक्कीस बार पृथ्वी क्षत्रिय शून्य हो चुकी थी, जिससे संसार में क्षात्रशक्ति का बहुत अभाव हो गया था। संसार में धर्म की स्थिति और ब्रह्माण्ड प्रकृति में नियम और अवस्था तभी तक रह सकती है, जब तक ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति के बीच में सामंजस्य की रक्षा हो। सामंजस्य बिगड़ गया था। इसलिये श्रीभगवान् को परशुरामरूप से क्षात्रशक्ति का नाश करके उस समय के लिये दोनों शक्तियों के बीच में सामञ्जस्य स्थापन करना पड़ा था यद्यपि उस प्रकार क्षात्रशक्ति के नाश के द्वारा उस काल के लिये ब्राह्म–क्षात्र दोनों शक्तियों में समता स्थापित हुई, तथापि परवर्ती काल में क्षत्रिय वंश नाश के कारण क्षात्रशक्ति धीरे-धीरे हीनबल होने लगी, जिससे संसार में धर्मरक्षा के कार्य में बहुत ही बाधा होकर युगानुकूल धर्म की कमी हो गयी।

धर्मरक्षक क्षात्रशक्ति के नाश से ब्राह्मशक्ति बहुत अन्यायरूप से बढ़ने लगी। जिस कारण ब्राह्मण्ड वंश में भी रावण जैसे अत्याचारी पापी दुर्दान्त राक्षस उत्पन्न होने लगे। इसलिये त्रेतायुग के उस काल में ब्रह्माण्ड प्रकृति की ओर से यह प्रेरणा हुई कि, ऐसा कोई अलौकिक भगवत् शक्ति अवतार रूप से प्रकट हो, जो हीनबल, क्षत्रिय शक्ति को पुनः जीवित करके क्षत्रियकुल में एक आदर्श-मानवचरित्र स्थापन कर सके और असुर तथा राक्षसभावापन्न ब्राह्मण शक्ति को नष्ट करके क्षात्रशक्ति के साथ ब्राह्मशक्ति का धर्मानुकूल सामञ्जस्य स्थापन कर सके। इन्हीं दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिये श्रीभगवान् रामरूप में क्षत्रिय वंश में प्रकट हुए और प्रकृतिमाता सीता देवी उनकी सहधर्मिणी बनीं।

रावण के अत्याचार से अनेक सती स्त्रियां भ्रष्ट हो रही थीं, पतिव्रता का परम आदर्श संसार से प्रायः लुप्त हो रहा था, सती स्त्रियों के मर्मभेदी रोदन तथा अभिसम्पात से दस दिशाएँ गूँज उठी थीं। इस कारण उस समय ब्रह्माण्ड प्रकृति में यह आवश्यकता उत्पन्न हुई थी कि, ऐसी एक आदर्श सती उत्पन्न हो, जिसके आदर्श को देखकर सतियों के चित्त में बल प्राप्त हो और सतीधर्म का आदर्श स्थापित होकर सतीत्व के प्रताप का चमत्कार संसार में प्रकट हो जाये। रावण जैसे प्रतापी राक्षस अग्नि में पतङ्ग की तरह जलकर खाक हो सकें और अटल अचल पातिव्रत्य का आदर्श भविष्यत् काल में संसार की नारियों के हृदय में अङ्कित हो जाये। ब्रह्माण्ड-प्रकृति में उत्पन्न इसी महान् प्रेरणा को सफल करने के लिये महामाया का सीतारूप में अवतार हुआ था। दुर्दान्त रावण के द्वारा सती स्त्रियों पर क्या-क्या अत्याचार होता था, इसका वर्णन रामायण में है।[1]

दिग्विजय करके लौटते समय दुरात्मा रावण रास्ते में देवकन्याओं, ऋषिकन्याओं, दानकन्याओं और राज कन्याओं का हरण करने लगा। कन्या स्त्री जिसको सुंदरी देखा, उसी के कुटुम्बियों को मारकर उन्हें पुष्पक विमान में भरने लगा। इस प्रकार से राक्षस, असुर, मनुष्य, पन्नग तथा दानवकन्याओं को अपने विमान में रखने लगा। चुराई हुई स्त्रियां दुःख से मर्मभेदी रोदन तथा आँसुओं की धाराएँ बहाने लगीं। वह शोकाग्नि और भय से उत्पन्न नेत्र जल अग्निशिखा की तरह ऊष्ण था। स्त्रियों ने विलाप करते हुए कहा—"अहो! यह दुराचारी परस्त्रीहरणरूप पापकर्म करता हुआ अपने आत्मा को निन्दित नहीं समझता। जबकि, यह राक्षसाधम दूसरे की स्त्रियों में यथेच्छ रमण करता है, तब यह दुर्गति स्त्री के कारण ही विनाश को प्राप्त होगा।।" ऐसा ही हुआ भी।

रामावतार-चरित्र वीर, करुण, वात्सल्य, मधुर, भयानक, अद्भुत आदि सकल रसों का आदर्श संसार में स्थापन करके समस्त संसार के जीवों के हृदय-हृदय में सुशोभित

हुआ है। पूर्ण मानव कौन है, जिसके आदर्श को देखकर प्रत्येक गृहस्थ अपने जीवन को पूर्ण जीवन बना सकते हैं तथा प्रत्येक क्षत्रिय नरपति अपने राजधर्म के पूर्णानुष्ठान द्वारा इह लोक परलोक में कृतकृत्य हो सकता है? इस प्रकार महामुनि बाल्मीकि के प्रश्न करने पर देवर्षि नारद ने श्रीभगवान् रामचन्द्र को ही ऐसे पूर्ण मानव के आदर्श रूप से वर्णन किया था।

प्राचीन समय में जितने राज्य हुए, उनमें रामराज्य सर्वश्रेष्ठ और आदर्श स्वरूप माना जाता है। जिस राजा का शासन सर्वोत्तम होता है, उसके राज्य को आज भी रामराज्य की उपमा दी जाती है। रामराज्य की उत्कृष्टता का सर्वप्रधान कारण यह है कि, उसमें छोटी-से-छोटी मर्यादा का भी कभी उल्लङ्घन नहीं हुआ। मनुष्य समाज की धारणा के प्रधान चार अङ्ग हैं। यथा–1. समाज चिरस्थायी रूप से सुशृङ्खल रहे, 2. बलवानों से दुर्बलों की रक्षा हो, 3. योग्यता पुरस्कार और अयोग्य का तिरस्कार होता रहे और 4. समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति श्रम-विभाग और योग्यता के अनुसार की जाये। रामायण काल में इन चारों अङ्गों का पूर्ण उत्कर्ष हुआ था; इसी से मर्यादाभङ्ग का कभी अवसर ही उपस्थित नहीं हुआ।

पूर्वाध्याय में हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि, राजसत्ता से प्रजासत्ता और प्रजासत्ता से राजसत्ता सम्मानित और सुरक्षित होकर राजा-प्रजा सत्ता की राजशासनप्रणाली ही संसार में आदर्श स्वरूप मानी जा सकती है। भगवान् श्रीरामचन्द्र जी के राज्यशासन की स्मृति जब तक मनुष्य समाज को रहेगी, तब तक इस सिद्धांत की पुष्टि होती रहेगी। राजप्रजा-सत्ता शासन की उस समय की सबसे महत्त्व की रीति यह थी कि, राजा स्वेच्छा से कोई बड़ा कार्य नहीं करता था। जो कुछ करता, परिषदों की सम्मति लेकर। लोकमतानुसार राज्यप्रबन्ध के लिये उस समय जो परिषदें होती थीं, उनमें लोगों के प्रतिनिधि श्रेष्ठ ऋषिगण, बड़े-बड़े समाजनेता, माण्डलिक राजा और सर्वसाधारण नागरिक सम्मिलित होते थे। सबको समान रूप से मतामत प्रकट करने को पूर्ण अधिकार था। परिषद में उपस्थित होने वालों को स्वयं राजा अथवा उनके वशिष्ठ जैसे सर्वज्ञ पुरोहित निमन्त्रित किया करते थे। ऐसी परिषद में अनुकूल प्रतिकूल सब प्रकार के लोग समान रूप से सम्मिलित होकर सच्चा लोकमत प्रकट होता था। चुनाव की इससे अच्छी प्रथा हो नहीं सकती। पूर्वकाल में राजसत्ता पर लोगों का दबाव नहीं था, इस प्रकार का आक्षेप करने वालों का दबाव नहीं था, इस प्रकार का आक्षेप करने वालों को वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड का शान्तचित्त से अध्ययन करना चाहिए।

राजा दशरथ ने वशिष्ठ से परामर्श कर रामचन्द्र को यौवनराज्याभिषेक करने का जब निश्चय किया, तब वशिष्ठ ने एक महापरिषद आमन्त्रित की थी। उसमें

सब वर्ण, जाति और पन्थों के छोटे-बड़े लोग उपस्थित हुए थे। राजा के प्रस्ताव उपस्थित करने पर सबने एक स्वर से अनुमति दी। एक भी विरोधी न देखकर राजा को आश्चर्य हुआ और उसने प्रश्न किया था कि, जब मैं धर्मानुसार पृथ्वी का पालन कर रहा हूँ, तब आप राम को अभिषेक करने की क्यों अनुमति देते हैं? इस पर परिषद ने उत्तर दिया—"राम आत्मीयों की तरह प्रायः प्रातः सायं पुरवासियों और वनवासियों से उनके पुत्रों, अग्निहोत्रों, स्त्रियों, सेवकों आदि के संबंध में कुशल प्रश्न पूछा करते हैं कुशल पूछते हुए उनका व्यवहार पिता जैसा होता है। इसी से नगर तथा राष्ट्र के आबालवृद्ध स्त्री-पुरुष राम का मङ्गल मनाते और चाहते हैं कि, आपके शासन कार्य में वे योगदान करें।"

एक और आक्षेप रामनिर्वासन के संबंध में किया जाता है। यदि प्रजा की राम के प्रति प्यार के कारण यह भावना थी कि,—"जहाँ राम राजा नहीं, वह राष्ट्र नहीं और जहाँ राम हों,—चाहे वह अरण्य ही क्यों न हो,—वही राष्ट्र है।"[1] तो उन्हें बन जाने की आज्ञा देते समय प्रजा ने दशरथ पर अपना प्रभाव क्यों नहीं डाला? और उन्हें जाने से क्यों नहीं रोका? इसका समाधान यह है कि, रामचन्द्र को जिस प्रकार अपने पिता के सत्य की रक्षा करनी थी, उस प्रकार प्रजा को भी करनी थी। प्रजा नहीं चाहती थी कि, अपना राजा झूठा हो जाये। सत्यप्रतिज्ञ होना ही राजा का मुख्य गुण है। भरत ने प्रजाजन से जब कहा कि, तुम राम को समझा-बुझा के लौटा लाओ। तब प्रजा ने यही उत्तर दिया कि, 'हे आर्य! राम को हम पहचानते हैं। वे पिता की आज्ञा का परिपालन कर रहे हैं। उससे परावृत्त करना हम उचित नहीं समझते।" सत्यरक्षा के लिये दशरथ ने राम का निर्वासन ही किया था, कठोर से कठोर दण्ड देने में विचलित नहीं होते थे। सिद्धार्थ नामक एक मंत्री ने कैकेयी को सगर के पुत्र असमंज नामक एक राजपुत्र की कथा सुनायी थी। असमंजस अपनी नगरी के बालकों को पकड़कर, उन्हें सरयू में डुबाकर, अपना मनोरंजन कर लिया करता था। जब उसके पिता ने यह समाचार सुना, तब उसे पकड़कर मंगवाया और उसका सब धन छीनकर उसे स्त्री सहित देश से निकाल दिया। ध्यान में रखने योग्य बात यह है कि यह देशनिकाले का दण्ड राजा ने अपने इकलौते और उत्तराधिकारी पुत्र को दिया था।

यह कोई नियम नहीं कि, प्रजा अपने राजा की हर एक बात का प्रतिरोध ही करती रहे। जहाँ सार्वजनिक हित में बाधा होती हो, वहीं राजा का विरोध करना पड़ता है। जहाँ प्रजा के प्रति राजा उत्तरदायी है, प्रजा के कल्याण के लिये अपने सर्वस्व का होम करने में संकुचित नहीं होता। वहाँ विरोध की कोई आवश्यकता नहीं रहती। रामचन्द्र प्रतिज्ञा करते हैं कि,—प्रेम, दया, सब प्रकार का सुख,—यही

क्यों—जानकी को भी प्रजारंजन के लिये मुझे छोड़ना पड़े, तो इससे मुझे कुछ भी दुःख नहीं होगा।[3] ऐसी अवस्था में राजा का विरोध करने का प्रजा को प्रयोजन ही क्या रह जाता है?

सीता को वन में छोड़कर जब लक्ष्मण लौटने लगे, तब राम से निवेदन करने के लिये सीता ने उनसे यही संदेश कहा कि,—"आर्य! आप जैसा अपने भाइयों पर प्यार करते हैं, वैसा ही प्रजा पर करें। इसी से आपकी उत्तम कीर्ति होगी।" अत्यंत सङ्कटावस्था में भी राजपरिवार के लोग प्रजा के कल्याण की कितनी चिन्ता करते थे, इसका परिचय इस उदाहरण से मिल सकता है।

सारांश, प्रजानुरंजन ही राजा का प्रधान लक्ष्य होना चाहिये। इसके लिये राजा या सरकार को अपूर्व स्वार्थ त्याग करना पड़ता है। हमारे प्राचीन राजाओं में स्वार्थ त्याग का भाव लोकोत्तर था। राम जब दण्डकारण्य में थे, तब बहुत से ऋषियों ने उद्दण्ड राक्षसों के उपद्रवों का वर्णन कर उससे छुड़ाने का अनुरोध किया और राम ने भी उनके दुःख दूर करने का आश्वासन दिया। उस समय सीता ने कहा,—"आर्य! अब हम वनवासी हैं। यहाँ शस्त्र धारण करने का प्रयोजन नहीं है। अयोध्या में लौटकर राक्षसों का प्रबंध किया जायेगा।" इस पर राम उत्तर देते हैं—"हे सीते! कहीं से दीन दुःखियों का शब्द सुनाई न दे, इसीलिये क्षत्रिय धनुष धारण करते हैं। एक बार प्रतिज्ञा करने पर विशेषतया ब्राह्मणों के सामने प्रतिज्ञा करने पर चाहे अपने प्राणों को अथवा लक्ष्मण और तुमको भी छोड़ दूँगा, किंतु अपनी प्रतिज्ञा से नहीं डिगूंगा। ऋषियों के राक्षण का कार्य मुझे बिना कहे ही करना चाहिये, कहने पर तो बात ही क्या है?"[4]

इस प्रकार की कर्तव्यजागृति किस राजा के अन्तःकरण में वास करती हो, उसके राज्य में अशान्ति रहना असम्भव है। राजा की कर्तव्यभ्रष्टता प्रजा को बहुत कष्ट पहुँचाती है। जब प्रजा को विश्वास हो जाता है कि, अपनी अनुमति के बिना राजा कोई कार्य नहीं करता, तब प्रजा के हृदयों में स्वाभाविक रूप से ही उसके प्रति आदर बना रहता है। राजभक्ति उत्पन्न करने के लिये नाना प्रकार के प्रलोभनों या दण्डों का प्रयोजन नहीं होता। यही कारण था कि, रघुवंशी राजाओं की अयोध्या में कोई स्त्री या पुरुष दरिद्र या कुरूप नहीं था। राजद्रोही मनुष्य तो वहाँ ढूंढे से भी नहीं मिलता था। श्रीरामचन्द्र जी के राज्यकाल में स्त्रियों को वैधव्य दुःख नहीं देखना पड़ता था और किसी को भी सर्पभय तथा रोग का भय नहीं होता था। चोर, दस्यु आदि का कोई भी अत्याचार नहीं था। किसी प्रकार का उपद्रव नहीं था और वृद्ध पिता-माता को कभी उनके जीते जी मृत पुत्र का श्राद्धा कर्म नहीं करना पड़ता था। सभी लोग आनन्दपूर्ण और सभी धर्मपरायण थे। श्रीरामचन्द्र के धार्मिक भाव

का आदर्श पाकर कोई भी परस्पर हिंसा में लिप्त नहीं होते थे। सहस्त्रों पुत्रों के साथ सहस्रों वर्षों तक नीरोग तथा शोकशून्य होकर मनुष्य जीवित रहते थे। वृक्ष सदा ही फल फूल मूलों से सुशोभित रहा करते थे। इच्छामात्र से ही मेघ जलवर्षण करता था और शीतल मंद सुगन्धयुक्त सुखस्पर्श वायु बहा करता था। अपने कर्म से तृप्त होकर प्रजा अपने कर्म में ही तत्पर रहती थी। सभी लोग धर्मपरायण थे और कहीं भी मिथ्या-व्यवहार का प्रचार नहीं था। सब शुभ लक्षण और स्वधर्म से विभूषित थे।[5] यही आदर्श नरपति श्रीरामचन्द्र के पुण्यबल से रामराज्य में प्रजासुख की पराकाष्ठा अपूर्व दृष्टांत है।

प्राचीन समय में राजा और प्रजा में उक्त प्रकार का विश्वास, आदर और प्रेम बना रहने का कारण यह है कि, दोनों धर्म के सूत्र में बँधे हुए थे। भारतद्वीपवासी स्वभावतः शन्तिप्रिय और कर्तव्यनिष्ठ होते हैं। यही कारण है कि, हमारे इतिहास पाश्चात्य इतिहासों की तरह राजा और प्रजा के कलहों के वर्णनों से रंगे हुए नहीं हैं। समस्त प्राचीन इतिहास में एकमात्र वेन राजा का ही उदाहरण है कि, उसे प्रजा को पदच्युत करना पड़ा था। शेष रावण से लेकर दुर्योधन तक—जो असुर कहते थे, सभी राजा प्रजापालन के कर्तव्य से विमुख नहीं हुए, प्रजारंजन के धर्म से च्युत नहीं हुए।

उस समय राजा जिस प्रकार प्रजा की अनुमति के बिना कोई कार्य नहीं करता था, उसी प्रकार प्रजा भी राजा के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकती थी। दशरथ के देहावसान के समय एक भी पुत्र उपस्थित नहीं था। तब प्रजा ने मंत्रियों से अनुरोध किया कि, किसी राजपुत्र को बुलाकर शीघ्र ही उसे गद्दी पर बिठाया जाये। बिना राजा के राज्य में कैसा अंधेर होता है, इसका वर्णन प्रजा ने इस प्रकार किया है—"हमारे राष्ट्र में यदि राजा न हो, तो राष्ट्र का नाश हो जायेगा। राष्ट्रवर्धक उत्सवादि बंद हो जायेंगे। बिना राजा के राज्य में धनिक लोग सुरक्षित नहीं होते। राजा यदि न हो, तो भले-बुरे का निर्णय कर यथान्याय व्यवस्था नहीं होती और सर्वत्र अंध ाकार कुछ नहीं रह जाता। सभी एक दूसरे को मछलियों की तरह भक्षण करने लगते हैं।"

रामराज्य का प्रधान कर्तव्य चातुर्वण्य की रक्षा करना था। चारों वर्ण शास्त्रविहित अपने-अपने कर्म करें, कोई किसी के कार्य में विघातक न हो और सब मिलकर राष्ट्र का संवर्धन करें, यही उस समय की राजनीति का प्रधान उद्देश्य था। जो राजा को अभीष्ट था, वही प्रजा को। दोनों के हित संबंध एक और अन्योन्याश्रयी थे जहाँ राजा-प्रजा के हितसंबंध भिन्न हाते हैं, वहीं राजा को प्रजा पर या प्रजा को राजा पर दबाव डालना पड़ता है। रामराज्य में इसकी आवश्यकता नहीं थी। बहुत

से ऐसे विभाग थे, जिनकी ओर देखने का प्रजा को प्रयोजन नहीं था और बहुत से ऐसे थे, जो प्रजा के अधीन थे, उनकी ओर राजा को दृष्टिपात करने की आवश्यकता नहीं थी।

उदाहरणार्थ—नहर, मुद्रा, अर्थ आदि विभागों पर प्रजा कभी विचार नहीं करती थी; क्योंकि बिना किसी के कहे ही सरकार इन विभागों को लोकहित की दृष्टि में रखकर अग्रसर करती जाती थी। राजा की आय के मार्ग निश्चित थे। सबसे बड़ी आय भूमिकर से होती थी। शास्त्राज्ञा के अनुसार जमीन की पैदावार का छठा हिस्सा राजा का होता था; इससे अधिक वसूल करना पाप समझा जाता था। प्राचीन भारतद्वीप में जैसे शुल्क लेकर विद्यादान करना पाप समझा जाता था, जैसे ही छठे हिस्से से अधिक कर लेना भी पाप समझा जाता था। भरत ने दशरथ की मृत्यु के पश्चात् जो शपथें ली हैं, उसमें एक शपथ यह भी है कि, भूमि-कर का छठा हिस्सा लेकर भी जो राजा प्रजा का उत्तम रीति से पालन नहीं करता, उसे जो पाप लगता है, वही पाप उसे लगे, जिसकी अनुमति से रामभद्र वन में भेजे गये हैं। मनमाना भूमिकर लगाकर कृषकों को भूखे रखने की प्रथा उस समय नहीं थी। भूमि-कर की आय से म्युनिसिपल्टी, पब्लिक वर्क्स, कृषि, डाक आदि प्रजाकल्याण के विभागों का काम चलता था। राजा की आय का दूसरा मार्ग माण्डलिकों से प्राप्त होने वाला राजस्व था। यह राजस्व माण्डलिक अपने खर्च का निर्वाह कर बची हुई रकम में से दिया करते थे। इस आय से सेना, पुलिस, वनरक्षा आदि विभागों का काम चलता था। आय का तीसरा मार्ग परदेश के साथ किये जाने वाले व्यापार का था। चीन, ईरान, ग्रीस, बेबिलोनिया, ईजिप्ट, मध्य युरोप आदि देशों के साथ, जिनके नाम रामायण में और-और तरह से पाये जाते हैं, प्राचीन समय में भारतद्वीपवासी व्यापार करते थे। इससे राजा को जो कर मिलता था, उससे शिल्प की वृद्धि और कौटुम्बिक खर्च का निर्वाह होता था। खनिज-रत्नादि से होने वाली आय से कोष की वृद्धि और वैभव की वृद्धि और कौटुम्बिक खर्च का निर्वाह होता था। खनिज-रत्नादि से होने वाली खनिज-रत्नादि से होने वाली आय से कोष की वृद्धि और वैभव की वृद्धि की जाती थी। आय का यह चौथा मार्ग था। इसके अतिरिक्त छोटे-मोटे आय के मार्ग थे, किंतु उनका विशेष महत्व नहीं था और उस आय से रानियों, राजपुत्रों और अन्य गुणिजन की श्रीवृद्धि की जाती थी।

सबसे छोटी रकम,—जैसे दहेज, भेंट आदि व्यवहारों से प्राप्त होने वाली रकम,—राजपरिवार में व्यय होती थी। मामा के घर से लौटते समय भरत को भेंट में प्राप्त हुई सम्पत्ति का उल्लेख रामायण में है, जो भेंट उसने स्वीकार नहीं की थी। परंतु ऐसी छोटी रकमों से ही रानियों और राजपुत्रों की व्यक्तिगत सम्पत्ति

इतनी अधिक हो जाती थी, जितनी वर्तमान समय के बड़े-से-बड़े महाराजाओं के पास भी नहीं होती। राम ने वन जाते समय अपनी सब व्यक्तिगत सम्पत्ति दान की थी। उसका ब्यौरा देखने से ज्ञान होता है कि, यह करोड़ों की सम्पत्ति थी। इसी तरह कैकेयी, सुमित्रा आदि रानियों तथा भरत, लक्ष्मण आदि राजपुत्रों की सम्पत्ति भी अटूट थी। जब सहज में दान करने योग्य राजपरिवार के लोगों की व्यक्तिगत सम्पत्ति इतनी अधिक होती थी, तब प्रत्यक्ष राज्यकोष कितना पुष्ट होगा, इसका अनुमान करना कठिन है। उस समय की प्रजा राजा से अधिक स्मृद्धिशाली और सुखी थी और उसकी आय और व्यय के विभाग भी शास्त्र के अनुसार नियमित रहने से प्रजा की समृद्धि के साथ-ही-साथ देश में दान और धर्म की मात्र इतनी अधिक थी कि, इस समय उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती। राजा और प्रजा दोनों की समृद्धि, सुख और शान्ति का प्रधान कारण यह था कि, दोनों की नीयत धर्मानुकूल थी और धर्म के बताने वाले वनवासी महर्षिगण निःस्वार्थ थे, समृद्धि की कुछ भी आशा नहीं रखते थे। रामायण में लिखा है कि, राम जब चौदह वर्षों का वनवास समाप्त कर अयोध्या लौटे, तो उन्होंने क्या देखा कि, अन्नागार और कोषागार पहिले से दस गुना बढ़ गया है। यह तो निश्चित ही है कि, प्रजा का रक्त चूसकर यह धन एकत्र नहीं किया गया था। क्योंकि दशरथ या भरत के शासनकाल में प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति रोम-रोम प्रसन्न था और राम के शासनकाल में तो वह प्रसन्नता सहस्र गुण बढ़ गयी थी। उस समय व्यक्तिगत और राष्ट्रीय सम्पत्ति के अपरम्पार बढ़ने का कारण यह था कि, लोग धर्माचरण में तत्पर थे। विलासिता की मात्रा उनमें नहीं थी। वे शादी रहन-सहन और मितव्ययिता के महत्व को जानते थे और सबसे बढ़कर बात यह थी कि, अन्य देश अनेक प्रकार से भारत का अन्याय से रक्तशोषण करने नहीं पाते थे। इसी से राष्ट्रीय ऋण लेने का प्राचीन इतिहास में कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

उस समय देश की आय का अधिकांश सेनाविभाग में खर्च नहीं किया जाता था। प्रजा के प्रति राजा का विश्वास ही इसका कारण है। राज़ा और प्रजा के हितसंबंध जहाँ एक हैं, वहाँ अधिक व्यय सेनाविभाग में करने का प्रयोजन नहीं होता। काम पड़ने पर प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति सैनिक बन जाता है। अब भी यूरोप में जो स्वयं-सेवक पद्धति प्रचलित है, उससे बिना व्यय के सेना तैयार हो जाती है। प्राचीन भारत में स्वयं सेवक प्रथा धर्मानुकूल होने से व्यय का बोझा बढ़ने नहीं पाता था। क्योंकि उस समय क्षत्रियमात्र ही स्वयं सैनिक और स्वयंसेवक था। पहिले के राजा सुसज्ज सेना थोड़ी-बहुत रखते थे; परंतु सभी आय उसमें स्वाहा नहीं कर देते थे। राम को लौटा लाने के लिये जब भरत चले, तब उनके साथ नौ हजार हाथी, साठ हजार

रथ और एक लाख घुड़सवार थे, ऐसा वर्णन है। परंतु यह या इसी प्रकार की अन्य सेना काम पड़ने पर तैयार कर ली जाती थी। प्रत्येक नागरिक राष्ट्र की रक्षा करना और राजा के लिये प्राणविसर्जन करना अपना कर्तव्य समझता था।

प्राचीन काल की युद्धनीति भी न्यायधर्म के अनुसार ही प्रवर्तित होती थी। स्वार्थपूर्ण अधर्मयुद्ध प्राचीन काल में असुरगण और राक्षसगण ही किया करते थे। अधर्मयुद्ध करना न्यायपक्षपाती देवगण अथवा वर्णाश्रमी क्षत्रियगण जानते ही नहीं थे। जैसे देवलोक में सृष्टि सामञ्जस्य-रक्षा के लिये और विश्वधारक धर्म की प्रतिष्ठा के लिये देवतागण देवासुर-संग्राम में प्रवृत्त हुआ करते हैं, इसी आदर्श के अनुसार इस मृत्युलोक में क्षत्रिय राजन्यवर्ग केवल धर्मरक्षा, प्रजापालन और न्यायधर्म के पालन के लिये ही धर्मयुद्ध में प्रवृत्त हुआ करते थे। दूसरे का धन अथवा भूमि अपहरण करने के लिये वे युद्ध करना पाप और अन्याय समझते थे। इस संसार में युद्ध का होना अपरिहार्य है। युद्ध प्रकृति का स्वाभाविक कार्य है। इस कारण संसार में युद्ध होना भी स्वाभाविक है। परंतु स्वर्गलाक में देवतागण और मनुष्यलोक में प्राचीन क्षत्रियगण केवल लोकरक्षा, दुष्टों का संहार, स्वधर्म पालन और जगत् के कल्याण के लिये ही युद्ध में प्रवृत्त होते थे। न्याय विरुद्ध युद्ध करने वालों को असुर या राक्षस समझते थे।

उस समय के राजा राज्य को अपना परिवार मानकर प्रजा को अपनी सन्तति के समान मानते थे और राजशासन का बहुत सा भार प्रजा पर सौंप देते तथा बड़े-बड़े विषयों पर प्रजा की सम्मति लेते थे। उस समय की राजशासनप्रणाली देनलेन अथवा व्यापार के ढंग पर नहीं चलायी जाती थी। एक गृहपति जैसा स्नेह से अपने कुटुम्ब का प्रबन्ध करता है, वैसा एक राजा अपने राज्य का प्रबन्ध किया करता था। राजा प्रजा दोनों एक-दूसरे से सच्चे हृदय से संबंध युक्त थे।

वर्तमान समय के उन्नत कहानेवाले देश विचारस्वातन्त्र्य के बड़े पक्षपाती हैं; परंतु प्रत्यक्ष व्यवहार में उनकी यह धारणा रहती है कि प्रजा को विचार करने और उन्हें प्रकट करने की अनुमति देना न देना राजसत्ता के अधिकार में है प्राचीनकाल में भारतीयों की यह भावना नहीं थी। उस समय विचारस्वातन्त्र्य मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार माना जाता था, उस पर किसी सत्ता का दबाव नहीं था। यही नहीं, विचार स्वातन्त्र्य के अनुसार लोग जो मत प्रकट करते थे, राजा की ओर से उसका आदर होता था। भारतद्वीप के प्राचीन कानूनों की किताबों में लोगों के विचार स्वातंत्र्य को दबाने का एक भी नियम नहीं है। तब न्यायदान भी विचारस्वातन्त्र्य के अनुसार होता था। न्यायाधीश स्वाधीन भाव से विचार करते थे। कानून की किताबें उनके लिये केवल मार्गदर्शक हुआ करती थीं। कानून की किताबों में नैतिक अपराधों

का वर्गीकरण किया हुआ है। उनके परिमाण के अनुसार तब न्याय किया जाता था। इस समय न्यायाधीश को किसी न किसी धारा के अनुसार निर्णय करना पड़ता है। कानून के चश्मे से उसे देखना पड़ता है। स्पष्ट रूप से किसी ने कोई अनैतिक अपराध किया हो और उसके संबंध में कोई कानून न बना हो, तो अपराधी को छोड़ देना पड़ता है अथवा जो शुल्क नहीं देता है, उसको न्याय ही नहीं मिलता,—विचारस्वातन्त्र्य से वह लाभ नहीं उठा सकता। यह प्रथा प्राचीन समय में नहीं थी। तब का विचारस्वातन्त्र्य सजीव था, आज उसकी ठठरीभर दीख पड़ती है। लोकमत से भिन्न मत प्रतिपादन कर उसके अनुसार आचरण करने वाले को राजपक्ष से कोई आपत्ति नहीं होती थी। ध्यान इतना ही रखा जाता था कि, भिन्न मत का व्यक्ति कोई अनैतिक या सार्वजनिक अमंगल का कार्य तो नहीं कर रहा है।

न्यायाधीशों की तरह प्रजा को भी विचारस्वातन्त्र्य के पूर्ण अधिकार थे। राम को वन भेजने का जब निश्चय किया गया, तब नगर तथा प्रत्यक्ष राजसभा में भी कैकेयी की प्रजा ने बड़ी निंदा की और उसके प्रति अनेक कटूक्तियाँ कहीं लोग जानते थे कि, राम अवश्य वन जायेंगे और भरत राजगद्दी पर बैठेंगे। ऐसी अवस्था में राजमाता की निंदा करना धोखे का है। परंतु प्रजा ने विचारस्वातन्त्र्य से काम लिया। इस विषय में राजदण्ड की कल्पना ही उन्हें नहीं हुई। इसी तरह सीता परित्याग भी राम को लोगों के विचार स्वतान्त्र्य के कारण ही करना पड़ा। वे जानते थे कि लंका में सीता की अग्निपरीक्षा हो चुकी है। किंतु वहाँ अयोध्या का एक भी व्यक्ति न होने के कारण उन्हें संदेह होना संभव है। कैकेयी को कटूक्तियाँ सुनाने वालों को दशरथ और सीता के प्रति संदेह करने वालों को रामचन्द्र दण्ड दे सकते थे, परंतु लोगों के विचारस्वातन्त्र्य को उन्होंने पैरोंतले नहीं रौंदा और स्वयं कष्ट सहे। विचार स्वातन्त्र्य की डींग मारने वाले पश्चिमी देशों के इतिहास मर्मज्ञों ने भी इन उदाहरणों लेकर इस बात को स्वीकार किया है कि, भारतवासियों का विचार स्वातन्त्र्य लोकोत्तर था।

उस समय राजा-प्रजा दोनों को विचार स्वातन्त्र्य होने पर भी उसका उपयोग दोनों बहुत सावधानी से किया करते थे। भ्रष्ट मंत्रियों की सहायता से राजा शासन कार्य किया करता था और प्रजा अपने नेताओं में परामर्श कर कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय करती थी। प्रजा राजा की उलझनें तथा कठिनाइयाँ समझती थी और राजा प्रजा की आवश्यकताओं तथा असुविधाओं को जानता था। इससे विरोध का अवकाश कम मिलता था। विचारस्वातन्त्र्य और राजा-प्रजा की धर्म मर्यादा का ही यह प्रभाव था।

प्रजा का संतुष्ट और वैभवसम्पन्न होना हर एक राजशासन के लिये भूषणभूत

होता है। परंतु राम राज्य की नारद ने यह विशेषता बतायी है कि, राम की प्रजा प्रसन्न, संतुष्ट, पुष्ट और धर्मनिष्ट भी थी। विधर्मी राजा नीतिविरुद्ध आचरण करने वालों को दण्ड देता और धर्मविरुद्ध आचरण करने वालों के प्रति उदासीन रहता है। उस समय धर्म और नीति का विच्छेद नहीं हुआ था। धर्म के अंतर्गत ही नीति का समावेश था। राजा प्रजा के भिन्नधर्मी होने से धर्मरक्षा और धर्म प्रचार दोनों को अभीष्ट होने पर भी कलह को प्रारंभ हो जाता है। प्राचीन काल में धर्मसत्ता प्रधान मानी जाती थी और राजसत्ता उसी के अंतर्गत थी। राजा के प्रजापालन संबंधी और प्रजा के राजभक्त बने रहने के संबंध के सब नियम धर्मसत्ता ने निश्चित किये थे। धर्म किसी से रक्षा पाने की अपेक्षा नहीं करता। राजा प्रजा दोनों की दृढ़ भावना थी कि, धर्म ही सबकी सुरक्षा करता है और धर्म स्वयं रक्षित है।

मनुष्य की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से निम्नगामी अर्थात् पाप की ओर होती है। उससे उसे परावृत्त करने के लिये राजसत्ता शारीरिक दण्ड देती है। यह कृत्रिम उपाय है। इससे मुनष्य के हृदय में भय उत्पन्न होकर पाप की कृति से परावृत्त हो सकता है; परंतु उसकी मनोवृत्ति ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। वही मनोवृत्ति प्रबल होकर पुनः पाप कर्म कराती और शरीर दण्ड के चिर अभ्यास से उसकी परवाह न करने को लाचार करती है। धर्मानुशासन की यह बात नहीं है; वह शासन दृढ़, परन्तु मधुर होता है। राजसत्ता मनुष्य की पाप प्रवृत्ति को दबा सकती है, नष्ट नहीं कर सकती; परंतु धर्मसत्ता उस वृत्ति का समूल उन्मूलन कर देती है। राजसत्ता कठोर दण्ड देकर भी जा कार्य नहीं कर सकती, अदृश्य-निराकार-धर्म वह कार्य भावना के बल पर अनायास कर देता है। धर्मसत्ता का प्रभाव उस समय राजा प्रजा दोनों पर समान रूप से होने के कारण दोनों सदाचार परायण होते थे और इससे शान्ति-सुख का साम्राज्य सदा बना रहता था।

यह कहा गया है कि, धर्म अपनी आप रक्षा करने में समर्थ है, उसे किसी से रक्षा पाने की अपेक्षा नहीं होती; परंतु धर्म आचार प्रधान है। अपने और प्रजा के आचारों की रक्षा करना ही धर्मरक्षा है और धर्म रक्षा का यह कार्य उस समय राजाओं को करना पड़ता था। इसका यह अर्थ नहीं कि, राजा बल पूर्वक लोगों से आचार-पालन कराने में प्रजा को उत्तेजन और सहायता देता तथा यदि उसमें कुछ विघ्न हो, तो उसका प्राणपन से निवारण करता था। इसी से चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था उस समय सजीव थी। महर्षि विश्वामित्र अपने यज्ञ की आप रक्षा कर सकते थे। वे चाहते तो मारीच सुबाहु जैसे राक्षसों को अवलाकन मात्र से भस्म कर देते, परन्तु ब्राह्मणों का धन तप होता है, वे तपोधन कहते हैं, राक्षसहत्या से तप क्षीण होगा, इसी विचार से विश्वामित्र ने दशरथ से यज्ञरक्षाणार्थ रामचन्द्र की याचना की।

त्राटिका कावध करते समय स्त्री पर शस्त्र कैसे चलाया जाये, ऐसी शङ्का रामचन्द्र के मन में उदित हुई। तब विश्वामित्र ने उपदेश दिया कि, प्रजा और चातुर्वर्ण्य के हित के लिये अच्छा-बुरा, क्रूर-सदोष कैसा ही कर्म क्यों न हो, उसे करना राजा का कर्तव्य है। इस पर रामचन्द्र ने यही कहा कि, गौ ब्राह्मणों के हित और देश के कल्याण के लिये अतर्क्य प्रभाव से युक्त आपकी आज्ञा का पालन करने के लिये मैं सन्नद्ध हूँ।[6] इसके पश्चात् उन्होंने त्राटिका का वध कर डाला। राजसत्ता उस समय धर्मरक्षा करना अपना धर्म समझती थी। विश्वामित्र ने ब्राह्मणों और चातुर्वर्ण्य का अभेद बताया है। उनका कहना है कि, ब्राह्मणों की रक्षा से चातुर्वर्ण्य की रक्षा होती है और चातुर्वर्ण्य की रक्षा से ही धर्म सुरक्षित रहता है। भाष्यकार भगवान् श्रीशंकराचार्यजी ने भी यही कहा है। ब्राह्मणत्व की रक्षा करने से ही वैदिक धर्म सुरक्षित रहता है।[7] जब से चातुर्वर्ण्य में शिथिलता आती गयी, तभी से हमारा अधः-पतन आरंभ हुआ है।

न्याय के मूल में सत्य है। न्याय धर्ममूलक होना उचित है। न्याय, सत्य तथा धर्म के सब आचार स्वार्थ की कालिमा लग जाने से कलङ्कित हो जाते हैं। इस समय पृथ्वी में जहाँ-जहाँ न्याय के साथ स्वार्थ का संबंध हो गया है, वहाँ शुभ्र न्याय में कलङ्क की कालिमा लग गयी है। प्राचीन काल में तीन प्रकार के अनुशासनों द्वारा मनुष्य समाज को पवित्र और सुरक्षित रखा जाता था। आत्मज्ञानी महर्षिगण वनवासी होकर योगानुशासन के पथ पर चलकर अन्य किसी शासन की अपेक्षा नहीं करते थे और अपने बनाये हुए शास्त्रों के द्वारा चातुर्वण्य को शब्दानुशासन की सहायता देकर न्याय और सत्य के मार्ग में चलाते थे। वे वर्णाश्रमशृंखला के द्वारा स्वाधीन चिन्ता रखने वाली स्वतंत्र प्रजा को धर्म भ्रष्ट होने नहीं देते थे। साथ-ही-साथ योगानुशासन के द्वारा प्राप्त धर्मशास्त्र (कानून) के द्वारा राजाओं को उच्छ्रङ्खल होने से बचाकर राजदण्ड और समाजदण्ड की सहायता से प्रजा को भी उच्छ्रङ्खल होने नहीं देते थे। इस समय जिस प्रकार सब प्रकार का अनुशासन एक मात्र कानून के भय से चलाया जाता है, ऐसी प्रथा उस समय नहीं थी। उन्नत सात्त्विक प्रजा के योगानुशासन से सदा पवित्र ही बनी रहती थी। सन्दिग्ध राजसिक प्रजा वर्णाश्रम की प्रथा से सुरक्षित रहती थी और निम्न श्रेणी की प्रजा राजदण्ड और सामदण्ड दोनों की अपेक्षा रखकर न्याय और सत्य का अनुसरण करती थी।

अब श्रीरामचन्द्र के आदर्श मानवजीवन के उपयोगी कुछ गुणों पर दृष्टि डालना उपयुक्त होगा। वर्णाश्रम धर्म की अपूर्व मर्यादा श्रीरामचन्द्र ने अपने जीवन में जिस प्रकार बिखायी थी, वैसी कहीं देखने में नहीं आती। जनकपुरी में सीता का पाणिग्रहण करके जब श्रीरामचन्द्र अयोध्या लौट रहे थे, उस समय मार्ग में परशुराम वैष्णवधनु

लेकर आये और उन्होंने रामचन्द्र को उस धनु में बाणयोजना करने को कहा। परशुराम की स्पर्द्धा के दमन के लिये श्रीरामचन्द्र ने धनुष में बाणयोजना तो की, परंतु परशुराम के ब्राह्मण वंशोत्पन्न होने के कारण उस बाण का परशुराम पर प्रयोग नहीं किया और कहा कि, आप ब्राह्मण हैं और महर्षि विश्वामित्र के साथ भी आपका संबंध है, इसलिये आप पर प्राणाहरणकारी इस शर का त्याग मैं नहीं कर सकता।[9] परशुराम के द्वारा पीड़ित होने पर भी क्षत्रिय को ब्राह्मण पर अस्त्र प्रयोग नहीं करना चाहिये, इस विचार से परशुराम अस्त्र प्रयोग करने में कुण्ठित होना रामचन्द्र के जीवन में वर्णाश्रम-मर्यादा-पालन का ही अपूर्व आदर्श स्थापित करता है। श्रीरामचन्द्र के वर्णाश्रम-मर्यादा-पालन के कारण ही उनके राज्य में अकालमृत्यु नहीं होती थी, इसका एक अपूर्व दृष्टान्त उनके राज्यकाल में शंबूक का संघटित हुआ था।

जितेन्द्रियता और एक पत्नीव्रत की पराकाष्ठा श्रीरामचन्द्रजी ने अपने जीवन में बतायी थी, जो प्रत्येक गृहस्थ के लिये चिरदिन आदर्श स्वरूप विद्यमान रहेगी। लोकापवाद के भय से सीता को वनवास देकर श्रीरामचन्द्र वंशरक्षा, यज्ञादि साधन तथा अन्य कामों के लिये दूसरा विवाह अनायास ही कर सकते थे और उसमें बांधा भी कछ नहीं थी। परंतु निरपराधिनी स्त्री को लोकमर्यादा के लिये वनवास का कष्ट देना पड़ा, इसलिये वे स्वयं राज्य में ही रहकर वनवास से भी अधिक मनःक्लेश सहन करते रहे और उन्होंने दूसरा विवाह करना योग्य नहीं समझा। दूसरा विवाह करने से सीता के प्रति उनका अमानुष निर्दय व्यवहार होता, जो राम जैसे आदर्श पुरुष के लिये कदापि उचित नहीं था। यही उनके जीवन में जितेन्द्रियता और एक पत्नीव्रत की पराकाष्ठा है। अन्त में जब अश्वमेधादि अनेक यज्ञकार्य करने के लिये सहधर्मिणी की शास्त्रानुसार आवश्यकता हुई, उस समय भी दूसरा विवाह न करके सोने की सीतामूर्ति बनवाकर अनुकल्प द्वारा उन्होंने यज्ञकार्य सुसम्पन्न किया। प्रत्येक गृहस्थ पुरुष इस अलौकिक धीरता, जितेन्द्रियता और कर्तव्यनिष्ठा का आदर्श ग्रहण करेंगे, तो उनका जीवन धन्य होगा, आध्यात्मिक उन्नति की पूर्णता प्राप्त होगी और गृहस्थाश्रम अनन्त आनन्द का नन्दन कानन बन जायेगा, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

सत्यव्रतपरायणता और कर्त्तव्यपरायणता के अपूर्व दृष्टांत श्रीरामचरित्र में मिलते हैं। यह सत्यव्रतपरायणता का ही गंभीर दृष्टांत है कि, जब निर्दय-हृदया कैकेयी राजमुकुट के बदले जटा-वल्कल-धारणपूर्वक चतुर्दश वर्ष पर्यन्त वनवास की आज्ञा श्रीरामचन्द्र को दे दी, तब इतनी कठिन आज्ञा सुनने पर भी रामचन्द्र के मुख पर दुःख की रेखा तक नहीं देखने में आयी और उन्होंने कैकेयी से कहा—माता, जैसा आपने कहा, वैसा ही होगा। मैं पिता की प्रतिज्ञानुसार जटा-वल्कल धारण करके

वनवास को जाऊँगा। हितकारी गुरु और आपके प्रति कृतज्ञ नरपति पिता के द्वारा आज्ञा प्राप्त होकर निःसङ्कोच-चित्त से उनकी प्रीति के लिये मैं क्या नहीं कर सकता? मैं आपकी प्रेरणामात्र से ही राज्य, प्राण, इष्ट और धन सब कुछ सान्नदचित्त से स्वयं भरत को दे सकता हूँ। फिर जब पिता की प्रतिज्ञा पालन करनी है और आपका भी इसमें प्रीतिसाधन है, तो मेरे लिये अदेय क्या हो सकता है? यदि प्राण परित्याग करके भी पूज्य पिता का कुछ प्रिय हो सके, वह भी मैं करने को तैयार हूँ। पिता की सेवा और उनकी आज्ञापालन से महत्तर धर्मकार्य संसार में और कुछ नहीं है। इसलिये यद्यपि पूज्य पिता संकोच के कारण आज्ञा नहीं देते हैं, यथापि आपके ही कहने से मैं 14 वर्ष तक वन में वास करूंगा।[10]

जिस समय धर्मवीर रामचन्द्र वनगमन के पूर्व पिता दशरथ से अन्तिम बार मिलने आये थे और स्नेहमुग्ध पिता अजस्त्र अश्रुवर्षण करते हुए पुनः-पुनः मूर्छाप्राप्त होने लगे थे, उस समय भी श्रीरामचन्द्र ने पूज्य पिता को भी ऐसा ही वाक्य कहा था कि, मुझे राज्य, सुख, पृथ्वी, भोग्य पदार्थ, स्वर्ग अथवा जीवन की भी इच्छा नहीं है।[11] मैं केवल आपको सत्ययुक्त देखना चाहता हूँ। आपका वचन मिथ्या न हो, यही मेरी इच्छा है। आपके सम्मुख सत्य और सुकृत को लेकर मैं शपथ भी करता हूँ। जिस समय रामवत्सल भरत वन में राम की खोज में गये थे और हाथ जोड़कर बार-बार श्रीरामचन्द्र को अयोध्या में लौट आने के लिये प्रार्थना करते थे, उस समय श्रीरामचन्द्र ने इसी सत्यव्रत के कारण ही जाबालि, वशिष्ट आदि महर्षियों के अनेक तरह से समझाने पर भी अयोध्या लौटना स्वीकार नहीं किया था और कनिष्ठ भ्राता भरत से कहा था कि, चन्द्रमा शोभा को परित्याग करे, हिमालय हिम को परित्याग करे, समुद्र अपनी मर्यादा को छोड़ दे, तो भी मैं पिता की प्रतिज्ञा को तोड़ नहीं सकता। हे भरत! तुम्हें भी इस प्रकार से शीघ्र अयोध्या का राज्य ग्रहण करके पिता को सत्यप्रतिज्ञ बनाना चाहिये। मेरी प्रीति के लिये तुम पिता को कैकेयी के ऋण से मुक्त करो, पिता का त्राण करो और अपनी माता को आनन्द प्रदान करो।[12] यही श्रीरामचन्द्र के जीवन में सत्यव्रतपरायणता तथा कर्तव्यपरायणता का अपूर्व दृष्टान्त है। सत्यव्रत और कर्तव्यपरायणता का अलौकिक दृष्टांत श्रीरामचन्द्रजी ने प्रिय लक्ष्मण को त्याग करते समय दिखाया था। जो अनुज लक्ष्मण श्रीरामचन्द्र का प्राण से भी प्रिय था, जिसके चरण में कुश गड़ जाने से ही श्रीरामचन्द्र के हृदय में शूल बिंधने की तरह यन्त्रणा होती थी, दैवचक्र से उसी प्राणप्रिय लक्ष्मण का श्रीरामचन्द्र को परित्याग करना पड़ा था।

मनुष्य जीवन को मधुमय बनाने के लिये जितने सद्‌गुणों की परमावश्यकता होती है, श्रीरामचन्द्र के जीवन में वे सभी पूर्ण रूप से विद्यमान थे। उनके आस्तिकता,

तितिक्षा (सहनशीलता), द्वन्द्वसहिष्णुता (सुख-दुःख में एकभाव), वैराग्यभाव, पितृभक्ति, मातृभक्ति, भ्रातृप्रेम, भक्तवत्सलता, शरणागतपरायणता, ज्ञानस्पृहा, सच्चरित्रता, भद्रता आदि सभी गुण संसार में अनूठे और आदर्श जीवन के बनाने के लिये सर्वोत्तम हैं। जिस समय लक्ष्मण ने श्रीरामचन्द्र के वनवास के विषय में प्रतिवाद करके पिता दशरथ को दोष दिया, उस समय जिस भाव के साथ श्रीरामचन्द्र ने दैव को ही सबका कारण बताया था, उससे अनेक हृदय की परम आस्तिकता का परिचय मिलता है। वे कहते हैं—सुख, दुःख, भय, क्रोध, लाभ, अलाभ, बंध, मोक्ष—इनके संबंध से प्रत्यक्ष कारण के बिना भी जो कुछ घटना हो जाये, उसमें दैव को ही कारण जानना चाहिये। तीव्र तपस्वी महर्षिगण भी तीव्र नियम त्याग करके केवल दैव के प्रकोप से ही कामक्रोधादि के वशीभूत हो जाते हैं। किसी आरंभ किये हुए सकर्म को बल के साथ निवृत्त करके किसी संकल्प अथवा प्रत्यक्ष कारण के बिना ही अचानक जो कुछ घटना हो पड़ती है, उसमें दैव को ही मूल जानना चाहिए। इस प्रकार के विचार के द्वारा अंतःकारण को मैंने समझाया है, इसीलिये राज्याभिषेक में बाध ा होने पर भी मुझे इसका कोई दुःख नहीं है।[13] यही रामचरित्र में परम आस्तिकता का लक्षण है। उनके जीवन में तितिक्षा और द्वन्द्व सहिष्णुता का भी असाधारण प्रमाण मिलता है। यह उनकी परम तितिक्षा का ही फल था कि, निरपराधिनी सती सीता और परम प्रिय लक्ष्मण को त्याग करके वे जीवन धारण कर सके थे। जिस समय कैकेयी ने वनवास का कठिन वचन सुनाया, उस समय श्रीरामचन्द्र की चित्तवृत्ति के विषय में रामायण में लिखा है कि, कैकेयी का कटु वचन सुनने पर भी रामचन्द्र के चित्त में कोई भी शोक नहीं हुआ। केवल राजा दशरथ पुत्र-वियोग दुःख से अत्यन्त शोकार्त्त हो गये। रामाभिषेक के संवाद से पुरवासियों ने श्रीरामचन्द्र के मुख पर दुःखजनित कोई भी विकार नहीं देखा। आत्मवान् श्रीरामचन्द्र ने अतनी कठोर आज्ञा सुनने पर भी शरत्-काल की निर्मल चन्द्र किरणों की तरह अपने सहज सत्त्वगुणमय हर्ष को परित्याग नहीं किया। यही उनके चरित्र में द्वन्द्व सहिष्णुता का लक्षण है। इसी प्रकार जिस समय तापवेषी काल ने आकार श्रीरामचन्द्र को उनके अस्तकाल की बातें सुनायीं, उस समय भी श्रीरामचन्द्र के हृदय में कोई शोक नहीं हुआ; उलटै परम हर्ष के साथ उन्होंने काल के संवाद को स्वीकार किया।

काल के द्वारा कहे हुए ब्रह्मा जी के वाक्य को सुनकर श्री रामचन्द्रजी ने हँसकर काल से कहा—पितामह के अद्‌भुत वचन को सुनकर मुझे परम संतोष प्राप्त हुआ और आपके आने से भी परम आनन्द प्राप्त हुआ। यह श्रीरामचन्द्र के जीवन में सात्विक धैर्य की[14] पराकष्ठा और धीरता और तितिक्षा का अपूर्व दृष्टांत है।[15] ज्ञान और वैराग्य का भाव श्रीरामचन्द्र के जीवन में कितना था, इसका दृष्टान्त पितृशोक

से कातर भरत को उपदेश देते समय तथा योगवाशिष्ट में अनेक स्थानों में मिलता है।

आत्मवान् श्रीरामचन्द्र जी ने भरत को दुःखार्त्त और विलाप करते हुए देखकर निम्नलिखित शब्दों से आश्वासन प्रदान किया था। जीव परतंत्र होने से अपनी इच्छा से कुछ नहीं कर सकता। काल ही कर्मानुसार इहलोक या परलोक में जीव को आकृष्ट करता है। समस्त वस्तुएँ परिणाम में क्षय को प्राप्त होती हैं, समस्त उन्नति परिणाम में पतन को लाती हैं, समस्त संयोग वियोग में परिणत होते हैं और समस्तजन्म मृत्युशील हैं। जिस प्रकार समुद्र में दो काष्ठ कभी साथ मिलकर पुनः पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, उसी प्रकार स्त्री, पुत्र, ज्ञाति, धन आदि सभी कुछ होकर पुनः कर्मानुसार पृथक् हो जाते हैं; सभी का नाश अवश्यम्भावी है। परमध ार्मिक हमारे पिता दक्षिणा के साथ यज्ञ करके स्वर्ग को प्राप्त कर चुके हैं, इसलिये उनके अर्थ तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। इस जराजीर्ण मनुष्य-देह को परित्याग करके ब्रह्मा लोक की दैवी सम्पत्ति को हमारे पिताजी प्राप्त कर चुके हैं, इसलिये उनके विषय में शोक मत करो।[16] यही श्रीरामचन्द्र के जीवन में ज्ञान विचार तथा वैराग्यभाव का लक्षण है। श्रीरामचन्द्र में पिता-माता के प्रति भक्ति की पराकाष्ठा थी। इसका परिचय श्रीरामायण में अनेक बार मिलता है। जिस समय कूट-बुद्धिवाली कैकेयी ने श्रीरामचन्द्र की पितृभक्ति के विषय में संदेह करके बात की थी, उस समय श्रीरामचन्द्र जी ने कैकेयी से कहा था–हे देवि! मुझे इस प्रकार कठोर वचन न कहें। मैं पिता के वाक्य से अग्नि में प्रवेश कर सकता हूँ, तीव्र विषपान कर सकता हूँ, शीघ्र कहिये; मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, कि, उनका आज्ञापालन अवश्य ही करूँगा, राम कभी दो प्रकार का भाषण नहीं करेगा।[17] इस प्रकार के कथन से श्रीरामचन्द्र में पितृभक्ति की गंभीरता का विशेष परिचय प्राप्त होता है। मातृभक्ति की भी गंभीरता वन में जाते समय पिता के प्रति रामचन्द्र के अनुरोध से प्रमाणित होती है।

श्रीरामचन्द्र जी ने पिता दशरथ से कहा–यद्यपि प्रधान महारानी होने के कारण आप माता कौशल्या का सम्मान करते ही हैं, तथापि वे मेरे विरह में भीषण शोक समुद्र में डूब जायेंगी, इसलिये इनके प्रति और भी अधिक सम्मान प्रदर्शन करें, यही मेरी प्रार्थना है। मेरे दर्शन के लिये अत्यंत अभिलाषिणी माता कौशल्या मेरे विरह से प्राणत्याग न करें, ऐसा आप ध्यान रखें, यही प्रार्थना है।[18] यह श्रीरामचन्द्र के जीवन में पितृमातृभक्ति का दृष्टान्त है। उनके जीवन में भ्रातृ प्रेम का मधुर दृष्टांत लक्ष्मण और भरत के प्रति स्नेह भाव से स्पष्ट होता है। जिस समय लङ्कापुरी में दो बार इन्द्रजित् और रावण के बाण से लक्ष्मण मूर्च्छित हो गये थे, उस समय

जिस करुणा रस के साथ श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण के लिये विलाप किया था, उसके अक्षर-अक्षर में अनूठा भ्रातृस्नेह भरा हुआ है।

श्रीलक्ष्मण को रक्तारक्तदेह, कठिन पाश से बद्ध और दीनमुख देखकर श्रीरामचन्द्रजी ने दुःखार्त्त हो, बहुत ही विलाप किया। मुझे सीता के प्राप्त करने से या जीवित रहने से ही क्या फल है, जो मैं आज प्रिय भ्राता को रण में मूर्च्छित देख रहा हूँ। संसार में अन्वेषण करने पर सीता जैसी स्त्री मिल सकती है, परंतु लक्ष्मण जैसा भाई, जो मंत्री और युद्ध में सहायक भी था, नहीं मिल सकता। यदि लक्ष्मण का प्राण न रहा, तो मैं भी वानर-सैन्यों के सामने ही प्राण छोड़ दूँगा। मुझे युद्ध से कोई काम नहीं है और जीवित रहना भी निष्फल है; जब कि, मेरा लक्ष्मण मूर्च्छित होकर रणक्षेत्र में पड़ा हुआ है। जिस प्रकार मेरे वनवास काल में लक्ष्मण मेरे साथ आया था, उसी प्रकार मैं भी यदि इसकी मृत्यु हुई तो इसके साथ यमलोक को जाऊँगा। देश-देश में स्त्रियाँ मिलती हैं और बन्धुजन भी मिलते हैं; परंतु ऐसा देश नहीं देखता हूँ, जहाँ प्राणप्रिय सहोदर भ्राता मिले।[19] यह बात अवश्य विचार करने योग्य है कि, सीता सती के प्रति अत्यन्त प्रेम और अनुराग होने पर भी सीता को न परित्याग करके उसके पाताल प्रवेश करने पर भी सीता को देखकर श्रीरामचन्द्र ने जीवन धारण किया था; परंतु दैवकोप से लक्ष्मण का जब परित्याग करना पड़ा, तो श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण के विरह में प्राण धारण नहीं कर सके और लक्ष्मण त्याग के बाद ही महाप्रस्थान को चले गये। यही श्रीलक्ष्मण के प्रति श्रीरामचन्द्रजी की सर्वोत्तम स्नेहपरायणाता का अपूर्व दृष्टान्त है। श्रीभरत के साथ उनका कितना प्रेम था, सो सीता का उद्धार करके जब से भरत से मिले थे, उस समय प्रकट हुआ था। सीता का उद्धार और सीता की अग्नि-परीक्षा के बाद जब विभीषण ने श्रीरामचन्द्र को स्नानादि करने के लिए कहा, तो भ्रातृवत्सल श्रीरामचन्द्र जी ने उत्तर दिया—मेरे लिये मेरा परम धार्मिक परम प्रिय सुकुमार भ्राता भरत दुःख पा रहा है, इसलिये उसके बिना मैं स्नान भी नहीं करूंगा और वस्त्रलङ्काकर धारण भी नहीं करूंगा। इसलिये आप ऐसा उपाय करें, जिससे अतिशीघ्र मैं अयोध्या पहुँचकर प्रिय भ्राता भरत से मिल सकूँ।[20] जिस समय शीघ्र जानेवाले पुष्पक विमान पर चढ़कर श्रीरामचन्द्र जी भरत से मिले उस समय कैसी भ्रातृप्रेम की गङ्गा बहने लगी, उसका भी वर्णन रामायण में मिलता है।

श्रीभरत ने पुष्पकविमान के पास आकर और उसमें चढ़कर श्रीरामचन्द्र जी को अभिवादन किया। बहुत दिनों के बाद प्रिय अनुज को देखकर श्रीरामचन्द्रजी ने भरत को गोद में उठा लिया और अत्यंत प्रेम के साथ आलिङ्गबद्ध किया। तदनन्तर श्रीभरत ने ज्येष्ठ भ्राता रामचन्द्र के चरणकमलों में साथ में लायी हुई उनकी पादुकाएँ

उन्हें धारण करा दीं और रामचन्द्र जी प्रेम के साथ भरत को अङ्क में धारण करके उसके आश्रम पर चले।[21] इस प्रकार से श्रीरामचन्द्र जी के जीवन में भ्रातृप्रेम की पराकाष्ठा पायी जाती है।

भ्रातृवत्सलता की तरह भक्तवत्सलता भी श्रीभगवान् रामचन्द्र के जीवन में पूर्ण रूप से थी। भक्तजनों के कल्याण के लिये श्रीरामचन्द्र सदा ही तत्पर रहते थे। गुहक मल्लाह होने पर भी, भक्तवत्सलता के कारण श्रीरामचन्द्रजी ने उसके गृह पर आतिथ्य ग्रहण किया था। भक्त गुहक के वाक्य को सुनकर श्री रामचन्द्र जी ने दोनों हाथों से उसको आलिङ्गन करके मधुर शब्दों में कहा—दानग्रहण हम नहीं करते हैं, तथापि तुमने भक्ति से कुछ दिया है, वह मैं अवश्य स्वीकार करूँगा।[22] इसी प्रकार भक्त जटायु के प्रति भी अपूर्व प्रेम श्रीरामचन्द्रजी ने बताया था। छिन्नपक्ष, रक्ताक्तदेह जटायु को गोद में लेकर 'हा! सीता कहाँ गई?' ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्र भूमि पर गिर गये।[23] तदनंतर सीताहरण की वार्ता को कहते-कहते जब जटायु के प्राण छूट गये, उस समय श्रीरामचन्द्र जी जटायु के लिए बहुत दुःख प्रकाश किया और उसका अंतिम संस्कार अपने हाथ से सम्पन्न किया। वे बोले,—लक्ष्मण! देखो, उपकारी गृद्धराज ने मेरे लिये प्राण त्याग दिया है। मुझे इसके लिये सीताहरण से भी अधिक दुःख हो रहा है। तुम काष्ठ संग्रह कर लाओ, मैं गृद्धराज का दाह-कार्य सम्पन्न करूंगा। यज्ञ करनेवालों, अग्निहोत्रियों, युद्ध से न हटनेवालों और भूमिदानकारियों को जो गति प्राप्त होती है, मेरी कृपा से मेरे हाथ से अन्तिम संस्कार को पाकर गृद्धराज को वही अत्युत्तम गति प्राप्त होगी। इस प्रकार कहकर श्रीरामचन्द्र ने चिता प्रज्वलित की और किसी आत्मीय जन को दाह करते समय जैसा होता है, वैसे ही दुःखितचित्त से जटायु का दाहकार्य किया। तदनन्तर स्नान करके शास्त्रविधि के अनुसार दोनों भ्राताओं ने गृध्रराज की श्राद्धतर्पण क्रिया भी की। श्रीरामचन्द्र महाप्रस्थान में जाते समय भक्त विभीषण हनुमान और जाम्बवान् को भक्तवत्सलता के कारण ही चिरकाल तक संसार में सुख के साथ रहने के लिये वरप्रदान कर गये थे।

शरणागत वत्सलता का क्या ही अपूर्ण दृष्टांत श्रीरामचन्द्र के जीवन में मिलता है। राक्षसगण उनके परम शत्रु होने पर भी, जिस समय कोई भी राक्षस शरणागत होता था, उस समय श्रीरामचन्द्र उसको अभयदान करके उसकी रक्षा के लिये सर्वथा तत्पर होते थे। जिस समय रावण का भ्राता विभीषण श्रीरामचन्द्र के पास आया और सुग्रीव, हनुमान, लक्ष्मण, जाम्बवान् आदि सभी ने एकवाक्य होकर शत्रु के भ्राता को शरण न देकर मार डालने को कहा, उस समय किसी का वाक्य न सुनकर श्रीरामचन्द्र जी ने विभीषण को अभयदान किया और कहा कि, हाथ जोड़े हुए, दीन,

प्रार्थनाकारी, शरणागत शत्रु का भी नहीं वध करना चाहिए। क्लेशदायक हो या न हो, शरणागत शत्रु की प्राण-परित्याग करके भी रक्षा करनी चाहिये। यदि भय, मोह अथवा किसी स्वार्थ के कारण शरणागत शत्रु की रक्षा नहीं की जाय, तो उससे अलोक निन्दित महापाप होता है। शरणापन्न शत्रु की रक्षा न करने से स्वर्ग यश बल-वीर्य-नाशकारी महान् दोष प्राप्त होता है। एक बार भी जो शरणागत होता है और मैं तुम्हारा हूँ, ऐसा कहता है। उसको मैं अभय देता हूँ, यही मेरा व्रत है। इसलिये सुग्रीव! विभीषण को मेरे पास लाओ, मैंने उसको अभय दिया है। शरणागत होने पर मैं रावण को भी अभय देने को तैयार हूँ।[24]

श्रीभगवान् ने रामवतार में संसार की शिक्षा के लिये मनुष्यों में दुर्लभपूर्ण आदर्श प्रकट किया था, जो प्रत्येक गृहस्थ, प्रत्येक मनुष्य का प्रत्येक नरपति के लिये सदा ही अनुकरण करने योग्य है। श्रीरामचरित्र और रामराज्य संसार में एक अपूर्व वस्तु है। जब तक चन्द्र-सूर्य संसार को आलोकित करेंगे, तब तक इस अपूर्व चरित्र का अलौकिक गौरव भारतमाता की मुखच्छबि को सुशोभित करता रहेगा, इसमें अणुमात्र का भी सन्देह नहीं है। श्रीरामचन्द्रजी ने एकादश सहस्त्र वर्षपर्यन्त पृथ्वीपालन करके अवतार कार्य समाप्त हो जाने पर भरत, शत्रुघ्न समस्त वानर तथा प्रजाओं के साथ महाप्रस्थान किया था।

पातिव्रत्य ही स्त्रीजाति की मुक्ति का एकमात्र उपाय होने से स्त्रीचरित्र की पूर्णता पातिव्रत्य की पूर्णता द्वारा होती है। माता सीता के समस्त जीवन में पातिव्रत्यधर्म की पराकाष्ठा हो गयी थी, जिसकी तुलना संसार में किसी से हो ही नहीं सकती। वनवास में जाने के पहिले जिस समय श्रीरामचन्द्र ने उनसे अयोध्या में रहने को कहा, उस समय जिन शब्दों से सीता माता ने अयोध्या में न रहकर साथ चलने के लिये प्रार्थना की थी, उनसे उनमें पातिव्रत्य धर्म का पूर्ण भाव झलकता है।

''पिता, संतान, आत्मा, माता या सखीजन—कोई भी इस लोक अथवा परलोक में स्त्रियों के लिये शरण नहीं है, एक पति ही स्त्रियों की इस लोक और परलोक में गति है। हे प्रभो! यदि आप आज ही दुर्गम वन में जाने को तैयार हैं, तो मैं भी आपके आगे-आगे कुशों और कांटों को चुनती हुई चलूँगी। प्रसाद, विमान या आकाश, सब स्थानों और दशाओं में पति के चरणों की छाया बनकर स्त्रियों का रहना श्रेष्ठ है। मैं नाना मृगगण से घिरे हुए और भयङ्कर व्याघ्र आदि से भरे हुए निर्जन गंभीर वन में चलूँगी। जिस प्रकार मैं पिता के घर में आनन्द से रहती थी, उसी प्रकार तीनों लोकों को भूलकर केवल पातिव्रत्य धर्म को स्मरण करती हुई सुख सेवन में रहूँगी। नियमपूर्वक ब्रह्मचारिणी रहकर आपकी सेवा करती हुई हे वीर! सुंदर गन्ध से युक्त वन में आपके साथ रमण करूँगी। निःसंदेह नित्य फल-मूल

खाकर रहूँगी। आपके साथ रहती हुई आपको कष्ट न दूँगी। इस प्रकार आपके साथ हजारों वर्षों तक रहकर दुःख न समझूंगी और स्वर्णमुख से इसमें पार्थक्य न मानूँगी। हे पुरुषेत्तम रघुनाथ! आपके बिना स्वर्ग में भी रहना मुझे अच्छा नहीं लगता।"

पातिव्रत्य की अत्यंत कठिन रोमाञ्च कर देनेवाली सीता-परीक्षा लङ्कापुरी में हुई थी। जिस प्रकार सोने के शुद्ध हो जाने पर भी साधारण लोगों के विश्वास के लिये स्वर्णकार उसे अग्नि में जलाकर उसकी शुद्धता की परीक्षा कर लेता है, ठीक उसी प्रकार सीता-सती को पूर्ण निर्दोष जानने पर भी मर्यादा के रक्षक श्रीरामचन्द्रजी ने संसारियों के विश्वास के लिये लङ्कापुरी में अग्नि-परीक्षा के द्वारा उनकी शुद्धता की परम परीक्षा कर ली थी, जो समस्त संसार के इतिहास में एक अद्भुत घटना है। जब नीचे मुख की हुई जानकी राम की प्रदक्षिणा करके प्रज्वलित अग्निदेव के समीप पहुँचीं, तब देवता तथा ब्राह्मणों को प्रणाम करके अग्नि के समीप हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगीं कि, "यदि मेरा चित्त कभी राम से विलग न हुआ हो, तो लोकसाक्षी अग्निदेव मेरी सब प्रकार रक्षा करें। यदि सर्वथा मेरा चरित्र शुद्ध हो, तो सब लोगों के साक्षिभूत अग्निदेव मेरी सब तरह रक्षा करें।" सीता देवी इस प्रकार प्रार्थना कर और अग्नि देव की प्रदक्षिणा कर निर्भय चित्त से ज्वलन्त अग्नि में प्रवेश कर गयी।

सीता माता के पृथ्वी में प्रवेश करने के साथ जो अलौकिक घटना हुई, उससे उनकी अपूर्व सच्चरित्रता और पातिव्रत्य-परायणता का समुज्ज्वल दृष्टान्त मिल गया। राम से परित्यक्त होकर सीता ने बहुत काल तक महर्षि वाल्मीकि के आश्रम पर, उनकी संरक्षकता में, निवास किया था। वहाँ सीता के गर्भ से लव और कुश नाम के दो धीर-वीर यमज सुपुत्र उत्पन्न हुए। उनके मधुर गान को सुनकर ऋषि, देवता गन्धर्व और मनुष्य आदि सब मुग्ध हो जाते थे। श्रीरामचन्द्र ने बहुत दिनों तक उनका सुमनोहर मधुर गान सुना और यह भी जाना कि, ये दोनों बालक सीता के गर्भ से उत्पन्न हैं। अनन्तर रामजी ने अपने दूत को महर्षि वाल्मीकि के समीप भेजकर निवेदन किया कि, यदि सीता अपने को निष्पाप और निष्कलंक समझती है, तो वह मुझ को कलंक से बचाने के लिये ऋषि, मुनि, देव, गन्धर्व ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र आदि जनसमुदाय से भरी हुई सभा में अपनी शुद्धता का पुनः पूर्ण परिचय दे। श्रीरामचन्द्र की आज्ञा से एक महती सभा की गयी, जिसमें वशिष्ठ वामदेव, जावालि, कश्यप, विश्वामित्र, महातपस्वी दुर्वासा आदि महर्षिगण, नारद, पर्वत, गौतम आदि मुनिगण और देव, गन्धर्व, मनुष्य आदि सब ही एकत्रित हुए थे। उनके सामने माहामान्य महर्षि वाल्मीकि के साथ नीचे मुख की हुई जानकी आई। उनके विषय में सबसे प्रथम वाल्मीकिजी ने साक्षी देते हुए कहा,—"यदि जानकी में कलङ्क हो, तो हजारों वर्ष तक की हुई मेरी तपस्या का फल मुझको न

मिले। यदि जानकी पापरहित न हो, तो मन, कर्म या वचन से कभी जो मैंने पाप नहीं किया है, उसका फल मुझे भोगना पड़े।"[26] इस प्रकार वाल्मीकि जी की बात सुनकर रामचन्द्र जी ने सबके सामने हाथ जोड़कर कहा,—हे पूज्य महर्षिदेव ! आपकी बात से मुझको विश्वास है कि, सीता में किसी तरह का दोष नहीं है। देवताओं के सामने भी इससे पहले एक बार यह विश्वास हो चुका है, परंतु कलङ्क से बचने के लिये मैंने सीता का त्याग किया है; इसलिये आप क्षमा करें और सीता पुनः शपथ करके मुझको लोकन्दिा के कलङ्क से बचावे। सीता के शपथ करने के समय ब्रह्मा आदि देवगण और ऋषि-मुनि आदि सभी उपस्थिति हुए थे। सबको आये हुए देखकर और श्रीरामचन्द्रजी का अभिप्राय समझकर सीता माता अपने मुख और नेत्रों को नीचे करके हाथ जोड़कर बोली,—"यदि मैं मन से भी राम के अतिरिक्त दूसरे किसी का स्मरण नहीं करती यह सत्य हो, यदि मन, कर्म और वचन से राम की पूजा करती हूँ यह सत्य हो और यदि यह भी सत्य हो कि, राम से अन्य दूसरे को नहीं जानती हूँ, तो माता पृथवी प्रवेश करने के लिये मुझको मार्ग दें।"[27]

सीतामाता के इस प्रकार शपथ करने पर दिव्य रत्नों से सुशोभित दिव्य देह धारण करने वालों से उठाया हुआ, दिव्य सिंहासन पृथ्वी से निकला और उस पर बैठकर जगदम्बा जान की भूतल में प्रवेश कर गयीं। उस समय सीता माता की जयध्वनि से दशों दिशाएँ गूँज उठीं। इस घटना से कोई विस्मय, कोई हर्ष, कोई विषाद आदि नाना भावों से विह्वल होकर जगत् विमोहित हो गया। इस प्रकार सती सीता भगवान् की शक्ति महाविद्या के साक्षात् अंश से उत्पन्न होकर आर्य्य जाति में आदर्श स्त्री और पतिव्रताओं में शिरोमणि हुई थीं।

यह पहले ही कहा गया है कि, पुराणों में देवलोक के चरित्र अधिक होते हैं और ऋषिप्रणीत इतिहासों में मनुष्य चरित्र अधिक होते हैं। परतु देवचरित हों या मनुष्यचरित, सब लोगों की धार्मिक शिक्षा और आध्यात्मिक उन्नति के निमित्त चुन-चुन कर ही वे प्रकाशित किये जाते हैं। इनमें आधुनिक लौकिक इतिहास लिखने की शैली की तरह शृंङ्खला नहीं रहती। अतः आधुनिक ऐतिहासिकों को भ्रम में पड़कर उनसे लौकिक इतिहास का अनुसन्धान करना उचित नहीं है। रामायण एक इतिहासग्रंथ है। इसमें मनुष्यलोक का ही वर्णन अधिक है। अतः श्रीरामगाथा में कई प्रकार के शङ्का समाधान की आवश्यकता है। अवतार का आविर्भाव चार पिण्डों में होता है, ऐसा सनातनधर्मियों के दर्शनग्रंथ और धर्मग्रंथ सभी स्वीकार करते हैं। तिर्यक्पिण्ड में मत्स्य आदि, देवपिण्ड में—दत्तात्रेय आदि, मानवपिण्ड में राम आदि और अलौकिक पिण्ड में नरहिंस आदि अवतार प्रकट हुए थे। भगवान् विष्णु ब्रह्माण्ड के रक्षक हैं अतः भगवान् के विशेष अतवार उन्हीं से प्रकट होते हैं, ऐसा वेद और

शास्त्रों का सिद्धांत है। रामावतार मनुष्य शरीर में हुआ था। इस कारण उस मानवपिण्ड में दो प्रकार की क्रियाएँ प्रकट हुई थीं। एक वह क्रिया जो भगवान् विष्णु के अवतार से प्रकट होती है—जैसे दुष्टों का दमन, शिष्टों का पालन, मर्यादा का संरक्षण, अलौकिक दैवी शक्तियों का प्रकटन आदि और दूसरी वह क्रिया, जो मनुष्य शरीरधारी के योग्य होती है—जैसे सीता देवी के वियोग में दुःख का अनुभव, वालिवध, शरणागत पर विशेष कृपा, भ्रातृप्रेम आदि। ये सब क्रियाएँ जिस मनुष्य शरीर में अवतार प्रकट हुआ हो, उसके पूर्व जन्मार्जित कर्मविपाक के अनुसार होती हैं। इस कारण ऐसे विषयों में वैदिक दार्शनिक सिद्धांत के अनुसार शङ्का का अवसर नहीं है। श्रीराम की लीला में निन्दा का भी कोई अवसर नहीं है। रामावतार प्रत्येक कल्प के प्रत्येक मन्वन्तर में हुआ करता है, ऐसा पूज्यपाद महर्षियों का मत है। दूसरी ओर कल्प-कल्पान्तर की सृष्टि भिन्न-भिन्न शक्ति की होती है। इसी प्रकार हर एक मन्वन्तर में सृष्टि का ढङ्ग बदल जाता है और सत्य, त्रेता, द्वापर आदि युगों में सृष्टि की अवस्था और यहाँ तक कि, उस समय के मनुष्यों तथा अन्य जीवों की शक्ति, प्रकृति और संस्कार आदि में बड़ा भारी अन्तर पड़ जाता है। इस कारण रामायण में जो मानवों की, दानवों की, वानरों की, रिक्षों की शक्ति, बुद्धि, पराक्रम, कर्म आदि की अलौकिकता पाई जाती है, उसके विषय में कालज्ञाता विद्वान के लिये कोई शङ्का का अवसर नहीं है।

आदर्श राजा श्रीरामचन्द्र का रामचरित्र श्रीवाल्मीकि रामायण में परिपूर्ण तो है ही, किंतु उनके वैराग्य की पूर्णता और ज्ञानगरिमा की पूर्णता योगवासिष्ठ आदि अन्य रामायणों में उज्जवल अक्षरों में प्रतिफलित हुई है। राजा श्रीरामचन्द्र के आदर्श राज्य में त्रिविध अनुशासन द्वारा एक ओर समाज का स्थायी रूप से सुशृंखला होना, दूसरी ओर शौर्य, वीर्य, न्यायपरायणता और सत्यनिष्ठा के द्वारा बलवान् अत्याचारियों से दुर्बल सत्यनिष्ठों की रक्षा करना, तीसरी और अयोग्य के तिरस्कार और योग्य के पुरस्कार द्वारा मनुष्य समाज और उसकी सभ्यता की रक्षा करना और चौथी और वर्णाश्रम शृंखला के द्वारा मनुष्य समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति और मनुष्य समाज की सभ्यता और उन्नतिशील मनुष्य जाति की रक्षा श्रमविभाग और योग्यता के अनुसार करना, सृष्टि रक्षा के इस चतुर्व्यूह के पूर्णा रूप से लक्षण देख पड़ते थे। रामचरित और श्रीसीता माता का चरित सर्वलोकहितकारी और गृहस्थमात्र के लिये आदर्श शिक्षाप्रद है। श्रीभगवान् रामचन्द्र का जीवनचरित सब युगों के राजाओं के लिये ध्यानपूर्वक अनुकरण करने योग्य है। इस प्रकार की जिस राजा की बुद्धि ज्ञान-वैराग्यसम्पन्न होती है, उसी की प्रजा धर्म निरत होकर इह-परलोक बना सकती है और उसी का राज्य जगत् में आदर्श स्वरूप हो सकता है। रामराज्य की इसी

महनीयता का विषद वर्णन रामायण में है, इसी से रामायण अमर है और जब तक चन्द्र सूर्य हैं, तब तक रामायण की और श्रीरामचद्र की कीर्ति अटल बनी रहेगी। इसी कारण रामायण ग्रंथ भारतद्वीप के प्राचीन इतिहास का ज्वलन्त आदर्श है।

संदर्भ

1. निवर्त्तमानः संहृष्टों रावणः स दुरात्मवान्।
जह्रे पथि नरेन्द्रर्षिदेवदानवकन्यकाः।।
दर्शनीयां हि यां रक्ष कन्यां स्त्रीं वाथ पश्यति।
हत्वा बन्धुजनं तस्या विमाने तां रुरोध सः।।
एवं पन्नगकन्याश्च राक्षसासुरमानुषीः।
यक्षदानवकन्याश्च विमाने सोऽध्यरोपयत्।।
ता हि सर्वाः सम दुःखान्मुमुचुर्बाष्पजं जलम्।
तुल्यमन्यचिंषां तत्र शांकाग्भिज्ञयसंभवम्।।
अहो दुर्वृत्तमास्थाय नात्मानं वै जुगुप्सते।
इदं त्स्वदृसं कर्म परदाराभिमर्शनम्।।
यस्मादेष परक्यासु रमते राक्षसाधमः।
तस्माद्वे स्त्रीकृतेनैव वधं प्राप्स्यति दुर्मतिः।।

—*रामायण, उत्तराकण्ड*

2. न हि तद्भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः।
तद्वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति।।

—*रामायण, अयोध्याकाण्ड*

3. स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा।।

—*भवभूतिः*

4. क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति।
अप्यहं जीवितं जह्यां स्वां वा सीते सलक्ष्मणम्।।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः।
तदवश्यं मया कार्यसृषीणां परिपालनम्।।
अनुक्तेनापि वैदेहि प्रतिज्ञाय कथं पुनः।।

—*रामायण, अयोध्याकाण्ड*

5. कश्चिज्जारो वा नारी वा नाश्रीमात्राप्यरूपवान्।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नापि राजन्यभक्तिमान्।।
न पर्यदेवन् विधवा न च व्यालकृतं भयम्।
न व्याधिजं भयं चासीद्रामे राज्यं प्रशासति।।
निर्दस्युरभवल्लोको नानर्थं कश्चिदस्पृशत्।
न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते।।
सर्वे मुदितमेवासीत् सर्वे धर्मपरोऽभवत्।
राममेवानुपश्यन्तो नाभ्यहिंसन्परस्परम्।।
आसन् वर्षसहस्त्राणि तथा पुत्रसहस्त्रिणः।

निरामया विशोकाश्च रामे राज्यं प्रशासति।।
नित्यमूला नित्यफलास्तरवस्तत्र पुष्पिताः।
कामवर्षी च पर्जन्यः सुखस्पर्शश्च मारुतः।।
स्वकर्मसु प्रवर्त्तन्ते तुष्टाः स्वैरेव कर्मभिः।
आसन् प्रजा धर्मपरा रामे शासित नानृताः।।
सर्वे लक्षणासम्पन्नाः सर्वे धर्मपरायणः।

—रामायण, युद्धकाण्ड

6. गोब्राह्मणहितार्थाय देशस्य च हिताय च।
तव चैवाप्रेमेयस्य वचनं कर्तुमुद्यतः।।

—रमयण, बालकांड

7. ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद्वैदिको धर्मः।

—शारीरिक भाष्य

8. ब्राह्मणोऽसीति पूज्योमे विश्वामित्रकृतेन च।
तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणाहरं शरम्।।

—रामायण, बालकांड

9. एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहं त्वितः।
नटाचीरधरो राज्ञः प्रतिज्ञामनुपालयन्।।
हितेन गुरुणा पित्रा कृतज्ञेन नृपेण च।
नियुज्यमानो विस्रब्धः किं न कुर्यामहं प्रियम्।।
अहं हि सीतां राज्यश्च प्राणानिष्टान् धनानि च।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्याम् भरताय प्रचोदितः।।
किं पुनर्मनुजेन्द्रेण स्वयं पित्रा प्रचोदित।
तव च प्रियकामार्थ प्रतिज्ञामनुपालयन्।।
यत् तत्र भवतः किञ्चित् शक्यं कर्तुंप्रियं मया।
प्राणानपि परित्यज्य सर्वथा कृतमेव तत्।।
नह्यतो धर्म्मचरणं किञ्चिदस्ति महत्तरम्।
यथा पितारि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया।।
अनुक्तोऽप्यत्र भवतो भवत्या वचनादहम्।
वने वत्स्यामि विजने वर्षाणीह चतुर्दश।

—रामायण, अ. कां.

10. नैवाहं राज्यमिच्छामि न सुखं न च मेदिनीम्।
नैव सर्वानिमान् कामान् न स्वर्ग न च जीवितम्।।
त्वामहं सत्यमिच्छामि नानृतं पुरुर्षभ।
प्रत्यक्षं तब सत्येन सुकृतेन च ते शपे।।

—रामायण, अ. कां.

11. लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्धा हिमवान् वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात् सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः।।
भवानपि तथेत्येव पितरं सत्यवादिनम्।
कर्तुमर्हसि राजेन्द्र क्षिप्रमेवाभिषिञ्चनात्।।
ऋणन्मोचय राजानं मत्कृते भरत प्रभुम्।
पितरं त्राहि धर्मज्ञमातरं चाभिनन्दय।।

—रामायण, अ. कां.

12. सुख-दुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ।
यस्य किञ्चित्तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत्।।
ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभिप्रचोदिताः।
उत्सृज्य नियमांस्तीव्रान् भ्रश्यन्ते काममन्युभिः।।
असंकल्पितमेवेह यदकस्मात् प्रवर्त्तते।
निवर्त्यारब्धमारम्भैर्ननु दैवस्य कर्म तत्।।
एतया तत्त्वया दुद्धया संस्तभ्यात्मानमात्मना।
ब्याहतेऽप्यभिषेके में परितापो न विद्यते।।

—*रामायण, अ. कां.*

13. इतीव तस्यां पुरुषं वदन्त्यां न चैव रामः प्रविवेश शोकम्।
प्रविव्यथे चापि महानुभावो राजा च पुत्रव्यसनाभितप्तः।।
सर्वोऽप्यभिजनः श्रीमान् श्रीमतः सत्यवादिनः।
नालक्षयत रामस्य कंचिदाकारमानने।।
उचतिं च महाबाहुर्न जहो हर्षमात्मवान्!।
शारदः समुदीर्णाशुश्चन्द्रतेज इवात्मजम्।।

—*रामायण, अ. कं.*

14. घृत्या यथा धारयते मनःप्राणन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारण्या धृतिः सा पार्थ सात्विकी।।

—*गीतोपनिषद्*

15. श्रुत्वा पितामहेनोक्तं वाक्यं कालसमीरितम्।
राघवः प्रहसन वाक्यं सर्वसंहारमवतीत्।।
श्रुत्वा म देवदेवस्य वाक्यं परममद्भुतम्।
प्रीतिर्हिं महती जाता तवागमनसम्भवा।।

—रामायण, उ. का.

16. तमेव दुःखितं प्रेक्ष्य विलपन्तं यशस्विनम्।
रामः कृतात्मा भरतं समाश्वासयदात्मवान्।।
नात्मनः कामकारो हि पुरुषोऽयमनीश्वरः।
इतश्चेतरतश्चैनं कृतान्तः परिकर्षति।।
सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तञ्च जीवितम्।।
यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे।
समेत्य च व्यपेयातां कालमासाद्य कंचन।।
एवं भार्याश्च पुत्राश्च वसूनि च।
समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां बिना भवः।।
धर्मात्मा सुशुभैः कृत्स्नैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः।
न स शोच्यः पिता तात! स्वर्गतः सत्कृतः सताम्।।
स जीर्णमानुषं देहं परित्यज्य पिता हि नः।
दैवीमृद्धिमनुप्राप्तो ब्रह्मलोकविहारिणीम्।।

—*रामायण, अ. कां.*

17. आहे घिङ् नार्हसे देवी! वक्तुं माकीदृशं वचः।
अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके।।
भक्षयेयं विषं तीक्षण पतेयमपि चार्णवे।
नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च।।
तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकांक्षितम्।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते।।

—रामायण, अ. कां.

18. मायाविहीनां वरद प्रपन्नां शोकमागरम्।
अदृष्टपूर्वव्यसनां भूयः संमन्तुमर्हसि।।
इमां महेन्द्रोपमजातगर्धिनीं तथा विधातुं जननीं ममार्हसि।
यथा वनस्थे मथि शोककर्षिता न जीवितं न्यस्य यमक्षयं व्रजेत्।।

—रामायण, अ. कां.

19. ततो दृष्टा सरुधिरं निषण्णं गाढमर्पितम्।
भ्रातरं दीनबदनं पर्यदेवयदातुरः।।
किं नु में सीतया कार्यं लब्धया जीवितेन वा।
शयानं येऽद्य पश्यामि भ्रातरं युधि निर्जितम्।।
शक्या सीतासमा नारी मर्त्यलोके विचिन्वता।
न लक्ष्मणसमो भ्राता सचिवः साम्परायिकः।।
परित्यक्षयाम्यहं प्राणान् वानराणां तु पश्यताम्।
यदि पञ्चत्वमापन्नः सुमित्रानन्दवर्धनः।।
किं में युद्धेन किं प्राणैर्युद्धकार्य न विद्यते।
यत्रायं निहतः शेते रणमूर्द्धनि लक्ष्मणः।।
यथैनं मां वनं यान्तमनुयाति महाद्युतिः।
अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम्।।
देशे-देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि पत्र भ्राता सहोदरः।।

—रामायण, यु. का

20. स तु ताम्यति धर्मात्मा मम हेतोः सुखोचितः।
सुकुमारो महाबाहुर्भरतः सत्यसंश्रयः।।
तं बिना कैकेयीपुत्रं भरतं धर्मचारिणम्।
न मे स्नानं बहुमतं वस्त्राण्याभरणानि च।।
एतत्पश्य यथा क्षिप्रं प्रतिगच्छाम तां पुरीम्।
अयोध्यां गच्छतो ह्येष पन्थाः परमदुर्गमः।।

—रामायण, यु. कां.

21. आरोपितो विमानं तद् भरतः सत्यविक्रमः।
राममासाद्य मुदितः पुनरेवाभ्यवादयत्।।
तं समुत्थाय काकुत्स्थश्चिरस्याक्षिपथं गतम्।
अङ्के भरतमारोप्य मुदितः परिषस्वजे।।
पादुके ते तु रामस्य गृहीत्वा भरतः स्वयम्।
चरणाभ्यां नरन्द्रस्य योजयामाप्त धर्मवित्।।

ततः प्रहर्षाद् भरतमङ्कमारोप्य राघवः।
ययौ तेन विमानेन ससैन्यो भरताश्रमम्।।

—*रामायण, उ. कां.*

22. गुहमेवं ब्रुवाणं तु राघवः प्रत्युवाच ह।
भुजाभ्यां साधुवृत्ताभ्यां पीडयन् वाक्यमब्रवीत्।।
यत्त्विदं भवता किञ्चित्प्रीत्या समुपकल्पितम्।
सर्वं तदनुजानामि न हि वर्त्ते प्रतिग्रहे।।

—*रामायण, अ. कां.*

23. निकृत्तपक्षं रुधिरावसिक्तं तं गृध्रराजं परिगृह्य राघवः।
क्व मैथिली प्राणसमा गतेति विमुच्य वाचं निपपात भूमौ।।

—*रामायण, अ. कां.*

पश्य लक्ष्मण! गृध्रोऽयमुपकारी हतश्च मे।
मम हेतोरयं प्राणान्मुमोच पतगेश्वरः।।
सीताहरणजं दुःखं न मे सौम्य! तथागतम्।
यथा विनाशो गृध्रस्य मत्कृते च परन्तप।।
सौमित्रे! हर काष्ठानि निर्मथिष्यामि पावकम्।
गृध्रराजं दिधक्ष्यामि मत्कृते निधनं गतम्।।
या गतिर्यज्ञशीलानामाहिताग्नेश्च या गतिः।
अपरावर्तिनां या च या च भूमिप्रदायिनाम्।।
मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान्।
गृध्रराज! महासत्व! संस्कृतश्च मया व्रज।
एकमुक्त्वा चिंता दीप्तामारोप्य पतगेश्वरम्।।
ददाह रामो धर्मात्मा स्वबन्धुमित्रदुः खितः।
शास्त्रदृष्टेन विधिना जलं गृध्राय राघवौ।।
स्नात्वा तौ गृध्रराजाय उदकं चक्रतुस्तदा।

—*रामायण, अ. कां.*

24. बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम्।
न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परंतप!।।
आर्त्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः।
अरि प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना।।
स चेद भयाद्वा मोहाद्वा कामाद्वापि न रक्षति।
स्वयां शक्त्या यथान्यायं तत्पापं लोकगर्हितम्।।
एवं दोषो महानत्र प्रपन्नानामरक्षणे।
स्वर्ग्यं चायशस्यं च बलवीर्यविनाशनम्।।
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च वादिने।
अभयं सर्वभृतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।
आनयैनं हरिश्रेष्ठ! दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्।।

—*रामायण, यु. कां.*

25. न पिता नात्मजो वात्मा न माता न सखीजनः।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा।।

यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव!।
अग्रतस्ते गमिष्यामि चिन्वन्ती कुशकण्टकान्।।
प्रासादाग्रे विमानैर्वा वैहायसगतेन वा।
सर्वावस्थागता भर्त्तुः पादच्छाया विशिष्यते।।
अहं दुर्गं गमिष्यामि वनं पुरुषवर्जितम्।
नानामृगगणाकीर्णं शार्दूलगणसेवितम्।।
सुखं वने निवत्स्यामि यथैव भवने पितुः।
अचिन्तयन्ती त्रींल्लोकांश्चिन्तयन्ती पतिव्रतम्।।
शुश्रूषमाणा से नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी।
सह रंस्ये त्वया वीर! वनेषु मधुगन्धिषु।।
फलमूलाशना नित्यं भविष्यामि न संशयः।
न ते दुः'खं करिष्यामि निवसन्ती त्वया सह।।
एवं वर्षसहस्राणि शतं वापि त्वया सह।
व्यतिक्रमं न वेत्स्यामि स्वर्गोऽपि हि न मे मतः।।
स्वर्गेऽपि च विना वासो भविता यदि राघव!।
त्वया बिना नरव्याघ्र! नाहं तदपि रोचये।।

—रामायण, अ. कां.

26. वहुवर्षसहस्राणि तपश्चर्य्या मया कृता।
नोपाश्नीयां फलं तस्या दुष्टेयं यदि जानकी।।
मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्व न किल्विषम्।
तस्याहं फलमश्नामि अपापा मैथिली न चेत्।।

—रामायण, उ. कां.

27. यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये।
तथा से माधवी दैवी विवरं दातुमर्हसि।।
मनसा कर्म्मणा वाचा यथा रामं समर्चये।
तथा में माधवी दैवी विवरं दातुमर्हसि।।
यथैतत्सत्यमुक्तं में बेद्मि रामात्परं न च।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हसि।।

—रामायण, उ. कां.

12

महाभारत

आकार के विस्तार के कारण युगपरिवर्तन के काल से संबंध होने के कारण, वेद के यावत् बड़े-बड़े रहस्यों का समावेश होने के कारण अनेक दैवी और मानवी आलौकिक चरित्रों का वर्णन होने के कारण तथा पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्ण के लोकोत्तर का महत्त्व का विवरण होने के कारण महाभारत की महिमा सर्वोपरि है। इस समय जितने महापुराण, पुराण, उपपुराण, औपपुराण तथा इतिहासशास्त्र उपलब्ध होते हैं, उनमें महाभारत का कलेवर सबसे वृहत् है। पुराणों और इतिहासों में महाभारत की महिमा सिद्ध करने के निमित्त इसको पञ्चम वेद कहते हैं और यह भी कहते हैं कि, जो महाभारत में नहीं, वह कहीं नहीं है। आचार-विचार, वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, प्रवृत्ति धर्म, साधारण धर्म, असाधारण धर्म, विशेष धर्म, आपद्धर्म आदि धर्म सिद्धान्तों का वणंन जैसा महाभारत में पाया जाता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

वेद के तीन काण्ड हैं। यथाः—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। तीनों काण्डों का रहस्य महाभारत में अति विस्तार में पाया जाता है। यहाँ तक कि, उपनिषदों का सार जिस प्रकार महाभारत में एकाधार में अति सरल रूप से पाया जाता है, वैसा अन्यत्र नहीं हैं। वेद के उपनिषद् भाग, संहिता भाग और ब्राह्मण भाग के संक्षिप्त सार से महाभारत का शरीर सुशोभित हो रहा है। शिल्पनैपुण्य (आर्ट), पदार्थविद्या (साइन्स) और सब दर्शनाशास्त्रों (फिलॉसफी) के सार-वर्णन के द्वारा महाभारत के अनेक अध्याय परिपूर्ण हैं। महाभारत की सर्वोपरि विशेषता यह है कि, इसमें किसी उपासनाकाण्ड के सम्प्रदाय, कर्मकाण्ड के सम्प्रदाय अथवा ज्ञानकाण्ड के सम्प्रदाय का पक्षपात देखने में नहीं आता और कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का सर्वाङ्गीण रहस्य एकाधार में प्राप्त होता है। महाभारत की चरित्रावली और महाभारत की गाथाएँ देवलोक के इतिवृत्त और मनुष्य लोक के इतिवृत्त से

पूर्ण होने पर भी मनुष्य लोक की चरित्रावली इस प्रकार से सन्निविष्ट है, जिससे इसका ऐतिहासिक स्वरूप सब श्रेणी के मानवों के लिये परम हितकर हो गया है।

मानवी सभ्यता की अभिवृद्धि, मनुष्य समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति, स्त्री-पुरुषों का चरित्रगठन, मनुष्यमात्र की ऐहिक और परलौकिक उन्नति तथा मनुष्यमात्र की यथा योग्य अधिकारानुसार ज्ञानोन्नति के निमित्त जिन-जिन बातों की आवश्यकता है, वे सब महाभारत में विद्यमान हैं। जैसा मनुष्यशरीर में मस्तक उत्तमाङ्ग है, वैसा महाभारत के शरीर का उत्तमाङ्ग श्रभ्मद्धगवद्गीता है। सनातनधर्मियों के विचार से भगवद्गीता सब वेदों की साररूप है ही, किंतु पृथ्वी की सब सभ्य जातियों में, सब दार्शनिक तत्त्वज्ञानियों में और सब निरपेक्ष विद्वानों में श्रीमद्भगवद्गीता का आदर हुआ है। पण्डितमात्र की यह सम्मति है कि, श्रीमद्भगवद्गीता जैसा ज्ञान-शास्त्र और सर्वजीवहितकारी ग्रंथ दूसरा देखने में नहीं आता। अतः चाहे लौकिक विषय हो, चाहे अलौकिक विषय हो, सब प्रकार के ज्ञान का आधार होने से महाभारत को यदि पञ्चम वेद कहा जाय, तो अत्युक्ति नहीं होगी।

शृंखला की महिमा सर्वोपरि है। दैवीशृंखला (ऑरगनाइजेशन) से ही चतुर्दशलोकमय ब्रह्माण्ड की सुव्यवस्था और सुरक्षा होती है। यदि दैवीशृंखला की सुव्यवस्था और नियमबद्ध प्रणाली ठीक न रहे, तो दैवीशृंखला भङ्ग हो जायेगी और दैवीशृंखला के भंग होने से चतुर्दशलोक की व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगी। लौकिक जगत् में भी ऐसा ही देखने में आता है। यदि किसी साम्राज्य के रक्षण और शासन-विभाग की शृंखला (ऑरगनाइजेशन) ठीक रीति से सुरक्षित न हो, तो वह साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट होकर काल के कवल में चला जाता है। इसी प्रकार जिस मनुष्य जाति की सामाजिक शृंखला अति दूरदर्शितापूर्ण सुव्यवस्थित और सुदृढ़ हो, वही मनुष्य जाति अथवा मनुष्य समाज चिरंजीवी हो सकता है। जहाँ यह शृंखला नहीं है, वह क्रमशः विलासी, उच्छृङ्खल और बर्बर होकर विनष्ट हो जाती है। इसी अपरिहार्य प्राकृतिक नियम के अनुसार भगवान् ब्रह्मा, भगवान् विष्णु और भगवान् शिवरूपी ब्रह्माण्ड के अधीश्वरगण ब्रह्माण्ड की सृष्टि स्थितिलय की क्रिया को सुव्यवस्थित और यथावत् रखते हैं। इसी प्राकृतिक अलङ्घनीय नियम के अनुसार भगवान् यम, भगवान् मनु, भगवान् इन्द्र आदि बड़े-बड़े देवपदधारी गण अपने-अपने देवपदों में स्थित रहकर अन्यान्य देवताओं से यथावत् काम लेते हैं और उनको शासनाधीन रखकर और देवताओं तथा असुरों को अपने-अपने अधिकारों में संयमित रखकर ब्रह्माण्ड दैवीशृंखला को अस्त-व्यस्त होने नहीं देते। जिसके फल से मृत्युलोक की भी सुव्यवस्था बनी रहती है।

इसी दैवीशृंखला के नियमानुसार भारतवर्ष में अपने-अपने समय पर सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग रूपी काल, भूः भुवः स्वर्लोकरूपी त्रिलोक में मन्वंतर

आदि काल और ब्रह्माण्ड में कल्प आदि काल का आविर्भाव यथासमय हुआ करता है। कल्प-कल्पान्तर में सब सृष्टि बदल जाती है। मन्वन्तर के समय इन्द्रादि पदधारी बदल जाते हैं और त्रिलोक की व्यवस्था नयी हो जाती है। तदनुसार भारतवर्ष में भी चार युगों का यथासमय आविर्भाव हुआ करता है। जैसे त्रिलोक में देवपदधारी अपने-अपने समय पर देवपदों पर दैवीशृंखला से पहुँच जाया करते हैं, वैसे ही भारतवर्ष में अलग-अलग युगों में सृष्टि की स्थिति के निमित्त और शृंखला की सुव्यवस्था के निमित्त भगवान् के अवतार समूह और ऋषियों तथा देवताओं के अवतार समूह अपने-अपने समय पर प्रकट होकर अपने-अपने दैवी राज्य द्वारा प्रेरित कार्यों को सम्पन्न किया करते हैं। यही वेद और शास्त्रों का अकाट्य सिद्धांत है।

इसी दैवीशृंखला की सुव्यवस्था के अनुसार प्रत्येक सत्ययुग में वेदरूपी नादपुस्तक का पूर्ण आविर्भाव हो जाता है। अन्यान्य युगों की सन्धियों में बिन्दुपुस्तक, ब्रह्माण्ड पुस्तक और नाना प्रकार की दैवी और आसुरी पिण्ड पुस्तकें यथा देश काल पात्र समष्टि कर्मों के अनुसार दैवी सहायता से प्रकाशित होती रहती है। इसी शृंखला के अनुसार उनका समय-समय पर आविर्भाव और तिरोभाव ही हुआ करता है। इस कारण वेद और शास्त्रों के आविर्भाव के काल का निर्णय करने में प्रवृत्त होना बाल-चापल्य मात्र है। इसी शृंखला की अपरिहार्य व्यवस्था के अनुसार सहजपिण्ड धारी मत्स्य, कूर्म आदि अवतारों, अलौकिकपिण्डधारी नृसिंह जैसे अवतारों और मानवपिण्डधारी रामकृष्णादि अवतारों का यथानिर्णीत समय में और यथादेशकालपात्र आविर्भाव हुआ करता है। इसी प्रकार हरिश्चन्द्रादि राजा, वेदव्यास-वसिष्ठादि ऋषि, शुकादि महात्मा यथासमय यथानियम आविर्भूत होते हैं। ये सब विशेष पदधारी हैं। यद्यपि इन पदों पर नयी-नयी आत्माएँ नये-नये युगों में आ जाती हैं, तथापि ये पद उन-उन युगों में ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं। इस कारण पुराणों के वर्णनवैचित्र्य में संदेह करने की आवश्यकता नहीं।

ज्योतिषशास्त्र प्रत्यक्ष शास्त्र है। उसके सम्मुख पदार्थ विद्यावादी साइण्टिस्टों को भी सिर झुकाना पड़ता है। उससे यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि, 27 नक्षत्रों और 12 राशियों को भोगकर सूर्य का एक वर्ष में पुनः पूर्वस्थान में आ जाता है। चन्द्रमा की शुक्ल-कृष्णपक्षीय गति प्रतिदिन देखने में आती है। बृहस्पति तेरह मास में सब राशियों को भोग करता है और साठ सहस्र वर्षों में फिर समस्त ग्रहण पूर्व के लग्न में आ जाते हैं। अन्य ग्रह भी अपने-अपने समय में अपनी-अपनी कक्षा के भ्रमण को पूरा कर लेते हैं। यहाँ तक कि, धूतकेतु आदि की गति भी नियमित है। राशि और नक्षत्रों की गति नियमित है, यह तो सदा ही प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसी उदाहरण के अनुसार यह समझना उचित है कि, दैवीशृंखला के रक्षक देवपदधारीगण,

मानुषी शृंखला की दैवीप्रक्रिया के रक्षक देवताओं और ऋषियों के अवतारगण तथा पूर्ण शक्तिशाली भगवदवतारगण सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग, और कलियुग के अन्तर्गत यथावत् समय में आविर्भूत होते रहते हैं। क्योंकि सृष्टि शृंखला की रक्षा के निश्चित पद हैं। यही प्राचीन भारतद्वीपवासियों का सर्वतंत्र सिद्धांत है, जिसके प्रमाण वेद और शास्त्रों में सब जगह पाये जाते हैं।

शास्त्रों में यह सिद्ध है कि, सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग इन चारों युगों का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से त्रिलोक पर और अप्रत्यक्ष रूप से सारे ब्रह्माण्ड पर यथासंभव पड़ने पर भी इन चारों का यथार्थ स्वरूप मृत्युलोकरूपी भारतवर्ष में ही प्रकट हुआ करता है। वस्तुतः इन चारों युगों की लीलाभूमि भारतवर्ष में ही है, इन चारों संस्कार मोक्षभूमि भारतद्वीप में बना रहता है। इसका कारण प्रत्यक्ष ही है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों की विशेष विवेचना का स्थान मोक्षभूमि भारतद्वीप ही सदा से रहा आया है। इन चारों युगों के अलग-अलग समयों में मनुष्य जाति के विद्या, बल, धन, धर्म तथा आयु, मेधा, धैर्य, पराक्रम आदि का बहुत कुछ न्यूनाधिक्य होता रहता है। यही कारण है कि, चारों युगों की सन्धियों में सब प्रकार के बड़े भारी परिवर्तन की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि, इन युगों की सन्धियों में बड़े-बड़े शक्तिशाली अवतार हुआ करते हैं। संसार में देखने में आता है कि, सम्पत्ति और ऐश्वर्य भोग के समय की अपेक्षा विपत्ति के समय मनुष्य को धैर्य आदि गुणों की परीक्षा देने का अवसर अधिक प्राप्त होता है। विपत्ति के समय में जो मनुष्य परीक्षोत्तीर्ण होता है, उसकी योग्यता श्रेष्ठ कही जाती है। साधारणतः मनुष्यलोक और विशेषतः आध्यात्मिक उन्नतिशील आर्यजाति के लिये द्वापरयुग और कलियुग की सन्धि बहुत ही भयानक समझी गयी है। इस कारण यह सन्धि कठिन से कठिन होने से इसमें दैवी सहायता पहुँचाने के लिये भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जैसे पूर्णावतार के आविर्भाव की आवश्यकता हुई थी। इन सब सिद्धान्तों का ज्वलन्त प्रमाण महाभारत में पाया जाता है।

सनातन धर्म के शास्त्रों ने तथा पूज्यपाद महर्षियों ने एक वाक्य होकर यह सिद्धांत किया है कि, अन्य अवतार अंशावतार है और भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णावतार है।[1] अवतारतत्त्व के विषय में सनातधर्मियों के पुराणों और इतिहासों में जो विज्ञान वर्णित हैं, उसका सारांश यह है कि, कला के विकास के क्रम में अंशावतार और पूर्णावतार के स्वरूप तथा कामों में भेद पाये जाते हैं। अंशावतार में प्रयोजन के अनुसार भगवान् की शक्ति नौ कलाओं में पन्द्रह कलाओं तक विकास को प्राप्त होती है, परंतु पूर्णावतार में सोलह कलाओं का पूर्ण विकास हो जाता है। अंशावतार और पूर्णावतार दोनों का ही उदय समष्टि जीवों के कल्याण के लिये होने पर भी

अशांवतार द्वारा अंशरूप से समय के अनुकूल कल्याण होता है और पूर्णावतार के द्वारा पूर्ण तथा सब समयों में उपकार करने वाला कल्याण होता है। अंशावतार परशुराम, बुद्धदेव आदि के द्वारा आंशिक और उस समय के योग्य कल्याण हुआ था और पूर्णावतार श्रीकृष्ण के द्वारा सब जीवों का जो कल्याण हुआ है, वह नित्य पूर्ण और सदा फल देने वाला कल्याण है। श्रीभगवान् सत्, चित् और आनन्द रूप हैं। पूर्णावतार में इन तीनों सत्ताओं का पूर्ण विकास होने के कारण पूर्णावतार के जीवन में कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों की लीलाएँ पूर्ण रूप से देखने में आती हैं और उनमें इन तीनों की समता भी रहती है। जिस पुरुष या स्त्री में अङ्ग-प्रत्यङ्ग की जितनी समता (Symmetry) होती है, वे उतने ही सुंदर दिखते हैं। उसी प्रकार मानसिक विरुद्ध वृत्तियों की समता द्वारा मन की सुंदरता और आत्मा के विविध भावों की समता द्वारा आत्मा की सुंदरता प्रकाशित होती है। पूर्णावतार में आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक विविध पूर्णता होने से उनमें स्थूल शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की पूर्ण समता, मानसिक वृत्तियों की पूर्ण समता तथा आत्मासंबंधी बुद्धि, प्रतिभा आदि की पूर्ण समता होना विज्ञानानुकूल है। पूर्णावतार का स्थूल शरीर पूर्ण सुंदर, मन पूर्ण सुंदर और आत्मा पूर्ण सुंदर होती है। श्रीकृष्ण के पूर्णावतार में भी इन तीनों का पूर्ण विकास होना स्वाभाविक था। आधिभौतिक पूर्णता होने से सौन्दर्य और ब्रह्मचर्य की पूर्णता, आधिदैविक पूर्णता होने सक शक्ति और ऐश्वर्य की पूर्णता और आध्यात्मिक पूर्णता होने से ज्ञान और वैराग्य की पूर्णता होना पूर्णावतार में स्वतः सिद्ध है। ये सब बातें भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन में पूर्ण रूप से विद्यमान थीं, यह सनातन धर्मियों के पुराणों और इतिहासशास्त्र से सिद्ध है। यही कारण है कि, पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्र अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत तीनों भावों से पूर्ण थे।

पूर्णावतार के प्रकट होने की आवश्यकता तभी होती है, जब पृथ्वी भार दुरात्मा असुरों के द्वारा असाधारण रूप से बढ़ जाता है। ऐतिहासिक तत्त्व से भी ऐसा ही सिद्ध होता है। ऐतिहासिक तत्त्व से भी ऐसा ही सिद्ध होता है। भूभार-हरण के लिये ही भगवान् कृष्णचन्द्र का अवतार द्वापर के अन्त और कलि के आरंभ में हुआ था। उस समय एक ओर तो कंस, जरासन्ध आदि प्रबल असुरों के अत्याचारों से संसार अत्यंत पीड़ित हो रहा था, संसार से भगवान् के नाम तक का लोप हो रहा था, धर्म की धारा एक बार ही सूख चली थी और दूसरी ओर दुर्योधन आदि कौरव राजाओं के पापाचरण से राजा और प्रजा दोनों में भयंकर रूप से पाप की वृद्धि हो रही थी। कृष्णावतार के पहले शिशुपाल और दन्तवक्र नामक असुरों के अत्याचार से भी पृथ्वी उत्पीड़ित हो उठी थी। इसके सिवाय अधासुर, बकासुर, धेनुकासुर, गर्दभासुर, अरिष्ट, वृषभ, केशी, प्रलंब, चाणूर, तृणावर्त्त, मुष्टिक, नरकासुर, पाञ्चजन,

कालयवन, शम्बर, बाण आदि कितने ही असुर उस समय उत्पन्न हो गये थे, जिनके पापाचरण और अत्याचार से पृथ्वी बहुत ही दुःखित हो गयी थी और संसार में धर्म का एक बार ही लोप हो चला था। अतः इस सब असुरों के पाप के बड़े बोझ से पृथ्वी को बचाने के लिये और पाप को नाश करके समय के योग्य धर्म की धारा को प्रवाहित करने के लिये पूर्ण कलाओं में श्रीकृष्ण का और आंशिक कलाओं में बलराम का अवतार हुआ था। धर्म की व्यवस्था कितनी गिर गई थी, यह इसी से समझ सकते हैं कि, तुरंत उत्पन्न हुए बालकों को मारने में, अपनी सहोदरा बहिन और बहनोई को अन्याय रूप से कैद करके लगातार उनकी सन्तानों को जन्म लेते ही मार देने में और अपने पिता उग्रसेन को कैद करने में भी दुरात्मा कंस को कोई संकोच नहीं होता था। आज संसार इतना गिरा है, तो भी अपनी रजस्वला एकवस्त्र भौजाई को भरी हुई सभा के बीच में नग्न करने की पापेच्छा किसी भाई के हृदय में नहीं उत्पन्न हो सकती। परंतु जहाँ पर रजस्वला द्रौपदी भरी सभा के बीच में नग्न की जाय और भीष्म पितामह जैसे महात्मा और द्रोणाचार्य जैसे विद्वान् उसको देखते रहें, एक शब्द उनसे न कहा जाये वहाँ पर समाज की दशा कितनी शोचनीय हो गयी थी, इसको विचारवान् मनुष्यमात्र ही समझ सकते हैं। जहाँ पर बालब्रह्मचारी भीष्म पितामह की बुद्धि पर भी अज्ञान का मेघ घिर जाय और द्रोण आदि सात रथी एकाकी, अस्त्र-शस्त्र से रहित, असहाय अभिमन्यु को भीरु की तरह मारकर भी अपनी वीरता समझें, वहाँ पर क्षत्रिय धर्म कितना नष्ट हो गया था, यह सभी अनुमान कर सकते हैं। पिता की सम्पत्ति का आध ा अंश प्राप्त करने का अधिकार पाण्डवों को था; परंतु राज्य देना तो दूर रहा, जुए में पाण्डवों को हरा के कितने ही वर्षों तक उन्हें कौरवों ने जंगल में घुमाया और संसार में ऐसा कोई अन्याय का बर्ताव नहीं रह गया, जो उनके साथ नहीं किया। वनवास तथा अज्ञातवास के अनन्तर जब पाण्डवों ने आधी सम्पत्ति माँगी, तो दुष्ट दुर्योधन ने अस्वीकार कर दिया। फिर पाँच ही ग्राम जब श्रीकृष्ण ने उनके लिये माँगे, तब दुर्योधन ने कहा—एक सूई के आगे जितनी भूमि आती है, उसका भी आधा भाग युद्ध किये बिना नहीं मिलेगा।[2] केवल इतना ही नहीं, घमण्डी दुर्योध ान ने, जिनके चरणकमलों के आश्रय से जीव संसार के बन्धन से मुक्त होते हैं, उन्हीं श्रीकृष्णचन्द्र को बाँधने की आज्ञा दी। इससे समझ सकते हैं कि, कृष्णावतार के पहले संसार में कितना पाप, अत्याचार और अज्ञान बढ़ गया था। इन्हीं पापियों का नाश करके पृथ्वी का पाप भार दूर कर धर्म की धारा की वृद्धि के लिये ही पूर्ण कलाओं में श्रीभगवान् का अवतार हुआ था। गुरु सबके पूज्य होते हैं, शिष्य

पर उनका ममत्व होता है, परंतु जहाँ पर गुरु शिष्य का तथा शिष्य-पुत्र का प्राण विनाश करे और गुरुपुत्र अश्वत्थामा नींद की अवस्था में शिष्य-पुत्रों का प्राण विनाश करने में संकोच न करे वहाँ पर कितना पाप बढ़ गया था, इसको सभी लोग अनुभव कर सकते हैं। आर्यशास्त्र के सिद्धांत के अनुसार बालक की हत्या के समान पाप नहीं है और निद्रित अवस्थाओं में मनुष्य की तो बात ही क्या, वृक्ष पर चोट लगाना भी पाप है। परंतु द्रोण के पुत्र अश्वत्थामा ने निद्रित अवस्था में ही द्रौपदी के पाँच बालकों का प्राण विनाश कर दिया था और गर्भ में ही परीक्षित को मार डालने के लिये उत्तरा के गर्भ में ऐषीकास्त्र का प्रयोग किया था। ऐसे-ऐसे भयंकर पाप द्वापर और कलि के संधिकाल में भारतवर्ष में फैल गये थे। यह समय बड़ा ही भयंकर हो उठा था। वह इतना भयंकर समय था कि, असुरों के बड़े-बड़े अवतारों का सामना करने के लिये अनेक देवताओं के अवतार भारतद्वीप में प्रकट हुए थे। जिनमें भगवान् बलराम की अंशावताररूप से प्रधनता थी। पुराण शास्त्रों से यह भी प्रमाणित है कि, पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्र की मनुष्य लीला को पूर्ण करने के लिये अनेक देव-देवियों का मानव-पिण्ड में जन्म हुआ था।[3]

श्रीविष्णुभागवत, अग्निपुराण आदि पुराणों और महाभारत में श्रीभगवान् के पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्र के अलौकिक जन्म, कर्म और लीलाओं के विषय में बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन है। भगवान् का जन्म ऐसे समय में हुआ था, जिस समय उनके माता-पिता कारागार में थे। असुरराज कंस ने उनका जन्म होते ही उनके प्राणाहरण करने का पूरा उद्योग किया, परंतु दैवी प्रेरणा और सहायता से वे मथुरा से गोकुल पहुँचाये गये। वहाँ सद्गृहस्थ नन्दराज के घर पुत्र रूप से प्रतिपालित हुए। अपनी बाल्यावस्था में ही गोकुल और वृन्दावन आदि में अलौकिक बाललीला करते हुए खेलते-खेलते उन्होंने अनेक असुरों को मारा, दैवकोप से ब्रज को बचाया, रासलीला आदि की मधुरता से ब्रज के नर-नारियों को मुग्ध किया और नौ वर्ष की अवस्था में ही बड़े-बड़े असुरों को मारकर अपने दैवी और मधुर चरित्र के प्रभाव से ब्रज के नर-नारियों को भगवद्भक्ति का रसास्वादन कराया था। तदनन्तर जब गोकुल से उनका मथुरा में आना हुआ, तब लोगों को उनके जन्मस्थान का पता लगा और उसी बाल्यावस्था में उन्होंने कंस को मारकर उसके पिता अर्थात् अपने नाना को मथुरा का राज्य सौंप दिया। मथुरा में ही उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। इससे सिद्ध है कि, इससे पहले उनकी अवस्था 9 से 11 वर्ष के बीच थी। अनन्तर जब उनकी यौवनलीला प्रारंभ हुई, तब मथुरा और द्वारका में रहकर उन्होंने अनेक धर्मघातक बड़े-बड़े असुरों का नाश किया और कराया। महाभारत के अंतिम युद्ध में स्वयं

शस्त्र धारण न कर उन्होंने धर्म की स्थापना और अधर्म के नाश के द्वारा भूभार का हरण किया और एक बहाने से अपने दाम्भिक राजकुल का विनाश करके भूभारहरण की पूर्णता कर डाली।

श्रीभगवान् कृष्ण की बाललीला जैसी अलौकिक दैवी शक्तियों के विकास से सुशोभित है, जो बिना पूर्णावतार के अन्यत्र विकसित नहीं हो सकती, वैसी उनकी यौवनलीला भी अनुपम और अलौकिक शक्ति तथा भावों से पूर्ण है। उनका सहस्रों कन्याओं से विवाह करना, सहस्रों रानियों के रहते हुए भी योगपरायण होना, आदि बातें पूर्णावतार के शरीर के बिना हो नहीं सकतीं। अतुल दैवीशक्तिसम्पन्न होने और अनायास भारत के सम्राट् होने की सुविधा रहने पर भी राजैश्वर्य को तुच्छ समझकर वे औरों को राजा बनाते रहे। वे यदि चाहते, तो स्वयं महाभारत के महायुद्ध में सबका संहार कर स्वयं भारत सम्राट् हो सकते थे; परंतु ऐसा न कर महायुद्ध के आरंभ तक वे सन्धि का ही प्रयत्न करते रहे अन्त में उस बन्धु कलह के महायुद्ध में किसी का पक्ष न लेकर निरपेक्ष भाव से केवल सारथी का काम करके निष्काम-कर्मयोग का आदर्श स्थापित कर गये। अपनी सात्त्विक धृति और सात्त्विक ज्ञान का आदर्श और अपनी आध्यात्मिक शक्ति की पराकाष्ठा जगत् में प्रकट करने तथा जगत् शिक्षा के अभिप्राय से महायुद्ध जैसे विपरीत देश काल में जिस श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश उन्होंने अर्जुन को दिया था, उसकी तुलना इस मृत्युलोक में न कभी हुई है, न होगी। उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य वर्णाश्रम शृंखला को स्थायी रखना था। वे वर्णश्रम मर्यादा के गौरव को कितना मानते थे, इसका आदर्श उन्होंने महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में स्वयं ब्राह्मणों के पैर धोने का काम स्वीकार कर स्थापित किया था। उनकी शरणागतवत्सलता का ज्वलन्त उदाहरण महारानी द्रौपदी की भरी सभा में लज्जा रखना है। उनके मित्र प्रेम का आदर्श सुदामाचरित्र में प्रतिफलित हुआ है। उनके भ्रातृप्रेम का आदर्श बलराम के साथ किया हुआ अति मधुर व्यवहार है। उनका सखाप्रेम अर्जुन के साथ और उनका आत्मीय वात्सल्य पाण्डवमात्र के साथ प्रकट हुआ था। उनकी गुरुजन श्रद्धा तो उनके जीवन चरित्र को अति मधुर बना रही है।

पूर्णावतार के जीवन में कार्यब्रह्म के भीतर सद्भाव के अनुसार कर्म की पूर्ण लीला, चित् भाव के अनुसार ज्ञान की पूर्ण लीला और आनन्द भाव के अनुसार उपासना तथा रसकी पूर्ण लीला प्रकट होती है। यही कारण है कि, पूर्णावतार श्रीकृष्ण के लीलाकाल में कार्य ब्रह्म के भीतर नाना प्रकार के अनन्त विचित्र कर्म संघटित हुए थे, उपासना भाव के अंतर्गत मुख्य रस और गौणरसरूप से जो चतुर्दश प्रकार के रसों का वर्णन दर्शनशास्त्रों में पाया जाता है, सभी के साधक भक्त उनके लीलाकाल

में देखने में आये थे और अनन्त ज्ञान समुद्र के जितने तरङ्ग हो सकते हैं, सभी के प्रभाव उनके विचार तथा कार्यसमूह में प्रकट हुए थे। यही अनन्त विस्तारमयी, कर्मो पासनाज्ञान संबंधी उनकी पूर्णावतार लीला का रहस्य है।

पुराणों और इतिहासों में जो श्रीकृष्ण चरित्र वर्णित है, उसका सारांश यह है कि, उनके सभी कार्य भावातीत कोटि के होते थे और भावातीत कोटि के होने से ही उनके कार्य में लौकिक धर्म-अधर्म पाप-पुण्य, सत्य-मिथ्या, न्याय-अन्याय, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि का कोई भी भाव लौकिक बुद्धिगम्य नहीं होता था। उनके भावातीत स्वरूप में ये सभी लौकिक द्वन्द्वमूलक भाव लय हो जाते थे। केवल समष्टिजगत के चिरस्थायी कल्याण का लक्ष्य रखकर उनके सब कार्य अनुष्ठित होते थे और समष्टि-जगत के कल्याण का विचार करके ही उनके कार्य में धर्माधर्म का स्वरूप निर्णीत हुआ था। जिस कार्य में व्यक्तिगत धर्म का संबंध है, परंतु समष्टि जगत् कल्याण का संबंध नहीं है, इस प्रकार के कार्यों को पूर्णावतार कदापि नहीं करते। व्यक्ति के विचार से यदि अधर्म भी हो और उस व्यक्तिगत अधर्म के द्वारा समिष्टगत कल्याण या धर्म सिद्ध होता हो, तो पूर्णावतार उस कार्य को अवश्य करेंगे और व्यक्तिगत धर्माधर्म के प्रति उपेक्षा करेंगे। व्यक्तिगत अधर्म या धर्म का संस्कार पूर्णावतार के केन्द्र को कदापि स्पर्श नहीं करेगा। क्योंकि भावातीत स्वरूप में लौकिक धर्माधर्म स्पर्श नहीं कर सकता। इस प्रकार के कर्म के साथ उनके अपने अभिमान का कोई भी संबंध न रहने से उस कार्य का अच्छा-बुरा कोई संस्कार उनके केन्द्र को स्पर्श नहीं करेगा। वे सब धर्म या अधर्म से होने वाले संस्कार उस समष्टि-प्रकृत का आश्रय करेंगे, जिसके आश्रय से अभिमानशून्य होकर पूर्णावतार ने कार्य किया था। ये ही भावातीत अलौकिक भाव पूर्णावतार के कर्म में रहते हैं और यही कारण है कि, अंशावतार के कार्यसमूह तो अलौकिक जीव जान लेते हैं, किंतु पूर्णावतार के कार्यरहस्य को वे जान नहीं सकते। अलौकिक चरित्र रहस्य को जानना लौकिक जीवों की बुद्धि कोटि के बाहर की बात है। इसी कारण रामादि के चरित्रों पर संदेह कम होता है और कृष्णचरित्र पर इतनी शङ्काएँ होती हैं।

अब श्रीभगवान् के पूर्णावतार श्रीकृष्ण के द्वारा किये हुए कुछ जटिल कर्मों का तथा धर्म सङ्कटों का वर्णन करके उल्लेखित अलौकिक कर्म के विज्ञान का रहस्य शङ्कासमाधानार्थ बताया जाता है। श्रीभगवान् कृष्ण के कर्मजीवन में ऐसे-ऐसे अवसर कई बार आये हैं, जिनमें उनके जैसे पूर्णावतार के सिवाय और कोई भी कर्तव्य का निश्चय नहीं कर सकता था। महाभारत में लिखा है कि, जिस समय अनेक संग्रामों के अनन्तर द्रोणाचार्य की मृत्यु नहीं हुई और उनके भयानक अस्त्र प्रहार से पाण्डव सैन्यों का बराबर क्षय होने लगा, उस समय उनको मारने के लिये यह

उपाय देखा गया कि, उनके पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु का समाचार यदि वे सुनेंगे, तो संग्राम करना छोड़ देंगे और उस दशा में पूर्वशाप के कारण महावीर द्रोणाचार्य का वध हो सकेगा। तदनुसार द्रोण को लोगों ने जाकर कहा कि, अश्वत्थामा मर गया। अन्य पुरुषों के मुख से पुत्र की मृत्यु का समाचार सुनने पर भी द्रोणाचार्य को विश्वास नहीं हुआ और उन्होंने कहा कि, जब तक धर्मराज युधिष्ठिर इस बात को अपने मुख से नहीं कहेंगे, तब तक उनको पूर्ण विश्वास नहीं होगा। तदनुसार श्रीकृष्ण ने जाकर युधिष्ठिर से कहा,—"आप झूठ कह दीजिये कि, अश्वत्थामा की मृत्यु हुई है।" धर्मराज युधिष्ठिर सत्यप्रतिज्ञ थे, इसलिये उन्होंने असत्य कहना अस्वीकार किया। बहुत समझाने पर युधिष्ठिर ने कहा,—"अश्वत्थामा मारा गया, मनुष्य या हाथी!"[4] उस अश्वत्थामा नामक एक हाथी मारा गया था, इसलिये 'कुञ्जर' शब्द के साथ अश्वत्थामा की मृत्यु कहना युधिष्ठिर ने स्वीकार किया जिससे उनका वचन असत्य न हो। यहाँ पर श्रीकृष्णचन्द्र ने सोचा था कि, द्रोझाचार्य जब अधार्मिक दुर्योधन के पक्ष में हैं, तो उनकी मृत्यु के बिना धर्म की जय और संसार का कल्याण होना असंभव है। इसलिये एक और तो युधिष्ठिर की सत्यप्रतिज्ञा की रक्षा द्वारा व्यक्तिगत धर्म का पालन है और दूसरी ओर पापियों के नाश और भूभारहरण के द्वारा समस्त ओर पापियों के नाश और भूभारहण के द्वारा समस्त संसार का कल्याण है। इसलिये समष्टि और व्यष्टिगत धर्म के विचार से द्रोणाचार्य का मरण होना ही उस समय धर्म था और यदि उसके लिये किसी को असत्य भी बोलना पड़े, तो असत्य भी धर्म था।[5]

श्रीकृष्ण के जीवन में निष्काम कर्मयोग की भावातीत गति है, जिसका आश्रय करके उन्होंने अपूर्व रूप से संसार का कल्याण साधन कर दिया था और धर्माधर्म, सत्यासत्य, पापपुण्य आदि द्वन्द्व के सम्पर्क से रहित होकर वे अनायास अनन्त धाम को प्राप्त भी हो गये थे। ऐसे-ऐसे अनेक धर्म संकटों की मीमांसा उनके कर्मजीवन में मिलती है, जिससे कर्म के साथ-साथ ज्ञान का सामञ्जस्य धर्म की मीमांसा में पाया जाता है, जो अन्य के लिये दुर्लभ है।

श्रीमद्भागवत के श्रीकृष्णचरित्र में उपासना की महिमा जिस प्रकार दिखाई गई है, उसी प्रकार महाभारत के श्रीकृष्णचरित्र में कर्म और उनकी पूर्णता का सुंदर चित्र दिखलाया गया है। धर्मसंकट के समय कर्तव्याकर्तव्य की समस्या की मीमांसा, भविष्य का पूर्ण ज्ञान, अवश्य कर्तव्य के पालन में निःसकोच प्रवृत्ति, जगत् कल्याण बुद्धि की पराकाष्ठा, नीति और ज्ञान को साथ-साथ मिलाकर उदार बुद्धि से काम लेने की योग्यता, से सब ज्ञानयोग और कर्मयोग के उदार आदर्श श्रीकृष्ण के जीवन में पद-पद पर मिलते हैं।

भगवान् कृष्णचन्द्र ने अपना इसी अलौकिक धर्मनीति को सामने रखकर जब अर्जुन अपने ज्येष्ठ भ्राता महाराज युधिष्ठिर को मारने के लिये उद्युक्त हुए थे, उस भयानक संकट के समय में पाण्डवों को बचाने के निमित्त अर्जुन को निम्नलिखित उपदेश दिया था। जिस शक्ति के द्वारा सृष्टि की धारणा अर्थात् रक्षा हो, उसी को धर्म कहते है। इसलिए धर्म अहिंसामूलक है, हिंसामूलक नहीं है।[6] तुम जो व्यक्तिगत धर्मपालन के लिये भाई की हिंसा तथा समष्टिगत अधर्म को स्थान दे रहे हो, उसमें धर्म नहीं होगा, अधर्म ही होगा और तुम्हें जो सत्यप्रतिज्ञा भङ्ग होने का भय है, उसमें वक्तव्य है कि, प्राणियों की अहिंसा ही सर्वप्रधान धर्म है। उसके लिये यदि सत्यप्रतिज्ञा भङ्ग हो अथवा मिथ्या बोलना पड़े, तो वह करना ठीक है, किंतु हिंसा करना ठीक नहीं है। केवल सत्य बोलना ही सत्य नहीं हैं, क्योंकि देशकाल भेद के अनुसार मिथ्या भी सत्य होता है और सत्य भी मिथ्या के तुल्य पाप का उत्पन्न करने वाला होता है।[7] इसलिये देश कालानुसार समष्टिलोक कल्याण का विचार रखते हुए सत्य मिथ्या का तत्त्व निश्चय करके तब मनुष्य धर्मानुष्ठान कर सकता है। धर्मसंकट में व्यक्तिगत धर्म की भी रक्षा हो और समष्टिगत धर्म की भी रक्षा हो, इस कारण दोनों ओर समष्टिगत धर्म की भी रक्षा हो, इस कारण दोनों ओर से सामञ्जस्य करने के लिये श्रीकृष्ण ने कहा कि, सम्मान प्राप्त होना ही पूज्य पुरुषों का जीवन धारण है, अपमानित होना उनके लिये मृत्युतुल्य है। इसलिये तुम पूज्य युधिष्ठिर को 'तू' कह कर पुकारो तो, इससे युधिष्ठि का अपमान हो जायेगा। और अपमान होना ही उनके लिये मृत्यु के समान हो जायेगा।[8] श्रीकृष्ण के वचनानुसार अर्जुन ने ऐसा ही किया, जिससे युधिष्ठिर का प्राण बच गया अर्जुन की प्रतिज्ञा की रक्षा भी हो गयी और सब ओर का सामञ्जस्य विधान हो गया। इस प्रकार से धर्मसङ्कट की मीमांसा और सुमृष्टि कल्याणबुद्धि के जीवन में कर्मयोग और ज्ञानयोग के अपूर्व सामाञ्जस्य का दृष्टांत है, इसमें कोई संदेह नहीं है। पूर्ण ज्ञानी पूर्णवतार के सिवाय इस प्रकार पूर्णकौशलयुक्त, पूर्णज्ञानमय, धर्मनीति का उपदेश और कोई भी नहीं कर सकता। महाभारत में सबसे अलौकिक चरित्र भगवान् कृष्णचन्द्र का है। ऐसा त्रिलोकपरित्रकारी जगत्मंगलकारी और विशुद्ध ज्ञानप्रकाशक परमपुनीत चरित्र अन्यत्र देखने में नहीं आता। श्रीभगवान् कृष्ण का अलौकिक चरित्र प्रकाशित रहने से महाभारत की महिमा असाधारण रूप से बढ़ गयी है।

अब यह विचार करना आवश्यक है कि, वर्तमान 28वां कलियुग जिसके आरंभ में महाभारत का महायुद्ध हुआ था, वह कलियुग, मानव वर्षो के अनुसार कब से आरंभ हुआ है। कितने ही अनमेल ग्रंथों, शिलालेखों और अनुमानों से बहुत से विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि, महाभारत का युद्ध हुए तीन

हजार से अधिक वर्ष नहीं बीते हैं। श्रीबंकिमचन्द्र जी के मत से 1430, श्रीरमेशचन्द्र दत्त के मत से 1250, मि. पाट् के मत से 1200, बुकानन के मत से 1300 और विलसन, कोलब्रुक तथा एलफिन्सृन के मत से 1400 खिस्टपूर्व वर्ष में महाभारत का युद्ध हुआ था। परंतु ये सब अनुमान भ्रमपूर्ण हैं और ऐसे आधुनिक शिक्षित लोगों के हैं कि, जिनका विश्वास न दैवी जगत् पर था और न जिस कालगणना को सनातनधर्मी नित्य के संकल्प के काम में लाते हैं। उस ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया था। क्योंकि महाभारत में ही जब कौरव-पाण्डवों के युद्ध का इतिहास विस्तृत रूप से लिखा गया है, तब उसके कालनिर्णय में भी महाभात का ही प्रमाण सर्वश्रेष्ठ माना जा सकता है। महाभारत के आदि पर्व के द्वितीय अध्याय के 17वें श्लोक में कौरव-पाण्डो का युद्ध हुआ था।[9] कलियुग के आरंभ के समय के संबंध में भास्कराचार्य ने लिखा है कि, शकाब्द के आरंभ में कलियुग के 3179 वर्ष बीत चुके थे। मकरन्दकार का भी यही मत है।[10] वर्तमान शक के इसमें 1856 वर्ष जोड़ देने से 5035 वर्ष होते हैं। वास्तव में यही महाभारत के युद्ध का और कलि के आरंभ का काल है। गुजरात के चालुक्य वंशीय राजा दूसरे पुलकेशीय के एक शिलालेख में लिखा है कि, कुरु-पाण्डवों का युद्ध हुए 3735 वर्ष और शकाब्द 556 बीत चुके हैं।[11] युद्धाब्द में से शकाब्द घटाने से 3179 वर्ष होते हैं और उनमें वर्तमान शकाब्द 1856 मिलाने से 5035 वर्ष हो जाते हैं। अन्ततः कलिकाल के निर्णय में प्रमाणिक शिलालेखों का भी मतभेद नहीं है।

कुरु-पाण्डवों का युद्ध जिस दिन समाप्त हुआ, उसी के दूसरे दिन युधिष्ठिर को राज्यप्राप्ति हुई थी। अन्ततः उसी दिन से युधिष्ठिराब्द आरंभ हुआ है। 'भारतसावित्री' नामक ग्रंथ में लिखा है कि, हेमंत के पहले मास की शुक्ला तृतीया को भरणी नक्षत्र पर महाभारत का युद्ध आरंभ हुआ था। 'भारतसावित्री' ग्रंथ कब लिखा गया है, उसका ठीक पता नहीं लगता, परंतु यह प्राचीन और प्रामाणिक ग्रंथ है, इसमें संदेह नहीं क्योंकि श्राद्धकाल में भाररतसावित्री पढ़ी जाती है और महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने भीष्म पर्व के 17वें अध्याय के दूसरे श्लोक की टीका में इसका उल्लेख किया है। उसमें यह भी लिखा है कि अमावस्या के मध्याह्न में शल्य मारा गया और उसी दिन सन्ध्यासमय में दुर्योधन का वध हुआ।[12] हेमन्त के पहिले महीने का तात्पर्य मार्गशीर्ष से है। वेदाङ्ग ज्योतिषशास्त्र ने मार्गशीर्ष और पौषमास को हेमन्त ऋतु माना है। हेमन्त का पहला महीना मार्गशीर्ष होता है। उसी महीने की शुल्क त्रयोदशी से महाभारतीय युद्ध आरंभ हुआ और वह 18 दिनों तक चलकर पौषबदी अमावास्या को समाप्त हुआ। उसके दूसरे दिन अर्थात् पौष सुदी प्रतिपदा को युधिष्ठिर को राज्यलाभ हुआ और उसी दिन से उसका संवत्

आरंभ हुआ। जिस दिन से यधिष्ठिर संवत् आरंभ हुआ, उसी दिन से कलि का आरंभ नहीं हुआ था, किंतु माघ शुक्ला पूर्णिमा को अर्थात् युधिष्ठिर को राज्य लाभ होने के डेढ़ मास पश्चात् हुआ था। विष्णुपुराण में लिखा है कि, वैशाख शुक्ल तृतीया को सत्युग, कार्तिक शुक्ला नवमी का त्रेतायुग नभ (श्रावण) मास की कृष्ण त्रयादशी का द्वापरयुग और माघ शुक्ला पूर्णिमा को कलियुग का आरंभ हुआ है और ये चारों युगादि की तिथियाँ पुराणकारों ने अनन्त पुण्यकारक मानी हैं।[13]

महाभारत आदि पर्व 117 अध्याय में महाभारत के प्रधान नायक पाण्डवों के जन्ममास, तिथि और जन्म लग्न आदि का विवरण दिया गया है, जिससे उनकी कुण्डली बनायी जा सकती है। पाण्डवों का जन्म हिमालय के शतशृङ्ग नामक पर्वतशिखर पर हुआ था। वहीं उनका यज्ञोपवीतसंस्कार हो चुका था। जब वे ऋषियों के द्वारा दुर्योधन आदि के पास हस्तिनापुर लाये गये, तब जटाधारी और ब्रह्मचारी के वेष में थे, इसका प्रमाण महाभारत-आदि पर्व के 77वें श्लोक से मिलता है।[14] उस समय युधिष्ठिर की अवस्था 16 वर्ष की, भूमिका 15 वर्ष का, अर्जुन का 14 वर्ष की और नकुल सहदेव की 13-13 वर्ष की थी। महाभारत आदि पर्व अध्याय 117 श्लोक 21 में लिखा है कि, भीम और दुर्योधन एक ही दिन जन्मे थे।[15]

आदि पर्व के उक्त अध्याय और 120 वें अध्याय से ज्ञात होता है कि, हस्तिनापुर में दुर्योधन आदि के साथ पाण्डव 13 वर्ष रहे। फिर 6 माास जतुगृह और 6 मास एकाचक्रापुरी में रहे। इसी बीच में घटोत्कच का जन्म हुआ। अनन्तर 1 वर्ष द्रुपद राजा के यहाँ रहकर हस्तिनापुरी में लौट आये और वहाँ 5 वर्ष रहकर उन्होंने 23 वर्ष इन्द्रपस्थ में बिताये। फिर द्यूतक्रीड़ा करने पर 12 वर्ष वन में और 1 वर्ष अज्ञातवास में उन्हें बिताना पड़ा। इसके उपरान्त महाभारत का 18 दिन युद्ध हुआ और फिर 36 वर्ष उन्होंने राज्य किया। महाभारत के युद्ध के 6 मास बाद परीक्षित का जन्म हुआ था। उस पर राज्य का भार सौंपकर युधिष्ठिर 6 मास में स्वर्ग पहुँचे थे और उनके स्वर्ग पहुँचने के पहले ही द्रौपदी सहित अन्य पाण्डव हिमालय पर्वत के हिम में गल चुके थे। इस विवरण से जाना जा सकता है कि, स्वर्गारोहण के समय युधिष्ठिर की आयु 108 वर्ष, 6 मास की थी।[16] इसी हिसाब से भीम, अर्जुन औश्र नकूल सहदेव की आयु 1-1 वर्ष कम समझनी चाहिये। युधिष्ठिर जन्म कलिपूर्व 72 वर्ष, 7 मास, 29 दिन ज्येष्ठी पूर्णिमा को 16 घड़ी पर, भीमसेन का 71 वर्ष, 10 मास, 2 दिन, चैत्रशुक्ला त्रयोदशी को 16 घड़ी पर, अर्जुन का 70 वर्ष, 10 मास, 29 दिन, फाल्गुनी पूर्णिमा को 21 घड़ी पर और इनके एक वर्ष पश्चात् नकुल सहदेव का जन्म हुआ था। नकुल-सहदेव के जन्म मास और तिथि का कहीं उल्लेख नहीं

मिलता। केवल इतना ही उल्लेख है कि, वे अर्जुन से 1 वर्ष छोटे थे। इस विवेचन से स्पष्ट है कि, पाण्डवों का जन्म द्वापर के अंत में हुआ और कल्यब्द के 36 वर्षों तक उन्होंने राज्य किया था। महाभारत के ही प्रमाणों से यह कालनिर्णय किया गया है। इस कारण इध-उधर के प्रमाणों से जो लोग यह अनुमान करते हैं कि, ईसा से हजार डेढ़ हजार वर्ष पूर्व महाभारत युद्ध हुआ था, वह भ्रमपूर्ण है, इसमें संदेह ही क्या रह जाता है?

महाभारत के रचनाकाल के संबंध में भी कुछ लोग ऐसे ही ऊटापटांग अनुमान करते हैं और यहाँ तक कहते हैं कि, महाभारत ग्रंथ ही व्यास का रचा हुआ नहीं हैं। परंतु महाभारत आदि पर्व प्रथम अध्याय के 54 और 48वें श्लोक में स्पष्ट लिखा है कि, सत्यवतीतनय व्यासदेव ने तप और ब्रह्मचर्य के प्रभाव से यह पुण्य कारक सनातन वेदस्वरूप इतिहास रचा है और उस महर्षि ने यह महाभारत ग्रंथ सब लोगों को तब सुनाया है, जब युधिष्ठिरादि पाण्डव वृद्ध होकर परम गति को प्राप्त हो चुके थे।[17] महाभारत आदि पर्व अध्याय 57 श्लोक 40 में यह भी लिखा है कि, महर्षि कृष्णद्वैपायन प्रतिदिन प्रातःकाल में उठकर स्वस्थ होकर पवित्रता से महाभारत कहते थे ओर आदि से लेकर तीन वर्षों में इसे उन्होंने पूर्ण किया था।[18]

परीक्षित 36 वर्ष की अवस्था में राज्यासन पर बैठा, उसने 24 वर्ष तक राजशासन किया और 60वें वर्ष में तक्षक के काटने से उसकी मृत्यु हुई। इसका प्रमाण महाभारत आदि पर्व 44वें अध्याय के 26वें श्लोक से मिलता है। उसमें कहा गया है कि, जिस मुनि के गले में परीक्षित ने मरा साँप डाल दिया था, उस मुनि को जब परीक्षित ने देखा, तब परीक्षित 60 वर्ष का बूढ़ा हो गया था और बहुत भूखा तथा थका हुआ था।[19] इसके 7 ही दिन बाद उसकी मृत्यु हुई और उसके बाद जब जनमेजय राजगद्दी पर बैठा, तब वैशम्पायन ने उसे महाभारत ग्रंथ सुनाया। इससे स्पष्ट है कि खिष्टपूर्व 3041 अर्थात् कलि के 61वें वर्ष में महाभारत की रचना हुई है।

महाभारत, वेदांतदर्शन और पुराणा शास्त्र में बौद्ध संन्यासी, बौद्धमठ, बौद्धविहार, बौद्धमत आदि का उल्लेख होने से कुछ लोग यह समझ बैठे हैं कि, उक्त आर्ष ग्रंथ गोतमबुद्ध के निर्वाण के बाद लिखे गये हैं। परंतु संस्कृत के प्राचीन ग्रंथ ललितविस्तरसूत्र, बुद्धचरित, लङ्कावतारसूत्र, अवदानकल्पलता और पाली भाषा के जातक प्रभृति ग्रंथों का जिन्होंने अध्ययन किया है, वे समझ सकते है कि, खिष्टपूर्व 3101 वर्ष में क्रकुच्छंदबुद्ध, 2090 वर्ष में कमकमुनिबुद्ध 1014 वर्ष में काश्यपबुद्ध हुए हैं और इसी क्रम से खिष्टपूर्व 633 वर्ष में शाक्य सिंह गौतम सातवें बुद्ध हुए थे। इन सब बुद्धों से पहले और भी 120 बुद्ध हुए हैं, जिनका उल्लेख उक्त ग्रंथों में है। अनेक पुराणों में बुद्धमतानुयायी आचार्यों का उल्लेख है तथा ईश्वर विश्वासहीन

बौद्धमतानुयायी प्रजा का भी वर्णन है। दूसरी ओर बौद्ध ग्रंथों में भी पता लगता है कि, बुद्ध अनेक हुए हैं और अतिप्राचीनकाल से बुद्ध होते आये हैं। इन दोनों प्रमाणों से स्वतः सिद्ध होता है कि, ईश्वरतत्व को न समझने वाला एक बौद्धमत पहले से चला आता है, जिसके आचार्य कलियुग से पहिले से होते आये हैं। इस कारण महाभारत में उनका उल्लेख है। इसी प्रकार जैनमत भी पुराना है। इन मतों का उल्लेख होने से ही पुराण, दर्शन या महाभारतादि ग्रंथ आधुनिक नहीं कहे जा सकते। अस्तु, इस मीमांसा से यह सिद्धांत निश्चित होता है कि, महाभारत का युद्ध हुए 5035 वर्ष बीत गये हैं। तभी से कलि प्रारंभ हुआ है और कलि के 61 से 64 इन तीन वर्षों में महाभारत ग्रंथ लिखा गया है। जो सम्राट् युधिष्ठिर के जीवन का समय है, वही पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के आविर्भाव का समय है और यही द्वापर और कलि की संधि है।

वर्तमान समय में चाहे आध्यात्मिक तत्त्वानुसंधान का कार्य हो, चाहे ज्ञानभूमियों के अनुसंधान का कार्य हो, चाहे परलोकतत्त्व और चतुर्दश भुवन की खोज का कार्य हो, चाहे कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड के रहस्योद्घाटन का कार्य हो, चाहे दैवी चरित्र या मानवी चरित्र के वर्णन का कार्य हो, पुराणशास्त्र ही उनके लिये एकमात्र अवलम्बनीय है। इस समय पुराणशास्त्र में महाभारत का अधिकार सर्वोपरि माना गया है। इस कारण इसको पञ्चम वेद भी कहते हैं भगवान् श्रीकृष्ण की लीला का कालनिर्णय करने में भी महाभारत पूर्ण रूप से अग्रसर है। रामायण में भगवान् रामचन्द्र के कालनिर्णय के विषय में स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। परंतु जब महाभारत का कालनिर्णय हुआ तब रामायण का भी कालनिर्णय होना आवश्यक है। अतः अनेक अनुसंधान के बाद देवीभागवत के प्रमाण द्वारा रामायण का काल निर्णय अच्छी प्रकार से होता है। देवीभावगत में जो श्रीरामावतार के विषय में कालनिर्णय किया गया है। उसके अनुसार श्रीरामवतार का काल—40397036 वर्ष पूर्व प्रमाणित होता है। नवीन ऐतिहासिक गवेषणा करने वाले व्यक्तिगत इस संख्या को देखकर भले ही चकित हों परंतु कल्प-मन्वन्तर-युगादि भेद से कालगणना करने वाले सनातन धर्मी बुधजन और ज्योतिषशास्त्र पर विश्वास करने वाले विद्वानगण अवश्य ही निःसंदेह होकर रामायण के काल और महाभारत के काल का अंतर समझ सकेंगे।

वैवस्वत मन्वतन्तर के उन्नीसवें महायुग के त्रेतायुग में परशुरामावतार और उनके बाद रामावतार होना लिखा है अतः इस त्रेतायुग के 1296000 वर्षों के दो भाग करके द्वितीय भाग में रामावतार का होना मान लेते हैं उसके अनुसार उन्नीसवें महायुग के त्रेतायुग के द्वितीय भाग के 648000 वर्ष मानकर रामावतार की वर्ष संख्या इस प्रकार लगाते हैं।

उन्नीसवें	महायुग के	त्रेतायुग में अन्तिम	648000 वर्ष
उन्नीसव	महायुग के	महायुग केद्वापरयुग के	864000 वर्ष
उन्नीसव	महायुग के	कलियुग के	432000 वर्ष
बीसवें	महायुग के	चारों युगों के	4320000 वर्ष
इक्कीसवें	महायुग के	चारों युगों के	4320000 वर्ष
बाइसवें	महायुग के	चारों युगों के	4320000 वर्ष
तेइसवें	महायुग के	चारों युगों के	4320000 वर्ष
चौबीसवें	महायुग के	चारों युगों के	4320000 वर्ष
पच्चीसवें	महायुग के	चारों युगों के	4320000 वर्ष
छब्बीसवें	महायुग के	चारों युगों के	4320000 वर्ष
सत्ताइसवें	महायुग के	चारों युगों के	4320000 वर्ष
अटठाइसवें	महायुग के	सत्ययुग के	1728000 वर्ष
अटठाइसवें	महायुग के	त्रेतायुग के	1296000 वर्ष
अटठाइसवें	महायुग के	द्वापरयुग के	864000 वर्ष
अटठाइसवें	महायुग के	कलियुग के गताब्द	5036 वर्ष
			40397036 वर्ष 20

जैसा पहले कहा गया है, पुराण शास्त्र के अनेक भेद हैं। यथा,—महापुराण, पुराण, उपपुराण, औपपुराण और इतिहास। पूर्व के चार विभाग एक ही ढङ्ग के हैं। इतिहास का विभाग उनसे विचित्र है। पुराणादि चार विभागों में 1818 ग्रंथ हैं; परंतु इतिहासग्रंथ इस समय दो ही उपलब्ध है, यथा,—रामायण और महाभारत। योगवासिष्ठारामायण, वालीकिरामायण का ही एक अंश है। पुराण और इतिहास में एक बड़ा भारी अंतर यह है कि, पुराणग्रंथों में जो गाथाएँ आती हैं, वे प्रायः कल्प-कल्पान्तर की दैवी गाथाएँ हैं। इतिहास ग्रंथों में जो गाथाएँ आती है, वे प्रायः इस मृत्युलोक की गाथाएँ हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि, रामायण भगवदवतार राम के और महाभारत भगवदवतार कृष्ण के और उस समय के मृत्युलोक संबंधी चरित्रों के इतिवृत्तों से प्रायः पूर्ण हैं। पुराण और इतिहास के आधुनिक पाठकगण उन दोनों ग्रंथों में समान रूप से लौकिक इतिहास का पता लगाने का जो प्रयत्न करते हैं, उससे वे भ्रम में पड़ जाते हैं। यदि वे कल्प-कल्पान्तर, मन्वतंर मन्वतंतरान्तर, युगयुगान्तर के काल को अपने ध्यान में रखें और कौन सी गाथा देवलोक की है और कौन सी मनुष्यलोक की है, उसका विचार रखे और पौराणिक वर्णन में आध्यात्मतत्व निर्णयकारी समाधि भाषा, अध्यात्मतत्व का लौकिक रीति से रूपक में वर्णन कारी लौकिक भाषा और समाधि भाषा तथा लौकिक भाषा के विषयों की

पुष्टि के लिये देवलोक और मनुष्यलोक की चरित्रवर्णनकारी परकीय भाषा और साथ-ही-साथ कौन सा आध्यात्मिक वर्णन है, कौन सा आधिदैविक वर्णन है और कौन सा आधिभौतिक वर्णन है, इन सब रहस्यों को सम्मुख रखकर विचार में प्रवृत्त हो, तो उनके भ्रम में पड़ने का अवसर ही नहीं मिलेगा। महाभारत का महाग्रंथ पुराण ग्रंथ होने पर भी लौकिक इतिहास ग्रंथ नहीं है। जैसा सत्ययुग के आरंभ में वेदों का प्राकट्य होता है, वैसा ही जगत् के कल्याणार्थ इस कलियुग के प्रारंभ में महाभारत का प्राकट्य हुआ है।

सब पुराणों और सब इतिहासों में महाभारत की प्रधानता मानी गयी है। महाभारत की ज्ञानगरिमा जैसी सर्वोन्नत है, उसके ऐतिहासिक तत्त्व भी वैसे अतिविचित्र हैं। रामायण में एक ही प्रबल असुर रावण का वर्णन है, परंतु महाभारत में और श्रीकृष्ण चरित्र में अगणित महासुरों का संबंध पाया जाता है। महाभारत जिस प्रकार से पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्ण की अतुलनीय जीवनी से पवित्र है, उसी प्रकार लोकोत्तरचरित्र चिरकुमार अखण्ड ब्रह्मचारी परमतपस्वी भीष्म जैसे पुण्यात्मा क्षत्रियपुत्र की जीवनी से भी सुशोभित है और क्षत्रिय धर्मपरायण और महावीर ब्राह्मणभूषण द्रोणाचार्य की अनुपम प्रतिभा से अलंकृत है। वस्तुतः महाभारत के नायक पञ्च पाण्डव थे, जिनकी अलौकिक उत्पत्ति, जिनकी देव और मनुष्य के सहयोग से विचित्र देह की प्राप्ति, जिनका लोकोत्तर भातृप्रेम, महाराज युधिष्ठिर का सत्यव्रत और धर्मप्राणता, भीमार्जुन की अलौकिक वीरता, पाँचों भाइयों की संयुक्त पत्नी द्रौपदी की अलौकिक योग शक्ति, जिससे वह पंचपतिप्राणा होने पर भी सती कहायी, ये सब विचित्रताएँ अन्यत्र कहीं देखने में नहीं आतीं, महाभारत से पूर्व और परवर्ती इतिहास की पर्यालोचना करने से यह स्पष्ट होता है कि, महाभारत के महायुद्ध तक देवलोक के साथ इस मृत्युलोक का घनिष्ठ संबंध था और पीछे घटता गया। और यह भी सिद्ध होता है कि सूर्यवंशी राजन्यवर्ग के उत्कर्ष का समय समाप्त होकर वह चन्द्रवंशी राजाओं के उत्कर्ष का समय था। महाभारत की पूर्वा पर अनुशीलन करने पर यही सिद्ध होता है कि, यदि महाभारत का महायुद्ध होकर दाम्भिक आसुरी शक्तियों का विलय न होता, तो धर्म का तथा वर्णाश्रम शृंखला का सम्पूर्ण नाश हुए बिना न रहता। यह महाभारत के महायुद्ध के पुण्यमय स्वरूप का ही कारण है कि, गीतारूपी ज्ञान का प्राकट्य हुआ था। पुराणा शास्त्र तथा महाभारत जैसा इतिहास ग्रंथों में जो ऐतिहासिक गाथाएँ और वंशवर्णन आता है और वंश के विस्तार का इतिहास आता है, उन सबके समझने और समझाने के लिये पुराण पाठक और पुराण-वक्ता को पूर्व कथित समाधि भाषा, परकीय भाषा और लौकिक भाषा तथा आध्यात्मिक वर्णन, आधिदैविक वर्णन और आधि भौतिक वर्णन इन छहों विषयों और सिद्धांतों का जैसे

प्रतिमुहूर्त विचार रखना चाहिये, उसी प्रकार यह भी अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि, पौराणिक गाथाओं और इतिहासों में दैवीसृष्टि और मानुषी सृष्टि इन दोनों का मिला-जुला वर्णन आया करता है। इसका प्रधान कारण यह है कि, वैदिक विज्ञान के अनुसार दैवीजगत् मुख्य है और यह स्थूल मृत्युलोक गौण है। दैवीजगत के आश्रय से ही इस मृत्यु लोक के सब काम चलते हैं। वस्तुतः सनातन धर्मावविलम्बियों के सब कार्य और सब चिन्ताप्रणलियाँ दैवीजगत को मुख्य मानकर चलाई जाती है। वहाँ तक कि वर्णाश्रमधर्मी हिंदु प्रजा का चलना, फिरना, उठना, बैठना, सोचना, समझना, उनकी शारीरिक क्रिया, मानसिक क्रिया और बौद्धिक क्रिया जो कुछ होती है, वह दैवीजगत को मुख्य समझकर ही होती है। यही कारण है कि, पृथ्वी की अन्य शिक्षित जातियाँ सनातन धर्म के आचार-व्यवहार और चिंताप्रणाली को ठीक समझ नहीं सकती और उनके असंबद्ध तथा मिथ्या समझा करती हैं दूसरी ओर पुराणों की गाथाओं के समझने में बड़ी भारी कठिनता इसलिये रहा करती है कि, इस मृत्युलोक के इस कल्प की अथवा कल्पान्तर की गाथा और इतिहास वर्णन के साथ-ही-साथ वेद और पुराणों में मृत्युलोक और देवलोक दोनों के चरित्रों का परस्पर संबंधयुक्त गुम्फित वर्णन आया करता है। इसमें भी आधिभौतिक दृष्टिसम्पन्न जनगण विमोहित हुआ करते हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि, त्रिकालदर्शी पूज्यपाद महर्षियों की समाधि-सुलभ ज्ञान दृष्टि के सम्मुख सूक्ष्म दैवीलोक और स्थूल मृत्युलोक दोनों एक से ही दिखायी दिया करते हैं। जैसे हम अपने घर में बैठकर घर के आकाश को और घर के बाहर के आकाश को एक दृष्टि से देख सकते हैं, वैसे ही वे स्थूल मृत्युलोक और उसके आधार सूक्ष्म दैवीलोक को समदृष्टि से देखने में समर्थ हुआ करते थे।

शंका-समाधान रूप से कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। क्षत्रियों के सूर्यवंश अथवा चन्द्रवंश का वर्णन जब शास्त्र में आवेग और उसके साथ मिला-जुला पृथ्वी के इस मृत्यु लोक के लौकिक राजवंशों का वर्णन आवेगा, तो समझना चाहिये कि, उस वंश के ऊपर के कुछ लोगों के नाम देवलोक के राजाओं के हैं और पीछे के नाम मनुष्यलोक के राजाओं के हैं। सूर्यवंश में सूर्य आदि देवपिण्डधारी हैं और दशरथ आदि मानव पिण्डधारी हैं। उसी के अनुसार ही सृष्टि में नाना प्रकार की विचित्रता भी रहेगी। अतः पूर्वकथित छः सिद्धांतों के साथ-ही-साथ इस सिद्धांत को भी ध्यान में रखना उचित है। दूसरा रहस्य यह है कि भूः भुवः, स्वः इन्हीं त्रिलोक के समष्टिकर्म के तारतम्य और समष्टि जीवों के प्रारब्ध के अनुसार समय-समय पर मृत्युलोक के साथ देवलोक का प्रत्यक्ष मुं कभी घनिष्ट संबंध रहता है और कभी विच्छिन्न हो जाता है। पुराणों और इतिहासों के वर्णन से यह स्पष्ट प्रमाणित होता

है कि, द्वापर युग के अंत तक, यहाँ तक कि, सम्राट् जनमेजय आदि के समय तक सूक्ष्म दैवी राज्य का स्थूल मृत्युलोक के साथ प्रत्यक्ष संबंध कुछ-न-कुछ बना था। द्वापर और उसके पहले युगों में तो परस्पर के विशिष्ट व्यक्तियों का आना-जाना भी हुआ करता था। यद्यपि जड़वादी स्थूलदर्शी व्यक्तिगण इस प्रकार के दैवी और मानुषी व्यक्तियों के परस्पर संबंध, मानव पिण्ड और दैवीपिण्डधारी जीवों की परस्पर घनिष्ठता, मानव पिण्डधारी जीवों में विशेष-विशेष काल में विशेष-विशेष दैवी शक्तियों के आविर्भाव की संभावना और स्थूल मृत्युलोक में कैसे देवतागण आकार कार्य करते हैं, अथवा सूक्ष्म लोक में कैसे स्थूल देहधारी मनुष्यगण पहुँच सकते हैं, इत्यादि रहस्यों को बिना शास्त्र ज्ञान प्राप्त किये समझ नहीं सकते। परंतु अंत दृष्टि सम्पन्न बुधजन का यह स्थिर सिद्धांत है, जो वेद और शास्त्र से भी सिद्ध है कि, कालप्रभाव से दैवीजगत् और मनुष्यजगत् का परस्पर संबंध समय-समय पर घट जाता है। और समय-समय पर बढ़ भी जाता है। त्रिकालदर्शी महर्षियों ने अपने समय में जैसा अनुभव किया था, वैसा ही उन्होंने नाना पुराणों और इतिहासों में सार्वजनिक लोकशिक्षा के निमित्त दैवा चरित्र और मानुषी चरित्र दोनों को बिना अलग-अलग किये एक साथ ही वर्णन किया है।

वैदिक और पौराणिक इतिवृत्त के साथ आधुनिक लौकिक इतिवृत्त की तुलनात्मक गवेषणा करने पर और भी अनेक प्रकार की शंकाएं हो सकती हैं यथा—यदि पूज्यपाद महर्षिगण त्रिकालज्ञ और सर्वजनहितकारी थे, तो पुराण और इतिहास ग्रंथों में नाना भाव और नाना भाषा का प्रयोग उन्होंने क्यों किया जिससे सर्वसाधारण उनको समझ ही न सकें? प्राचीनकाल में मानव पिण्डधारी कोई-कोई व्यक्ति इसी शरीर से दैवलोक में आते-जाते थे और अब नहीं जा सकते हैं, इसको समझने की युक्ति क्या है, जिसमें हम वेदसम्मत पुराणों और इतिहासों के वर्णन पर विश्वास कर सकें? देव पिण्डधारी पूर्वजों से चलकर मनुष्य पिण्डधारी प्रजातन्तु का विस्तार कैसे हो गया? इत्यादि श्रेणी की शंकाओं के समाधान में दर्शनशास्त्रों के अनुसार कहा जाता है कि, जैसे इस लोक में मातृगर्भ से जन्मा हुआ कोई मनुष्य यदि अपने इस जीवनपथ में चलता हुआ अपने अगणित पूर्व जन्मों के स्त्री पुत्रादि स्वजनों का वियोग और सुख-दुःख का स्मरण करता रहता तो वह पागल ही नहीं बन जाता किंतु उसका जीवन घोर दुःखमय हो जाता, अतः पूर्वकाल की स्मृतियों का न रहना भगवान्! का अनुग्रह है। उसी प्रकार वेद के भाष्यरूपी पुराण और इतिहास ग्रंथों में यदि पद-पद पर भाषा भेद और भाव-भेद का विश्लेषण किया जाता तो अल्पलमति सर्वसाधारण के लिये पुराण शास्त्र बुद्धिभेद करने वाला ही नहीं हाता किंतु उनके किये अरुचिकारक भी होता है। इस कारण पूज्यपाद महर्षियों का इतिहास पुराण

संबंधी वर्णन अति अनुग्रहकारी है। जैसे वृद्ध होने पर युवावस्था की क्रियाओं का करना असंभव हो जाता है, इसी प्रकार वर्तमान युग के शक्तिहीन मनुष्य पूर्व युग के अलौकिक शक्तियों के कार्यों को करने में असमर्थ हैं। और जैसे युवकगण वृद्धावस्था की असमर्थता को समझ नहीं सकते वैसे ही आजकल के मानव पिण्डधारी जीवगण बहिर्दृष्टिसम्पन्न होने के कारण इस युग में कैसे दैवीकार्य करने की असमर्थता आ जाती है उसको समझ नहीं सकते हैं। यह तो पहले ही कहा गया है कि जिस युग में देवलोक के साथ मनुष्यलोक का घनिष्ठ संबंध विद्यमान रहता है। उस युग में देव पिण्ड और मानव पिण्ड का परस्पर संयोग भी बना रहता है और दोनों के संबंध में सृष्टि भी होती रहती है। अतः उस उन्नत युग में यदि दैवी प्रजातन्तु के अनंतर मिश्र प्रजातंतु का विस्तार किया करते थे तो वह कोई संभव बात नहीं है। अतः आस्तिक विद्वानों के विचार में सूर्यवंश और चंद्रवंश के क्षत्रियों का वंशवर्णन कोई संभव बात नहीं है।

पुराणों में चतुर्विध सृष्टिप्रकरण, खण्डसृष्टि प्रतिसर्ग प्रकरण, जिसमें दैवीसृष्टि आदि का वर्णन हो, वंशवर्णन, जिसमें देवलोक के देववंश तथा मृत्युलोक के ऋषिवंश और राजवंश, अर्थात् पुण्यशाली ब्राह्मण और क्षत्रिय वंशों का वर्णन हो,—कालवर्णन अर्थात् मन्वन्तर, कल्प आदि का वर्णन हो,—जिसमें सृष्टिशृंखला और सभ्यता के विभागों का हाल पाया जाय,—और ऋषि और राजाओं के वंशों की सन्तति अर्थात् प्रजातन्तु का वर्णन हो, ये ही पाँचों पुराणों के लक्षण पाये जाते हैं। प्रत्येक पुराण महापुराण, उपपुराण, और औपपुराण में इन पांचों का थोड़ा-बहुत समावेश होना अवश्यंभावी है। भेद इतना ही है कि, किसी पुराण में इन पाँचों में से किसी का वर्णन अधिक आता है और किसी का कम आता है। दूसरा भेद यह है कि, किसी-किसी पुराण में इन पांचों में से किसी विषय का वर्णन बहुत आता है। और उसी की उसमें प्रधानता रहती है; जैसा कि, मार्कण्डेयपुराण में मन्वन्तरों के वर्णन की प्रधानता है। तीसरा भेद पुराण और इतिहास का यह है कि, जिसमें मृत्युलोक का लौकिक इतिहास अधिक हो, उसको इतिहास कहते हैं और जिसमें मृत्युलोक और देवलोक दोनों का समान-समान वर्णन हो, उसे पुराण कहते हैं। जैसा पहले कह चुके हैं। उदाहरण रूप से समझ सकते हैं कि, महाभारत में कौरव-पाण्डव तथा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आदि का लौकिक इतिहास अधिक होने से और रामायण में भगवान् श्रीरामचन्द्र का इतिहास अधिक होने से दोनों को ही इतिहास कहते हैं। दूसरी ओर श्रीदेवीभागवत्, श्रीविष्णुभागवत्, श्रीमार्कण्डेयपुराण आदि में सबकी समानता रहने से अथवा इनमें लौकिक इतिहासों का आधिक्य न होने से सब पुराण कहते हैं। चतुर्विध सृष्टि प्रकरण, जिसका वर्णन पहले आ चुका है, यथा—प्राकृत सृष्टि,

ब्राह्मीसृष्टि, मानससृष्टि और बैजीसृष्टि, इनका भी वर्णन मिला-जुला पुराणों में आता है। परंतु किसी-किसी पुराण में इन चारों में से किसी को विशेषता दी गयी है। दूसरी ओर सृष्टि प्रकरण से विषय में किसी पुराण में मन्वन्तर आदि के विचार से सृष्टि लीला का विस्तृत वर्णन अधिक किया गया है। किसी में दैवी सृष्टि अथवा मानुषी सृष्टि का विस्तार अधिक किया गया है। इसी प्रकार सर्ग और प्रतिसर्ग के वर्णन में पुराणों में कहीं-कहीं मतभेद सा प्रतीत होता है और किसी-किसी में एक विषय का आधिक्य और अन्य विषयों का स्वल्पत्व पाया जाता है। यही कारण है कि सब पुराणों का अध्ययन किये बिना अथवा अधिक संख्यक पुराणों का अध्ययन किये बिना न पुराणों का आध्यात्म्कि रहस्य समझ में आता है। और न उसके समझने की शृंखला ही ठीक-ठीक बैठती है।

वंशवर्णन और वंशानुचरित वर्णन के विषय में भी बहुत कुछ समझने योग्य है। प्रायः इतिहासों में लौकिक वंश का वर्णन अधिक आता है। और अन्य पुराणों में दैवीवंश का वर्णन अधिक आता है। दूसरी ओर जैसा कि, हम पहले कह चुके हैं, त्रिकालदर्शी पूज्यपाद महर्षियों की योगदृष्टि के सम्मुख मठाकश और महाकाश के समान स्थूल मृत्युलोक और सूक्ष्म दैवीलोक समान दृष्टि से ही देखे जाते हैं। इन दोनों के देखने में कोई बाधा नहीं होती। इस कारण वंश वर्णन में दैवी सृष्टि और लौकिक सृष्टि, दैवीवंश और लौकिक वंश दोनों का मिला-जुला वर्णन आता है। उदाहरण रूप से समझ सकते हैं कि, सूर्यवंश में सूर्य आदि से जो उत्पत्ति मानी गयी है, वह दैवीवर्णन और जो दशरथ आदि से उत्पत्ति मानी गयी है, वह लौकिक वर्णन समझना उचित है। जैसा कि पहले सिद्ध किया गया है। इस प्रकार से दैवी और मानुषी वंशपरम्परा की शृंखला मिला लेने से और मिलाकर समझने से पुराण और इतिहास के पाठकों को भ्रम में नहीं पड़ना पड़ेगा और इस रहस्य को अच्छी तरह समझने से ही इस मृत्युलोक के लौकिक ऐतिहासिक लोग और आधुनिक रिसर्चनर अर्थात् अनुसंधानप्रिय लोग विपथगामी नहीं हो सकेंगे। वंशवर्णन और वंशानुचरित वर्णन दोनों वर्णनों के समझने में पुराण पाठकों को यह स्थिर रूप से ध्यान में रखने योग्य है कि, पुराण लिखते समय पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियों ने अपनी योगयुक्त समाधि दृष्टि द्वारा अनेक मन्वन्तर अथवा अनेक कल्पों के पूर्व की गाथाएँ प्राप्त की हैं। पुराण लिखते समय अर्थात् पुराण लिखने की अवस्था में जब अपनी योगयुक्त स्वरूप अवस्था से व्युत्थान अवस्था को प्राप्त होते थे, तो उस सविकल्प समाधि की विचारानुगत अवस्था में कल्प-कल्पान्तर के उपयोगी वंशानुचरित गाथारूप से उनके अन्तःकारण पटल में उपस्थित हुआ करते थे। अतः ये सब गाथाएँ न कल्पनाप्रसूत हैं और न लौकिक रीति से प्राप्त की गयी हैं। मन्वन्तर

और कल्प आदि की वर्ष संख्या पहले कही गयी है। पृथ्वी के सब लौकिक इतिहासों को खाजने पर यही पाया जाता है कि, बौद्ध युग से पहले का लौकिक इतिहास नहीं प्राप्त होता। पूज्यपाद महर्षियों द्वारा प्रणीत इतिहास और पुराणों में श्रीरामचरित अथवा श्रीकृष्णचरित के समकालीन लौकिक इतिहास की जो छाया कहीं-कहीं देख पड़ती है अथवा अन्य पुराणों में जो लौकिक इतिहास की गाथाएँ प्राप्त होती हैं, वे प्रथम तो आधुनिक इतिहास की तरह शृंखलाबद्ध नहीं हैं और उनमें मानव पिण्ड के चरित्र और देवपिण्ड के चरित्र परस्पर गुम्फिम पाये जाते हैं। उनमें कालनिर्णय का कोई विचार ही नहीं रखा गया है और वे सब चरित्र लौकिक इतिहास की उद्देश्यसिद्धि के लिये वर्णित न होकर केवल शास्त्रोक्त समाधि भाषा और शास्त्रोक्त धर्मसिद्धांत तथा धार्मिक चरित्रगठन के विचार से ही वर्णित है। इस कारण महाभारत के महायुद्ध के पूर्व का लौकिक इतिहास प्राप्त करने का जो प्रयास है, वह आकाश कुसुम खोजने के समान है।

भारतद्वीप के शास्त्रों का जिन्होंने अच्छी तरह अनुशीलन किया है, उनका स्थिर सिद्धांत यह है कि, जब तक इस मृत्युलोकरूपी भारतवर्ष से दैवीलोक का संबंध घनिष्ठ बना था और जब तक पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियों का आविर्भाव इस भारतद्वीप में स्थायी था, उस समय के लौकिक इतिहास का अनुसंधान करना वृथा है। महाभारत के महायुद्ध के समकालीन और भगवान् श्रीकृष्ण के पवित्र चरित्र के समकालीन काल संबंधीय कुछ प्रमाण ऊपर दिये गये हैं। उस समय भारत सम्राट् की जो राजधानी थी, जिसे इन्द्रप्रस्थ कहते थे और अब दिल्ली कहते हैं, वही पृथ्वी की राजधानी थी और जो भारतद्वीप के सम्राट् थे वे ही भारतवर्ष रूपी पृथ्वी के सम्राट्! थे। क्योंकि उस समय सारे पृथ्वी भर में भारतद्वीप की ही सभ्यता शासन करती थी। इस ऐतिहासिक सिद्धांत के द्वारा भारतवर्ष में भारतद्वीप का गौरव और भारतद्वीपवासियों के जगद्‌गुरुत्व का गौरव और उनके जगत्‌शासन के महत्व का गौरव सिद्ध होता है।

संपूर्ण वेदों और वेदसम्मत शास्त्रों में यही सिद्ध होता है कि, भारत द्वीप के प्राचीन साहित्य में दैवीसंबंध और लौकिक संबंध, दैवीशृंखला और लौकिक शृंखला का संबंध दैवी सभ्यता और मानवी सभ्यता का परस्पर संबंध गुम्फित है। इसका प्रधान कारण यह है कि, महाभारत के महायुद्ध के समय तक चतुर्दश भुवन के साथ भारतवर्ष का इतना घनिष्ठ संबंध ही घनिष्ठ संबंध न होने पर भी भूः भुवः स्वः रूपी त्रिलोक के साथ अवश्य ही घनिष्ठ संबंध बना रहता था। कालभेद से उसमें तारतम्य होने पर भी उस घनिष्ठता का स्पष्ट प्रमाण वेद और वेदसम्मत सब शास्त्रों में मिलता है। इस कारण दैवीराजा, दैवीराजधानी और दैवीकाल का कुछ

ज्ञान महाभारत के पूर्व के इतिहास के साथ अवश्य होना उचित है। देवराज इन्द्र की राजधानी सदा स्वर्लोक अर्थात् तृतीय देवलोक में, कालराज मनु की राजधानी प्रधानतः भुवः रूपी द्वितीय लोक में और धर्मराज यमराज की राजधानी प्रथम देवलोक रूपी भूलोक के पितृलोक में स्थापित है। धर्माधर्म और पुण्यापुण्य के फलदाता भगवान् यम धर्मराज हैं। काल को शृंङ्खलाबद्ध करने और सभ्यता का विधान करने आदि का अधिकार भगवान् मनु का है। सब पदधारी देवताओ का अधीन रखकर उनसे यथाधिकार कार्य करने का अधिकार भगवान् इन्द्र पर न्यस्त है। भगवान् मनु काल के नियामक होने से उनके काल और पदपरिवर्तन का वर्णन पुराणों में विशेष रूप से पाया जाता है।

पूज्यपाद महर्षियों के द्वारा निर्मित पुराणों और इतिहासों में वंशानुचरित का जो वर्णन है, वह केवल राजाओं का है। उसमें दैवीलोक के राजा और मनुष्यलोक के राजा दोनों ही सम्मिलित हैं। क्योंकि उस समय सूक्ष्म देवलोक के साथ स्थूल मृत्युलोक का घनिष्ठ संबंध विद्यमान था। यह संबंध कैसे स्थायी हो सकता है, यह वर्तमानकाल के केवल स्थूलदर्शी बुधजन की समझ में नहीं आ सकता। योगयुक्त मनीषीगण ही इसे समझ सकते हैं। उस समय के वंशानुक्रम के मुख्यतः दो भेद पाये जाते हैं। एक सूर्यवंश ओर दूसरा चंद्रवंश। सूर्यवंश के आदि पुरुष सूर्यलोकस्थित सूर्यदेवता माने गये हैं। और चन्द्रवंश के आदिपुरुष चन्द्रलोकथित चन्द्रदेवता माने गये हैं। कुछ दूरतक उनकी सन्तति दैवी थी और अनन्तर मानुषी हो गयी, जिसका परंपरागत वर्णन पुराणों और इतिहासों में बहुधा मिलता है। उन दोनों में से सूर्यवंश की शोभा रामायण में और चन्द्रश्वंश की शोभा महाभारत में विशेषतया प्रतिफलित है। इस कारण महाभारत के महायुद्ध से पूर्व के राजाओं की नामावली और कम से कम पहले तीन युगों की नामावली की खोज करना वृथा प्रयास करना है।

जब यह सिद्ध है कि, शृंङ्खलाबद्ध वंशवर्णन पुराण में और इतिहासों में नहीं पाया जाता, तब दैवी शृंङ्खला की प्रधानता के कारण प्रधान देवधारियों की शृंखला बद्ध नामावली का कुछ उल्लेख कर देना उचित है। इसी विचार से दैवी शृंङ्खला के चालक देवराज इन्द्र और सभ्यता तथा काल के नियामक कालराज मनु के इस कल्प की नामावली प्रकाशित की जाती है। क्योंकि इन्हीं दो श्रेणियों के राजाओं का प्राधान्य त्रिलोक पर नियमपूर्वक बना रहता है। एक कल्प कितने मनुष्य वर्षों का होता है, उसकी संख्या पहले प्रकाशित हो चुकी है। एक कल्प में चौदह मन्वन्तर होते हैं। उन्हीं चौदह मन्वंतरों के कालराज मनुओं की नामावली नीचे दी जाती है। 1. स्वायम्भुव मनु, 2. स्वारोचिष मनु, 3. उत्तम मनु, 4. तामस मनु, 5. रैवत मनु, 6. चाक्षुष मनु, 7. वैवस्त मनु, 8. सूर्यसावर्णि मनु, 9. ब्रह्मसाविर्ण मनु, 10.

धर्मसावर्णि मनु, 11. रुद्रसावर्णि मनु, 12. दक्षसावर्णि मनु, 13. रौच्य मनु और 14. भौत्य मनु। प्रत्येक कल्प में सृष्टि नवीन होती है। उस समय चाहे कालराज मनु हों, चाहे देवराज इन्द्र हों, वे सब स्वायम्भुव होते हैं अर्थात् ब्रह्माजी के द्वारा उत्पन्न होते हैं। इस कारण प्रथम देवराज का नाम इन्द्र ही होना संभव है—2. विपश्चित इन्द्र, 3. सुशान्ति इन्द्र, 4. शिबि इन्द्र, 5. विभु इन्द्र, 6. मनोजव इन्द्र, 7. ऊर्जस्वी इन्द्र, 8. बलि इन्द्र, 9. अद्‌भुत इन्द्र, 10. शान्ति इन्द्र, 11. वृष इन्द्र, 12. ऋतुधामा इन्द्र, 13. दिवस्पति इन्द्र और 14. शुचि इन्द्र।

वर्तमान मन्वन्तर का नाम वैवस्तव मन्वन्तर है। इस मन्वन्तर के कालराज वैवस्वत हैं और इस मन्वन्तर के देवराज ऊर्जस्वी हैं। यह सातवाँ मन्वन्तर है। इसके अनन्तर सात मन्वन्तर अभी होने बाकी हैं। पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियों ने दैवीजगत् से खोज लगाकर भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों काल के दैवीजगत के राजाओं के नाम पुराण शास्त्र में प्रकाशित किये हैं। प्रत्येक कलियुग में मानव पिण्ड की शक्ति, मानव पिण्ड की धारणा और मानव पिण्ड की ज्ञान गरिमा बहुत ही लघु हो जाती है। उनकी घनिष्ठता दैवी जगत् से शिथिल हो जाने से वे अपने मृत्युलोक को ही सब कुछ समझने लगते हैं। इस कारण दैवी शासन को भूलकर वे मानवी शासन को ही यथेष्ट मानने लगते हैं और मनुष्यलोक के राजाओं के चरित्रों और इतिहासों से ही तृप्त रहते हैं। परंतु कलियुग से पूर्व अन्य तीन युगों में मृत्यु लोग और देवलोक का घनिष्ट संबंध प्रकाश्य रूप से बना रहने के कारण और उस समय के मानव पिण्डधारी जीवों की शक्ति और उनके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधि।भौतिक अधिकार अपेक्षाकृत उन्नत रहने के कारण वे दैवीशासन को ही मुख्य समझते थे। इस कारण कलियुग से पूर्व काल में अर्थात् महाभारत के महायुद्ध के पहले के समय में देवपदधारी राजन्यवर्ग की ही महिमा और उनके चरित्रों का वर्णन शास्त्रों में पाया जाता है। यह सब विषय महाभारत से सिद्ध है। इसी कारण महाभारत की महिमा सर्वोपरि है।

अल्प और वितण्डा को छोड़कर वाद से सत्य का अनुसन्धान करने वाले पण्डितगण यदि जिज्ञासायुक्त होकर पुराण और महाभारतादि शास्त्रों की ऐतिहासिक रचना प्रणाली के साथ वर्तमान लौकिक इतिहास की रचनाप्रणाली की तुलनात्मक गवेषणा करेंगे, तो अवश्य ही निश्चय कर सकेंगे कि, प्राचीन ऐतिहासिक चरित्रवर्णन से कितना रचनात्मक और सब काल में समानरूप से स्थायी फल प्राप्त हो सकता है। बुधजन यदि विचारयुक्त होकर इस ग्रंथि की विचार प्रणाली की सहयोगिता से सनातन धर्म के पुराण और इतिहास शास्त्र का परिशीलन करेंगे, तो उनके सब प्रकार के संदेह दूर होकर महाभारत का महत्त्व उनके हृदयों में प्रतिफलित हो सकेगा। यदि

ज्ञानवान् सज्जन ज्ञानयुक्त होकर भारतद्वीप के महाभारत के महायुद्ध के पूर्व के इतिहास पर विचार करेंगे, तो इसी सिद्धांत पर पहुँचेंगे कि, भारतद्वीप ही वर्तमान जगत् का आदिगुरु कहा गया है। श्रद्धालु सज्जन यदि श्रद्धायुक्त होकर इस इतिवृत्त के बताये हुए मार्ग पर सनातन धर्म के शास्त्रों का अनुशीलन करेंगे, तो त्रिकालदर्शी पूज्यपाद महर्षियों के महत्त्व के समझने में उन्हें विलम्ब नहीं लगेगा। यदि नवीन और प्राचीन इतिहास के अध्ययन करने वाले निरपेक्ष विद्वानगण दूरदर्शिता के साथ सोचेंगे तो वे अवश्य ही प्राचीन ऋषि प्रणीत इतिहासों के रचनात्मक और स्थायी फल का अनुभव कर सकेंगे। यदि मनीषीगण योगयुक्त होकर इस ग्रंथ की प्रदर्शित प्रणाली के अनुसार देश और कालका विचार करेंगे, तो दोनों के अनाद्यनन्तत्व और महान् विस्तार का अनुभव प्राप्त कर सकेंगे। यदि योगिजन समाधिभूमि में पहुँचकर समाहित चित्त से विचार करेंगे, तो समाधिजनित ऋतम्भरा द्वारा कैसे पूज्यपाद महर्षिगण पुराण और इतिहासशास्त्र की रचना कर सकते थे, यह जान सकेंगे और भक्तियुक्त भक्तगण देश और काल के अनादित्व को विचार में रखकर ब्रह्मशक्ति के महाकाली रूप को ध्यान करते-करते आनन्दपूर्वक पढ़ेंगे।

संदर्भ

1. एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

—विष्णुभागवत

2. सूच्यग्रेण सुतीक्ष्णेन भिद्यते या च मेदिना।
   तदर्द्धनैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव।।

—महाभारत

3. गिरं समाधौ गगने समीरिता।
   निशम्य वैधास्त्रि दशानुवाच।।
   गां पौरुषी में शृणुतामराः पुन
   र्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम्।।
   पुरैव पंसावधृतो धराज्वरो
   भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम्।
   स यावदुर्व्याभरमीश्वरेश्वरः
   स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद्भुवि।।
   वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः।
   जनिष्यते तत् प्रियार्थ सम्भ्वन्तु सुरस्त्रियः।।
   वासुदेव कलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट्।
   अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया।।
   विष्णोर्माया भगवती यथा समोहितं जगत्।
   आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सम्भविष्यति।।

—विष्णुभागवत

4. अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा"
5. सत्यं भूतहितं प्रोक्तं न यथार्थाभिभाषणम्।

—भगवान् व्यासः

6. धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्म्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धरणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।।
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यत्स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।।
7. प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम।
अनृतां वा वदेद्वाचं न तु हिंस्यत् कथञ्चन।।
तत्रानतं भवेत् सत्यं सत्यञ्चाप्यनृतं भवेत।
सत्यानृते विनिश्चित्य ततो भवति धर्मवित्।।
8. यदा मानं लभते माननार्हस्तदा स वै जीवित जीवलोके।
यदावमानं लभते महान्तं तदा जीवन्मृत इत्युच्यते सः।।
त्वामित्यन्नभवन्तं हिं ब्रूहि पार्थं युधिष्ठिरम्।
त्वमित्युक्तो हि निहतो गुरुर्भवति भारत।।
9. अन्तरे चैव सम्प्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत्।
समन्तपञ्चके युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः।।

—*महाभारत*

10. नन्दाद्रीन्दु गुणास्तथा शकनृपस्यान्ते कलेर्वत्सराः।

—*सिद्धांतशिरोमणि।*

शाको नवागेन्दुकृशानुयुक्तः कलेर्भवत्यब्दगणो युगस्य।

—*ज्योतिर्मकरन्द।*

11. त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारतादाह वादितः।
सप्ताब्दशतयुक्तेषु गतेष्वब्देषु पञ्चसु।।
पञ्चशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चशतासु च।
समासु समतीतासु शकानामपिभूभुजाम्।।
12. हेमन्ते प्रथमे मासि शुक्लपक्षे त्रयोदशीम्।
प्रवृत्त भारतं युद्धं नक्षत्रे यमदैवते।।
अमावास्यान्तु मध्याह्न निहतः शल्य एव च।
अमावास्यान्तु सन्ध्यायां राजा दुर्योधनों हतः।।

—*भारतसावित्री*

13. वेशाखमामस्य तु या तृतीया नवम्यमो कार्तिकशुक्लपक्षे।
नभस्य मासस्य तमिस्रपक्षे त्रयोदशी, पञ्चदशी च माधे।।
पता युगाद्याः कथिताः पुराणैरनंतपुण्यास्तियज्ञतम्राः।

—*विष्णुपुराण।*

14. ऋष्ज्ञिभिश्च तदानीता धार्तराष्ट्रान् प्रति म्वयम्।
शिशवश्चाभिरूपाश्च जटिला ब्रह्मचारिणः।।
15. यस्मिन्नहनि भीमस्तु जज्ञे भरतसत्त्म!
दुर्योधनोऽपि तत्रैव प्रजज्ञे बहुधाधिप।

—*महाभारत*

16. पाण्डवानामिहायुष्यं शृणु कौरवनंदन।
जगामहास्तिनपुरं षोड्शाब्दो युधिष्ठिरः।।
भीमसेनः पञ्चदशो बीभत्सुर्वै चतुर्दशः।
त्रयोदशोब्दौ च यमौ जग्मतुर्नागामाह्वयम्।।
तत्र त्रयोदशाब्दानि धार्तराष्ट्रैः सहोषिताः।
षण्मासानूजातुषगृहान्मुक्ता जातो घटोत्कचः।।
षण्मासानेकचक्रायां वर्ष पाञ्चालके गृहे।
धार्तराष्ट्रैः सहोषित्वा पञ्चवर्षाणि भारत!।।
इन्द्रप्रस्थे वसन्तस्ते त्रीणि विंशतिम्।
द्वादशाब्दानथैकञ्च बभूवुर्द्यूतनिर्जिताः।।
भुक्त्वा षट्त्रिंशतं राजन्! सागरान्तां वसुन्धराम्।
मासैः षड्भिर्महात्मानः सर्वे कृष्णपरायणाः।।
राज्ये परीक्षितं स्थाप्य दिष्टां गातिमवाप्नुवन्।
एवं युधिष्ठिरस्यासीदायुर्ष्टोत्तरं शतम्।।

—महाभारत।

17. तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदं सजानतम्।
इतिहासमिमं चक्रे पुण्यं सत्यवतीसुतः।।
तेषु जातेषु वृद्धेषु गतषु परमां गतिम्।
अब्रवीत् भारत लोके मानुषेऽस्मिन्महानृषिः।।

—महाभारत

18. त्रिमिर्भर्षैर्महाभागः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत्।
नित्योत्थितः शुचिः शक्तो महाभारतमादितः।।

—महाभारत

19. परिश्रान्तो वयस्थश्च षष्ठिवर्षो जरान्वितः।
क्षुधितः स महारण्ये ददर्श मुनिसत्तमम्।।

—महाभारत

20. अवतार वर्णन।
श्रीदेवीभागवत के चतुर्थ स्कंधके सोलहवें अध्याय में लिखा है कि—
जनमेजय उवाच।
भृगुशापान्मुनिश्रेष्ठ! हरेरद्भुत कर्म्मणः।
अवताराः कथं जाताः कस्मिन् मन्वन्तरे विभो!।।1।।
विस्तराद्वद धर्म्मज्ञ! अवतारकथां हरेः।
पापनाशकरीं ब्रह्मञ्छूतां सर्व्वसुखावहां।।2।।
व्यास उवाच।
शृणु राजन्! प्रवक्ष्यामि अवतारान्हरेर्यथा।
यस्मिन्मन्वन्तरे जाता युगे यस्मिनधिप!।।3।।
येन रूपेण यत्कार्य्यं कृतं नारायणेन वै।
तत्सर्व्वं नृप वक्ष्यामि संक्षेपेण तवाऽधुना।।4।।
धर्म्मस्यैवावतारोऽभूश्चाक्षुषे मनुसम्भवे।
नरनारायणौ धर्म्मपुत्रौ ख्यातौ महीतले।।5।।

अथ वैवस्वताऽऽवख्येऽस्मिन्द्वितीये तु युगे पुनः।
दत्तात्रेयोऽवतारोऽत्रेः पुत्र क्रमगमद्धरिः।।6।।
ब्रह्मा विष्णुस्तथ रुद्रस्त्रयोऽमीदेवसत्तमः।।
पुत्रत्वमगमद्देवास्तस्यात्रेर्मार्य्य वृताः।।7।।
अनुसूयात्रिपत्नी च सतीनामुत्तमा सती।
यथ सम्प्रार्थिता देवाः पुत्रत्वमगमंखयः।।8।।
ब्रह्माऽभूत्सोमरूपस्तु दत्तात्रेयो हरिः स्वयम्।
दुर्व्वासा रुद्ररूपोऽपौ पुत्रत्वं वै प्रपेदिरे।।9।।
नृसिंहस्यावतारस्तु देवकार्य्यार्थसिद्ध थं।
चतुर्थ तु युगे जातो द्विधारूं मनोहरः।।10।।
हिरण्यकशिपोः सम्यग्वधाय भगवान् हरिः।
चक्रे रूप नारसिंह देवानां विस्मयप्रदम्।।11।।
वलेन्नियमनार्थाय श्रेष्ठे त्रेतायुगे तथा।
चकार रूपं भगवान्वामनं कश्यपान्मुनेः।।12।।
छलयित्वा मखे भूपं राज्यं तस्य जहार ह।
पाताले स्थापयामास वलिं वामनरूपधृक्।।13।।
युगचैकोनविंशेऽय त्रेताख्ये भगवान् हरिः।
जमदग्निसुतो जातो रामो नाम महाबलः।।14।।
क्षत्रियान्तकरः श्रीमान् सत्यवादी जितेन्द्रियः।
दत्तवान् मेदिनीं कृत्स्यां कश्यपाय महात्मने।।15।।
यो वै परशुरामाख्यो हरेरद्रुतकर्म्मणः।
अवतारस्तु राजेन्द्र! कथितः पापनाशनः।।16।।
त्रेतायुगे रंघावेशे रामो दशरथात्मजः।
नरनारायणांशौ द्वौ जातौ भुवि महाबलौ।।17।।
अष्टाविंशे युगे शस्तौ द्वापरेऽर्जुनशौरिणौ।
धराभारावतारार्थं जातौ कृष्णार्जुनौ भुवि।।18।।
कृतवन्तौ महायुद्धं कुरुक्षेत्रेऽतिदारूणं।
एवं युगे-युगे राजन्नवतारा हरेः किक।।19।।
भवन्ति वहवः कामं प्रकृतेरनुरूपतः।

—श्रीदेवीभागवत।

एवमेषा महाभागा मर्त्येष्वूत्पत्स्यते पुनः।
क्षेत्रे हलमुखोत्कृष्टे वेद्यमाग्निशिखोपमा।।
एषा वेदवती नाम पूर्वमासीत्कृते युगे।
त्रेतायुगमनुप्राप्य वधार्य तस्य रक्षसः।।
उत्पन्ना मैथिलकुले जनकस्य महात्मनः।।

—वा. रा., उत्तराकांड, सर्ग 17

❑ ❑ ❑



डॉ. (श्रीमती) प्रेरणा माथुर

पिताश्री : आचार्य मुक्तेश माथुर

माताश्री : श्रीमती चन्द्रकान्ति माथुर

जीवनसाथी : श्री राजीव माथुर

जन्मतिथि : 26.03.1969 (छब्बीस मार्च उन्नीस सौ उन्हत्तर)

जन्मस्थलि : सम्भल, मुरादाबाद (उत्तर प्रदेश)

राष्ट्रीयता : भारतीय

जाति : कायस्थ (हिन्दू)

सम्प्रति : प्राध्यापक, प्राच्य संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ (उ.प्र.)

शिक्षा : एम.ए. (संस्कृत), साहित्यरत्न (हिन्दी, संस्कृत, आयुर्वेद), नेट-जे.आर.एफ., पी-एच.डी.

शिक्षण अनुभव : पन्द्रह वर्ष

प्रकाशित ग्रन्थ : 04

सम्पर्क : डॉ. (श्रीमती) प्रेरणा माथुर 'श्री प्रभुकुंज', सेक्टर के-288, आशियाना कॉलोनी, लखनऊ-226012 (उत्तर प्रदेश)

दूरभाष : 09450056642